आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि विरचित

अलङ्कार महोदधि का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद युनिवर्सिटी

की

डी० फिल् (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

1994

निर्देशक
डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय
प्रोफेसर और अध्यक्ष संस्कृत विभाग
इलाहाबाद (उ० प्र०)

शोधार्थी
कामिनी पुरवार
शोध छात्रा (संस्कृत विभाग)
इलाहाबाद

विषय-सूची

अध्याय-4

रस निरूपण 84-106

अध्याय-5

काव्य दोष विवेचन 106-129

अध्याय-6

काव्य गुण विवेचन 130-142

अध्याय-7

शब्दालंकार विवेचन 143-162

अध्याय-8

अर्थालंकार विवेचन 163-269

भूमिका

अलकार शास्त्र लाक्षणिक साहित्य का प्रमुख अंग है। लक्ष्य ग्रथो के ज्ञान के लिये लाक्षणिक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। सस्कृत के प्रमुख आचार्यों का उद्देश्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का प्रतिपादन एव उनका उत्तरोत्तर विकास करना था, अत इसके लिये लक्ष्य ग्रथों का आधार ग्रहण किया गया।

अलकार शब्द का आधुनिक अर्थ अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारो के लिये ही सीमित हुआ है, किन्तु प्राचीन काल मे इसकी व्याप्ति कही अधिक थी। रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि सभी का अन्तर्भाव अलकार शब्द के अन्तर्गत होता था। प्राचीन परम्परा का निर्वहन करने वाले विद्वान् आज भी साहित्य-शास्त्र ग्रन्थो को अलकार ग्रन्थ तथा उसके अध्येता को आलकारिक कहते है। इस विधा के लिये अनेक नाम हुए—काव्यकल्प विधि, कल्पविधि, अलकारशास्त्र, साहित्य विधा तथा काव्यशास्त्र। प्रथम दो नाम अप्रचलित है। 'काव्यशास्त्र एवं अलकार' सगत एव उपादेय होने के कारण प्रचलित है।

अद्यावधि जितने भी अलकार शास्त्रो का शोधपरक दृष्टि से अध्ययन किया गया है उनमे जैनाचार्यों द्वारा रचित अलकार शास्त्र के ग्रन्थों की सख्या प्राय: स्वल्प ही है।

सस्कृत साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे जैनाचार्यो का विशिष्ट योगदान रहा है। सस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का सूक्ष्म अवलोकन एव छिद्रान्वेषण कर नवीन उद्भावनाओ के प्रस्तुतीकरण द्वारा जैनाचार्यो ने आगमकाल से लेकर परवर्ती काल तक पर्याप्त लिखा है। संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे उनकी सेवा महनीय है।

इसी परम्परा मे हर्षपुरीय गच्छ परम्परा के आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि हुये है, जिन्होने अलंकार सार से युक्त सर्वग्राह्य ग्रन्थ 'अलकार-महोदधि' ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

जिस गुर्जर प्रदेश को आचार्यों ने अपनी विद्वता से अलोकित किया उसकी ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परम्परा पर्याप्त समृद्ध तथा वैभवशाली रही है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने मन्त्रीश्वर वस्तुपाल की प्रेरणा से अलकार-महोदधि की रचना १२२५-२६ ई० मे की। 'अलंकार महोदधि' के अतिरिक्त आचार्य द्वारा विरचित अप्राप्य नाटक 'काकुत्स्थकेलि'; 'विवेकपादप' एवं 'विवेक कलिका' नामक जैनधार्मिक एवं दार्शनिक विषयो के दो संग्रह तथा दो वस्तुपाल प्रशस्तियाँ पायी जाती हैं। साथ ही गिरनार के वस्तुपाल के शिलालेख भी नरेन्द्रप्रभ द्वारा रचित है।

आचार्य की सर्वश्रेष्ठ कृति 'अलकार महोदधि' अलंकार विषयक ग्रन्थ है, जो आठ तरंगो मे विभक्त है। प्रथम मे, काव्यप्रयोजन काव्य हेतु आदि, द्वितीय मे शब्दवैचित्र्य, तृतीय मे ध्वनिनिर्णय, चतुर्थ मे गुणीभूत व्यग्य, पञ्चम मे दोष, षष्ठ मे गुण, सप्तम मे शब्दालकार तथा अष्टम तरग मे अर्थालकारो का सोदाहरण निरूपण हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर आचार्य मम्मट द्वारा प्रणीत 'काव्य प्रकाश' का प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य सूरि, आचार्य हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' से भी प्रभावित है। इसका मुख्य कारण सभवत: दोनो ही आचार्यो का एक ही प्रदेश और धर्म से सम्बद्ध होना है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को आठ अध्यायो मे विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय मे, आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय देते हुये, तत्कालीन सामाजिक तथा सास्कृतिक परिवेश पर प्रकाश डाला गया है। इसी सन्दर्भ में कालक्रम के अनुसार अलंकारशास्त्र पर जैनाचार्यो द्वारा तथा जैनेतर आचार्यो द्वारा रचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का भी परिचय दिया गया है। इन जैनाचार्यो मे वाग्भट्ट प्रथम, हेमचन्द्र शिष्य द्वय रामचन्द्र, गुणचन्द्र, वाग्भट्ट द्वितीय, नरेन्द्रप्रभसूरि एव भावदेवसूरि के नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि का भी सक्षिप्त परिचय प्रथम अध्याय मे वर्णित है।

द्वितीय अध्याय मे, काव्य की परिभाषा, प्रयोजन और हेतु का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। सस्कृत काव्य शास्त्र की असीमित काव्य परम्परा मे प्रचीन काल से ही काव्य लक्षण करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। प्राय: सभी आचार्यों ने काव्य स्वरूप का विवेचन किया है। प्राचीन काव्य लक्षण अर्वाचीन आचार्यो द्वारा निरन्तर परिमार्जित और परिष्कृत होते रहे हैं। नरेन्द्रप्रभसूरी ने आचार्य मम्मट को ही आदर्श मानकर काव्य परिभाषा प्रस्तुत की है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभ की काव्य प्रयोजन की परिभाषा हेमचन्द्राचार्य से पर्याप्त साम्य रखती है। इनकी काव्यप्रयोजन सम्बन्धी मान्यता वस्तुत: मम्मट और हेमचन्द्र दोनो से ही अनुप्राणित है।

भारतीय काव्याचार्यों ने इस प्रश्न का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन किया है कि कवि मे वह कौन-सी अद्भुत शक्ति है जिसके कारण वह सामान्य मानव होकर भी विलक्षण काव्यसृजन करने में समर्थ होता है। आचार्य सूरि प्रतिभा को काव्य का मुख्य हेतु स्वीकार कर व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका संस्कारक मानते हैं। प्रतिभा ऐसी शक्ति है जिसके होने पर कवि नवीन अर्थोद्भावना की शक्ति से सम्पन्न होता है और ऐसे अनेक विषयों का वर्णन कर सकता है जो अदृष्ट एवं अलौकिक हैं।

तृतीय अध्याय में, शब्दार्थ वैचित्र्य का सभेद निरूपण किया गया है। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में, सर्वप्रथम रस के स्वरूप का वर्णन किया गया है, फिर रस के भेद तथा इन नौ रसो में अन्य रसों का अन्तर्भाव किस प्रकार होता है इसका भी विवेचन किया गया है। इसके बाद स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव का वर्णन है, फिर रसादि अलंकार पर महोदधिकार का क्या मत है, इसका वर्णन है। पुन:

गुणीभूत-व्यंग्यकाव्य के भेदो का वर्णन है।

पञ्चम अध्याय मे, काव्यदोषो का विवेचन किया गया है, जिसके अन्तर्गत पद दोष, वाक्य दोष, उभयदोष, अर्थदोष एवं रसदोष का वर्णन है। पुन: आचार्य मम्मट से तुलना की गयी है , तथा कुछ दोषो को दोष न मानकर आचार्यवर ने उन्हे गुणाभाव माना है। इन सभी का तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

छठे अध्याय मे, काव्यगुणो का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। इन्होने भी मम्मट की ही भॉति तीन गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वीकार किये है।

सप्तम अध्याय मे, शब्दालकार का वर्णन है।

अष्टम अध्याय मे, अर्थालकार का वर्णन है। अन्त मे अलकार दोषो का वर्णन है। जिसका वर्णन मम्मट की ही भॉति किया गया है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने ६१ अर्थालकारो का ही वर्णन किया है, जबकि महोदधिकार ने ७० अर्थालकारो का वर्णन किया है। सामान्यत मम्मट का अनुसरण करते हुये भी ग्रन्थकार ने अलंकारो की योजना भिन्न रीति से की है, अर्थात् उपमा के स्थान पर अतिशयोक्ति से उसका प्रारम्भ करते हुए अतिशयोक्ति को समस्त अलकारो का प्राणभूत कहा है।

मम्मट के अतिरिक्त जिन ९ अलकारो का वर्णन नरेन्द्रप्रभ ने किया है उनके नाम है—उल्लेख, परिणाम, विकल्प, अर्थापत्ति रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि और समाहित । रसवदादि अलकार सिद्धान्तत: ग्रन्थकार को स्वीकृत नही, फिर भी उन्होने अपने सर्वग्राही निरूपण मे इन अलंकारो को इसलिये समाहित किया है क्योकि कुछ अन्य अलंकारशास्त्रियों ने इन्हें मान्यता प्रदान की है।

सामान्य निरूपण में मम्मट का अनुसरण करते हुये भी ग्रन्थकार का वर्णन अधिक उपविभागो एवं नव्यदृष्टान्तो से युक्त है।

ग्रन्थ का नाम 'अलंकार-महोदधि' होने के कारण इसके आठो अध्यायों को आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'तरंग' नाम से अभिहित किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे 'अलंकार-महोदधि' का आलोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। महोदधिकार विशेषरूप से काव्यप्रकाशकार मम्मट और हेमचन्द्राचार्य से प्रभावित है ; अत: काव्यप्रकाश तथा काव्यानुशासन में उक्त काव्य विधाओ का क्या स्वरूप है तथा नरेन्द्रप्रभसूरि की मान्यताओ से क्या साम्य है, इन्हीं सबका तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

गुरुजनो और इष्टमित्रो के आशीर्वचन, सहयोग एव शुभकामनाये समष्टि रूप से किसी परिश्रम साध्य उपलब्धि को सार्थकता प्रदान करते है। मुझे अपने मित्रो और गुरुजनो से भी सदैव इस शोध कार्य को पूर्ण करने के लिए 'प्रेरणा और उत्साह' मिलते रहे हैं।

मैं अपने पितृतुल्य निर्देशक परमपूज्य अभिवन्दनीय डॉ० सुरेशचन्द्र जी पाण्डेय, अध्यक्ष संस्कृत विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति आभार प्रकट करती हूँ, जिनकी कृपा और अपार स्नेह से यह गुरुतर कार्य सम्पन्न हुआ। आपने शोध शीर्षक स्वीकृति से लेकर शोध प्रणयन मे अपने विस्तृत ज्ञान और सुदीर्घ अनुभव से शोधार्थी का मार्ग प्रशस्त किया तथा शोधार्थी के किकर्तव्यविमूढ़ मनोबल को प्रेरणा दी है। शोधार्थी उनके स्नेहपूरित प्रोत्साहन तथा सहज सहयोग के प्रति साभार प्रणत है।

इस शोध प्रबन्ध की सरचना मे जिन ग्रथो, शोधलेखो तथा समीक्षित आलोचको के मतो के प्रस्तुतीकरण के लिये जिन पुस्तको से प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग लिया गया है उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मै पुनः अपने गुरुवर मार्ग निर्देशक परमश्रद्धेय डॉ० सुरेशचन्द्र जी पाण्डेय को नमन करते हुये अपनी इस 'भूमिका' की लेखनी को पूर्ण विश्राम देती हूँ।

शोधार्थी

कामिनी पुरवार

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रथम अध्याय

नरेन्द्रप्रभसूरि—व्यक्तित्व एवं कृतित्व

किसी भी राष्ट्र या जाति का वास्तविक इतिहास उसका साहित्य है। साहित्य ही समाज की तत्कालीन चिन्ताओ, धारणाओ, भावनाओ, आकांक्षाओ का समुचित चित्र हमारे समक्ष उपस्थित करता है। भारत की प्राचीनतम ज्ञानधारा संस्कृताश्रित रही है। प्राचीन भारत की आत्मविद्या, इसका दार्शनिक विवेक और विचारो की महिमा तथा गरिमा सर्वस्वीकृत है।

प्राचीन भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष का जितना सुन्दर, सजीव और विलक्षण सौन्दर्य का प्रतीकात्मक रूप सस्कृत साहित्य मे उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीन भारत विज्ञान, विद्या तथा कला-कौशल मे भी प्रवीणता और पराकाष्ठा की सीमा पर था। इस दृष्टि से सस्कृत साहित्य का गौरवशाली अतीत स्वर्णमयी प्रतिभा का प्रतिबिम्ब है। ऐसी अमर भारती अद्यावधि पर्यन्त अपनी चारुता और बहुमुखी विचित्रता के कारण ज्ञान का आधारभूत स्रोत बनी हुई है।

सस्कृत साहित्य को अपना अमूल्य योगदान प्रदान करनेवाली दो भिन्न पर समानान्तर धाराएँ प्रवाहित हुई, एक जैन धर्ममतावलम्बी तथा दूसरी बौद्ध धर्मानुसारिणी। अपनी धार्मिक विशिष्टताओ को अक्षुण्ण बनाये हुए भी जैन तथा बौद्ध आचार्यों ने धर्म, दर्शन, व्याकरण, साहित्य आदि अनेक लौकिक विषयो पर अपने विचारों को संग्रहात्मक रूपता प्रदान करते हुए विविध सस्कृत ग्रंथो का निर्माण किया। ज्यों-ज्यो साहित्य शास्त्र का विकास होता गया वैसे ही साहित्य विवेचना की प्रक्रिया का शुभारम्भ हुआ।

रचनात्मक विशिष्टता के साथ ही आलोचनात्मक वैशिष्ट्य मे भी भारत की परम्परा प्राचीन तथा अग्रणी है। इन समीक्षात्मक ग्रंथो को लाक्षणिक ग्रथो के नाम से अभिहित किया गया। काव्य में शरीर-रूपी शब्दार्थ का विवेचन, काव्य की आत्मा, गुण, दोष, काव्य का सर्वागीण विवेचन इन ग्रथो मे उपलब्ध होता है।

सस्कृत वाङ्मय मे लाक्षणिक साहित्य का अपना पृथक् अस्तित्व है क्योकि इसके बिना लक्ष्य ग्रंथो का अध्ययन और ज्ञानार्जन अपूर्ण है। अलकारशास्त्र लाक्षणिक साहित्य का प्रमुख अग है। अलंकार शब्द का आधुनिक अर्थ अनुप्रास, उपमा आदि अलकारो के लिए ही सीमित हुआ है, किन्तु प्राचीन काल में इसकी व्याप्ति कही अधिक थी। रस, रीति, गुण, अलकार आदि सभी का अन्तर्भाव अलंकार शब्द के अन्तर्गत होता था।

प्राचीन परम्परा के पण्डित आज भी साहित्यशास्त्र के ग्रथो को अलकार ग्रथ तथा उसके अध्येता को

आलकारिक कहते है।[1] अभी तक जितने भी अलकारशास्त्रो का शोधदृष्टि से अध्ययन किया गया है, उनमे जैनाचार्यो द्वारा रचित अलंकारशास्त्रो की गणना प्राय: नगण्य ही है। अलकारशास्त्र पर आगमकाल से लेकर परवर्तीकाल तक जैनाचार्यो द्वारा काफी-कुछ लिखा जाता रहा। सस्कृत काव्यशास्त्र मे जैनाचार्यो का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

इसी परम्परा मे हर्षपुरीय गच्छ परम्परा के आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का नाम विशेपत उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपने गुरु नरचन्द्रसूरि की आज्ञानुसार, महामात्य वस्तुपाल के प्रीत्यर्थ अलंकारसार से युक्त सर्वग्राह्य ग्रंथ 'अलकार महोदधि' की रचना की।[2]

इसका लेखन काल वि०स० १२८० (ई०सन् १२२३) है।[3] इनकी स्वोपज्ञ टीका का लेखन-काल वि०स० १२८२ (ई०सन् १२२५) है। इस प्रकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का समय १३ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है।[4]

जिस गुर्जर प्रदेश को आचार्य ने अलंकृत किया, उसकी ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परम्परा काफी समृद्ध तथा वैभवशाली रही है।

भगवान कृष्ण ने जहाँ द्वापर युग मे द्वारिका की स्थापना करके उस प्रदेश को विशेष गौरव प्रदान किया।

ऐतिहासिक काल मे भी गुजरात विद्या-प्रचार का बड़ा केन्द्र रहा। वल्लभी शिक्षा का महान् केन्द्र थी, जहाँ ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन संस्कृति फल-फूल रही थी।

वल्लभी राजाओ के समय से सस्कृत साहित्य को समृद्ध करने मे गुर्जर देश की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

वल्लभी के जैनाचार्यों में मल्लवादी नाम के एक महान् आचार्य थे।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सिद्धहेम व्याकरण में मल्ल को श्रद्धांजलि देते हुए उन्हें नैयायिको मे अग्रणी कहा है।[5]

वल्लभीपुर के समान ही पाटनगर श्रीमाल भी ब्राह्मण और जैन ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र था। श्रीमाल पुराण के अनुसार यहाँ एक हजार ब्रह्मशालाएँ और चार हजार मठ थे जहाँ ज्ञान-विज्ञान विभिन्न शाखाओ मे पढ़ाया जाता था।

श्रीमाल मे जैन विद्या भी बहुत प्रचार में थी। सिद्धर्षि की सुप्रसिद्ध उपमितिभव-प्रपंचकथा भी लेखक के ही कथनानुसार वि०सं० ९६२ अर्थात् ९०६ ई० मे यहाँ समाप्त हुई थी।

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, श्री जे०टी० देशपाण्डे।

२. अलंकार महोदधि—प्रारम्भिक प्रशस्ति १/१७/१८, १/१९।

३ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५।

४ अलंकार महोदधि ग्रन्थान्त प्रशस्ति ११।

५ अनुमल्लवादिनं तार्किकाः—सिद्धहेम की वृहद् टीका।

इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से प्रमाणित होता है कि जैनदर्शन के अनेक ग्रन्थ, भारतीय विभिन्न दर्शनो का परिचायक ग्रन्थ 'षड्दर्शन समुच्चय', लम्बी प्राकृत धर्म कथा 'समराइच्चकहा', उपहास तथा 'धूर्ताख्यान', अनेक धार्मिक प्रकरण और अनेक आगमो की सस्कृत टीका के रचयिता श्री हरिभद्रसूरि की प्रवृत्तियो का एक नगर श्रीमाल भी था। वे ही कदाचित् प्रथम जैनाचार्य है, जिन्होने मूल प्राकृत सूत्रो पर सस्कृत टीकाएँ लिखी। इससे श्रीमाल की साहित्यिक जीवन प्रवृत्ति का दिग्दर्शन स्पष्ट रूप से होता है तथा कालान्तर मे श्रीमाल ही अणहिलवाड़-पाटण का निकटतम प्रेरक आदर्श हुआ था।

अणहिलवाड़-पाटण मे गुजरात साम्राज्य स्थापना के अनन्तर उत्तर गुजरात के प्रदेश मे विशेषरूप से जैन विद्वानो और कवियो की महान् साहित्यिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है।

प्राप्त सभी प्रमाणो से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न सभी सम्प्रदायो के कवि और भाषाविद् देश के विभिन्न मार्गों से गुर्जर देश की राजधानी मे आ चुके थे। जैन सम्प्रदाय के विद्वानो के विषय मे भी कहा जा सकता है कि उन्होने काव्य रचना, व्याकरण और भाषा-विज्ञान, दर्शन मे निपुणता और न्याय मे प्रवीणता द्वारा अपने उच्चकोटि के ज्ञान की धारा प्रवाहित की।

विदेशी मुस्लिम आक्रमण के कारण गुजरात की शान्ति कुछ काल के लिए बुरी तरह गड़बड़ा गयी थी, परन्तु फिर भी सामान्य साहित्यिक सस्कृति लगातार समुन्नत होती रही। तर्क, लक्षण और साहित्य मे कुछ ऐसे विषय हैं, जो भारत की बौद्धिक प्रवृत्तियो के साधारण क्षेत्र हो गये थे और इन तीनो को गुजरात के जैन साहित्यिको ने विद्यात्रयी कहकर विशेष परिचय दिया।

साहित्य-साधना के इतिहास मे हेमचन्द्र जैसा प्रतिभा का बहुमुखी व्यक्तित्व विरल है। वे ऐसे अत्यन्त चतुर और उर्वर ग्रन्थकार थे, जिन्होने कवि और विद्वान् दोनो ही रूपो से अत्यन्त भिन्न-भिन्न विषयो पर रचनाएँ की थी। वे केवल जैन ग्रन्थो के लेखक ही नही थे। अपितु, साथ-साथ व्याकरण, कोश, छन्द और काव्य जैसी लौकिक विधाओ पर भी कितने ही ग्रन्थो का उन्होने प्रणयन किया और इसी कारण वे 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहे जाने लगे।

हेमचन्द्र का जन्म ईसवी सदी १०८८ मे गुजरात प्रान्त के धुन्धुका ग्राम मे वैश्य वश मे हुआ था।

हेमचन्द्र ने अपनी सेवा और साधना से विद्वत्परम्परा की सर्जना की।

गुजरात के राजाओ मे सर्वोत्कृष्ट, स्मरणीय सिद्धराज जयसिह (१०९४-११४३ ई०) और जयसिह के उत्तराधिकारी कुमारपाल (११४३-११७४ ई०) से हेमचन्द्र को अत्यन्त सम्मान मिला। इन राजाओ ने हेमचन्द्र को जैसा उन्मुक्त आश्रय दिया वह अन्य किसी के लिये ईर्ष्या का कारण हो सकता है।

हेमचन्द्र की समूची साहित्य चिन्ता 'काव्यानुशासन' मे सग्रहीत है। इनका काव्यशास्त्र विषयक-ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। सूत्र भाग का नाम काव्यानुशासन, वृत्तिभाग का नाम अलकार चूड़ामणि तथा उदाहरण भाग का नाम विवेक है। इसमे आठ अध्याय हैं। प्रथम मे काव्य के उद्देश्य, हेतु आदि ; द्वितीय मे रस , तृतीय मे दोष ; चतुर्थ मे गुण , पचम मे शब्दालकार ,

षष्ठ मे अर्थालकार ; सप्तम मे नायक और नायिका के गुण तथा प्रकार , तथा अष्टम मे दृश्य और श्रृव्य काव्य के भेदोपभेदो तथा लक्षणो का निरूपण हुआ है।

काव्यानुशासन के अतिरिक्त इनके ग्रन्थ सिद्ध शब्दानुशासन, वादानुशासन, धातुपरायण, छदोनुशासन, द्वयाश्रय महाकाव्य, सप्तसन्धान महाकाव्य, त्रियष्टिशलाकापुरुषचरित्र, प्रमाण मीमांसा आदि है।

हेमचन्द्र के अनेक योग्य शिष्य थे, उनमे से मुख्य है, प्रख्यात नाटककार और नाट्यदर्पण नामक ग्रन्थ के लेखक रामचन्द्र, गुणचन्द्र—'जिन्होने 'नाट्यदर्पण' के लिखने मे रामचन्द्र को सहयोग दिया,' वर्धमानगणि, महेन्द्रसूरि, देवचन्द्रमुनि, यशचन्द्रगणि आदि।

रामचन्द्र और गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण चार विवेको मे विभक्त है। इसमे कारिकाएँ और उन पर ग्रन्थकारो की विवृत्ति है। इसमे दशरूपकों के अतिरिक्त दो संकीर्ण भेदो—नाटिका और प्रकरणी का भी निरूपण हुआ है।

इस युग के अन्य वर्णनीय व्यक्तियो मे से एक है वाग्भटालंकार के कर्ता वाग्भट। जैनाचार्य वाग्भट (प्रथम) जयसिह सिद्धराज के मन्त्री थे। इनका प्राकृत नाम बाहड था और इनके पिता का नाम सोम था।

वाग्भटालंकार मे पॉच परिच्छेद है। इसमे काव्यफल, काव्योत्पत्ति, काव्य शरीर, दोष, गुण, अलंकार और रस के विषय मे संक्षेप मे विचार किया गया है। तत्कालीन सस्कृत नाटको मे दो और गणनापात्र नाटक है, एक तो, प्रह्लादनदेव का 'पार्थपराक्रमव्यायोग (समय लगभग ११७० ई०) और दूसरा, यशपाल का 'मोहराजपराजय नाटक' (११७४ के आसपास)।

गुर्जर देश के मुख्य-मुख्य साहित्यिको और साहित्यिक कृतियो का यह सक्षिप्त विवरण है।

कुमारपाल के जीवन के अन्तिम दिनो ही मे गुजरात की शक्ति का ह्रास होने लगा था।

गुर्जर प्रदेश के अभ्युदय की पराकाष्ठा जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल के समय मे दिखायी दी और पॉच शताब्दी से अधिक काल तक स्थिर रही।

१२ वी शताब्दी मे पाटिलपुत्र, कान्यकुब्ज, वल्लभी, काशी, उज्जयिनी आदि समृद्धशाली नगरो की उदात्त स्वर्णिम परम्परा में गुजरात का गौरव वीरधवल बाधेला के राज्यकाल और उनके मंत्रीद्वय वस्तुपाल और तेजपाल के समय मे फिर से चमक उठा।

गुजरात का सामान्य सांस्कृतिक जीवन बड़ा उच्च था। राज्य सचालित विद्या मठो के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के चैत्य और मठ भी वास्तव मे अकादमी और विद्यालय ही थे जहॉ विद्यायत्री और तत्सम्बन्धी विषयो की शिक्षा दी और विवेचना की जाती थी।

गुजरात ही कदाचित् भारतवर्ष का ऐसा प्रान्त है कि जहॉ के प्राग्वाट, श्रीमाल आदि जातियो के वणिक भी विद्वान् थे। उन्होने संस्कृत और प्राकृत मे नाटक और काव्य ही नही रचे थे अपितु अलंकार और दर्शन जैसी साहित्य की शाखाओ पर भी ग्रन्थ की रचनाएँ की थी। राजा विद्वानो को आश्रय देते थे और उनके दरबार मे काव्य, अलंकार और विद्वन्मण्डलियो के वाद हुआ करते थे।

संस्कृत साहित्य की दृष्टि से गुजरात के इतिहास मे दो शानदार युग माने जाते है पहला, हेमचन्द्राचार्य का समय सन् १०८८ से ११७३ ई० तक तथा दूसरा युग महामात्य वस्तुपाल का।

महामात्य वस्तुपाल और तेजपाल दोनो ही धवलक के राजा वीरधवल के मत्री थे।

वस्तुपाल विद्या के महान् पोषक और पुजारी थे।

कला और साहित्य के मर्मज्ञ वस्तुपाल और तेजपाल दोनो का धवलक और अणहिलवाड़ के राज-दरबार में बड़ा प्रभाव था, वे अपनी महान् दानशीलता द्वारा प्रेरित सास्कृतिक प्रवृत्तियो के कारण ही विख्यात और स्मरणीय हैं। उन्होने गुजरात मे ऐसी सांस्कृतिक परम्परा और जागृति को जन्म दिया जो महान् विद्वान् हेमचन्द्र के दिनो का स्मरण दिलाती हैं।

प्रबन्धों के अनुसार वस्तुपाल ने शत्रुंजय और गिरनार की तीर्थ यात्राएँ तेरह बार की थी।

विद्या और साहित्य के आश्रयदाता वस्तुपाल ने अणहिलवाड़, स्तम्भतीर्थ और भृगुकच्छ इन तीनो स्थानो पर बड़े-बड़े पुस्तक भण्डार स्थापित किये थे। उनका निजी पुस्तक भण्डार भी बड़ा ही समृद्ध था और उसमे सभी प्रमुख शास्त्रों की एक से अधिक प्रतियाँ थी।

काव्य और कला मर्मज्ञ होने के साथ ही साथ वस्तुपाल लोगो को अपने शिक्षण और आनन्द के लिये धार्मिक और साहित्यिक कृतियाँ लिखने की प्रार्थना भी किया करते थे।

नरचन्द्रसूरि का 'कथारत्नाकर' और नरेन्द्रप्रभसूरि का 'अलंकार महोदधि' उनकी ही प्रार्थना पर रचे गये थे।

उनका अवकाश का अधिकांश समय साहित्यकारो की संगति मे ही बीतता था। अपने नरनारायणनन्द महाकाव्य (सर्ग १६, श्लोक ३६) मे स्वय ही वस्तुपाल ने कहा है कि वह कवियों और पण्डितो के सानिध्य मे इसलिए इतना समय बिता सका है क्योकि उसका अनुज तेजपाल राज्य कार्यभार भली प्रकार सँभाल लेता है।

वस्तुपाल को 'कवि कुंजर' और 'कवि चक्रवर्ती' कहा गया है एवं सरस्वती के धर्मपुत्र के रूप में उनका कीर्तन किया गया। नरेन्द्रप्रभसूरि के गुरु नरचन्द्रसूरि से उन्होने न्याय, व्याकरण और साहित्य इन तीनों विधाओ का तथा जैनशास्त्र का भी अध्ययन किया था। उनका कवि उपनाम 'बसन्तपाल' था।

साहित्यिक सामग्रियों से ये ज्ञात होता है कि वस्तुपाल सूक्तियाँ रचने में भी प्रवीण थे। वस्तुपाल ने सोलह सर्गों में नरनारायणनन्द नामक महाकाव्य रचा जिसमे अर्जुन और कृष्ण की मैत्री, रैवतक उपवन मे उनका विचरण और अन्त में कृष्ण की बहन सुभद्रा का अर्जुन द्वारा हरण का वर्णन है।

नरनारायणनन्द के अन्त में वस्तुपाल कहते है कि शत्रुंजय गिरि के श्री आदीश्वर भगवान के दर्शन से प्राप्त नैसर्गिक प्रेरणा से रचित स्रोत उनकी सबसे पहली कविता थी। वस्तुपाल का आदिनाथ स्रोत ही तो यही है। वस्तुपाल ने नेमिनाथ स्रोत, अम्बिकास्रोत आदि अनेक स्रोत और दस गाथा की एक छोटी-सी आराधना भी रची है।

साहित्य और जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे इतने उत्कृष्ट कोटि के कार्यो को पूर्ण करने वाले, महान् व्यक्तित्व के धनी वस्तुपाल की प्रशंसा मे नरेन्द्रप्रभसूरि ने निम्न श्लोक कहा है जिसमे उसकी सभी ओर की सफलता का सार आ गया है—

'त्यागाः कुड्मलयन्ति कल्पविटपित्यागक्रिया पाटवं काम काव्यकलापि कोमलयति द्वैपायनीयं वच। बुद्धिर्धिक्कुरुते च यस्य धिषणां चाणक्यचिन्तामणे. सोऽय कस्य न वस्तुपालसचिवोत्तसः प्रशंसास्पदम्॥'[1] इस प्रकार वस्तुपाल राजनीतिक और शासक होने के साथ-साथ महान् साहित्यिक भी थे।

मध्ययुगीन गुजरात की सास्कृतिक और साहित्यिक विद्वत्परम्परा को समझने के लिये वस्तुपाल के विद्या मण्डल की प्रवृत्तियो का अध्ययन, उस युग के सांस्कृतिक जीवन पर पूरा-पूरा प्रकाश डालती है।

गुजरात के चौलुक्य राजाओ के वशपरम्परागत गुरु सोमेश्वरदेव वस्तुपाल के अतरग मित्र और उनके आश्रित कवियो में प्रधान थे। इनकी मुख्य रचना 'सुरथोत्सव' महाकाव्य मारकण्डेय पुराण के देवी माहात्म्य पर आधारित है। 'कीर्तिकौमुदी' वस्तुपाल के गौरवपूर्ण कृत्यो का प्रशसात्मक महाकाव्य है। सोमेश्वरदेव ने रामायण की कथा को नाटक का रूप देनेवाला 'उल्लाधराधव' नामक एक नाटक भी लिखा था।

इनके अतिरिक्त सोमेश्वर ने 'कर्णामृतप्रपा' नाम से सुभाषित संग्रह की रचना की है। राम की स्तुति मे लिखा १००·श्लोको का रामशतक भी सोमेश्वर की कृति है। वस्तुपाल के गिरनार के लेखो मे से दो लेखो के श्लोकांश भी सोमेश्वर रचित हैं।

उस युग की साहित्यिक प्रमुख विभूतियो मे से एक हरिहर भी थे। प्रबन्धकोश के अनुसार हरिहर 'नैषधचरित' के कर्त्ता श्री हर्ष (लगभग ११४४ ई०) के ही वंशज थे। कीर्तिकौमुदी मे किये गये सोमेश्वर के वर्णन के अनुसार हरिहर एक विख्यात कवि थे। सम्भव है कि हरिहर ने कोई रचना की हो जो अप्राप्य है।

नानाक भी सोमेश्वर और हरिहर की भाँति विद्वान् ब्राह्मण थे। वे राजा बीसलदेव के राजकवि थे और वस्तुपाल के भी सम्पर्क मे आये।

नानाक की कोई भी साहित्यिक कृति प्राप्त नही है। जबकि प्रशस्तियो मे उनके काव्य की सफलता के विषय मे बहुत कुछ कहा गया है।

जैनधर्म अनुयायी और वणिक जाति के यशोवीर वस्तुपाल के घनिष्ठ मित्र थे।

प्रबन्धों में उद्धृत यशोवीर की कविताओं से प्रतीत होता है कि वे एक गुणी सस्कृत कवि थे। सोमेश्वरकृत कीर्तिकौमुदी में उनकी तुलना कालिदास और माघ से की गयी है, परन्तु यशोवीर की कोई भी कृति आज तक प्राप्त नही हुयी है।

वस्तुपाल के विद्यामण्डल से सम्बद्ध सुभट के विषय में अधिक जानकारी नही मिलती है।

---

१. अ० म० पृ० २।

वस्तुपाल के प्रिय अरिसिह की काव्यकृतियो मे उत्कृष्टतम है महाकाव्य 'सुकृत-सकीर्तन' जो कि उन्होने अपने आश्रयदाता वस्तुपाल के सुकृतो को चिरस्मरणीय करने के लिए लिखा।

मध्यकालीन सस्कृत साहित्य के इतिहास मे अमरचन्द्र सूरि एक प्रख्यात व्यक्ति है। 'बालभारत' एव 'काव्य-कल्पलता' उनकी अनन्यतम प्रसिद्धि का हेतु है।

वस्तुपाल के विद्यामण्डल के अन्य सदस्यो मे विजयसेनसूरि, उदयप्रभसूरि, जिनप्रभ, नरचन्द्रसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, बालचन्द्र, जयसिंहसूरि, माणिक्यचन्द्रसूरि आदि थे। अलंकार महोदधिकार नरेन्द्रप्रभसूरि के गुरु नरचन्द्रसूरि हर्षपुरीय गच्छ के देवप्रभसूरि के शिष्य थे। नरचन्द्रसूरि वस्तुपाल के मातृपक्ष से गुरु थे। वस्तुपाल इनको बहुत मानते थे। इन्होने ही वस्तुपाल को तीनो विधाये—न्याय, व्याकरण, साहित्य और जैनशास्त्र पढ़ाये थे।

न्याय, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष इन चारो मे पूर्ण निष्णात नरचन्द्र प्रकाण्ड विद्वान् थे। न्याय मे श्रीधर की न्यायकन्दली पर विद्वत्तापूर्ण टिप्पणी, व्याकरण का प्राकृत व्याकरण प्रबोध नामक महानिबन्ध, साहित्य मे मुरारि के अनर्घराघव पर टिप्पणी और ज्योतिष में जैन फलित ज्योतिष का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ज्योतिःसार इनके द्वारा लिखित है।

एक वस्तुपाल प्रशस्ति तथा वस्तुपाल के गिरनार के लेखो के दो पद्याश भी नरचन्द्र द्वारा रचित है।

यह भी कहते है कि नरचन्द्र ने अपने गुरु देवप्रभसूरि रचित पाण्डव-चरित और उदयप्रभसूरि के धर्माभ्युदय का संशोधन भी किया था जैसा कि इन दोनों ग्रन्थो के अन्त मे कहा गया है।

महामात्य वस्तुपाल और उनके साहित्यमण्डल एव उनकी कृतियो द्वारा गुजरात की तत्कालीन सास्कृतिक और साहित्यिक परम्परा का समृद्धशाली रूप हमारे समक्ष उपस्थित है।

एक बार वस्तुपाल ने श्रद्धापूर्वक करबद्ध हो नरचन्द्रसूरि से कहा कि 'अलंकार के कुछ ग्रन्थ ग्रहण करने में दुर्बोध हैं क्योकि वे बहुत लम्बे हैं तो दूसरे बहुत छोटे होने से पूर्णतया स्पष्ट नही हैं। दूसरे कुछ ग्रन्थों मे विषयान्तर की भी बहुत बाते हैं और वे कठिनता से समझे जा सकते हैं अतः अलंकारसार से युक्त मुझे ऐसे शास्त्र का ज्ञान कराइये जो साधारण बुद्धि वाला भी समझ सके।'[१] यह सुनकर आचार्य ने अपने शिष्य नरेन्द्रप्रभसूरि को ऐसा ग्रन्थ रचने का आदेश दिया और उन्होने वस्तुपाल के प्रीत्यर्थ 'अलंकारमहोदधि' की रचना कारिका और वृत्ति सहित की। राजशेखरसूरि ने न्यायकन्दलीपञ्जिका प्रशस्ति में नरेन्द्रप्रभसूरि को 'अलंकारमहोदधि का कर्त्ता

---

१. तन्मे नातिसविस्तरं कविकला सर्वस्वगर्वोद्धुरं शास्त्रं ब्रूत किमप्यनन्यसदृशं बोधाय दुर्मेधसाम्।
इत्यभ्यर्थनया प्रतीतमनसः श्रीवस्तुपालस्य ते श्रीमन्तो नरचन्द्रसूरिगुरवः साहित्यतत्त्वं जगुः॥ १८
तेषां निदेशादथ सद्गुरुणां श्रीवस्तुपालस्य मुदे तदेतत्।
चकार लिप्यक्षरसंनिविष्टं सूरिर्नरेन्द्रप्रभनामधेयः॥ १९
काव्यालंङ्कारसूत्राणि स्वानि किञ्चिद् विवृण्महे।
तन्मनस्तन्मयीकृत्य विभाव्यं कोविदोत्तमै.॥ २० प्रस्तावना अ० म०।

बताया है।[१] यह ग्रन्थ रचयिता के कथनानुसार वि०स० १२८२-१२२६ ई० मे रचा गया था।[२] आचार्य के रचना स्थान का निर्देश कही भी उपलब्ध नही होता है। नरेन्द्रप्रभसूरि की अलकार महोदधि के अतिरिक्त काकुत्स्थकेलि, विवेकपादप, विवेककलिका तथा दो वस्तुपाल प्रशस्ति भी पायी जाती है। इसके साथ ही गिरनार के वस्तुपाल के एक शिलालेख के श्लोक भी नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा रचित है। आचार्य के सुभाषित सग्रहो से ज्ञात होता है कि उनका कवि उपनाम 'विबुधचन्द्र' था।

'काकुत्स्थकेलि' एक नाटक था और उसका ग्रन्थमान १५०० श्लोक था। इसकी कोई प्रति अद्यावधि मिली नही है।

सुभाषित और सूक्ति के रूप मे जैन मनीषियों की प्राकृत और सस्कृत मे अनेक रचनाएँ मिलती है। जैन विद्वानो ने सदाचार और लोकव्यवहार का उपदेश देने के लिए स्वतत्र रूप से अनेक सुभाषित पदों का निर्माण किया है। विवेक पादप और विवेक कलिका नैतिक सूक्ति काव्य के रूप मे जैन धार्मिक और जैन दार्शनिक विषयो के दो सुभाषित संग्रह है।

विवेकपादप के अन्तिम पत्र के अक से ज्ञात होता है कि पूर्ण-ग्रंथ मे ४२१ श्लोक होने चाहिए परन्तु उपलब्ध पत्रो मे केवल २०९ श्लोक ही प्राप्त है।

इसी प्रकार विवेक कलिका मे ११० श्लोक होने चाहिये परन्तु हस्तलिखित प्रति मे मात्र ६९ ही मिलते है।

विवेक पादप का उपलब्धाश सब अनुष्टुप छंद मे है। इसकी प्रशस्ति के दो श्लोक ही भिन्न छद मे हैं, एक शार्दूलविक्रीडित और दूसरा बसन्ततिलका। पक्षान्तर में दूसरा ग्रन्थ भिन्न-भिन्न वृत्तो का है।

लेखक ने दोनो ही ग्रन्थों को जैनधार्मिक बनाने का प्रयास किया है परन्तु उसमें अधिकाश श्लोक शील, सदाचार, सद्भाव और मानवीय गुणों से ओत-प्रोत सरल और मर्मस्पर्शी हैं।

उदाहरणार्थ मानवीय जीवन मे अनुकम्पा कितनी अमूल्य है, उस पर उनका विचार सम्प्रेषणीय है—

दयादयितयाशून्ये मनोलीलागृहे नृणाम्।
दानादिदूताहुतोऽपि धर्मोऽयं नावतिष्ठते॥ —*विवेक पादप, श्लोक २४*

अपने गुरु की स्तुति में वह कहते हैं कि—

दिनं न तपनं विना न शशिनं विना कौमुदी श्रियो न सुकृतं विना न जागती विना विक्रमम्।
कुलं न तनयान्विना न समतां विना निर्वृतिर्गुरूश्च न विना नृणां भवति धर्मतत्त्वश्रुतिः॥
गुरुश्च? —*विवेक कलिका, श्लोक १२*

---

१. तस्य गुरोः प्रियशिष्यः प्रभुनरेन्द्रप्रभ प्रभावाढ्यः।
योऽलङ्कारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिच ।—राजशेखरसूरि

२. अलङ्कारमहोदधि के अन्तिम श्लोक में ग्रन्थ का रचनाकाल दिया गया है—नयन-वसु-सूर (१२८२) वर्षे निष्पन्नाया. प्रमाणमेतस्याः। अजनि सहस्त्र चतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पञ्चशती॥ इस श्लोक से ग्रन्थ का प्रमाण ४५०० श्लोक ज्ञात होता है।

सत्य बोलने पर कितनी सुन्दर सूक्ति कही गयी है—

विवेकस्य प्राणाः श्रुतरसरहस्यं शुभधिय प्रकार· प्राकार· सुचरित पुरस्योन्नततर. ।
गुणानां जीवातु. प्रशमदमसन्तोषनिकषः सुखश्री पल्लयंको वचनमनलोकं सुकृतिनाम् ॥
—विवेक कलिका, श्लोक ३९ ।

ज्ञान को श्रद्धांजलि इस प्रकार भेट करते है मानो ज्ञान ही ईश्वर है।—

किं कृत्यं किमकृत्यमेव किमुपादेयं च हेयं च किं देवः कश्च गुरुश्च कः किमथवा तत्त्वं कुतत्त्वंचकिम् ।
संसारश्च क एव मुक्तिरपि केत्येवं यतः सर्वतो निश्चीयेत विवेकिभिर्भगवते ज्ञानाय तस्मै नमः ॥
—विवेक कलिका, श्लोक ८०

प्रशस्ति या गुणकीर्तन संस्कृत साहित्य की एक अत्यन्त रोचक शैली है क्योकि अलकारिक शैली के काव्य मे लिखे जाने पर भी इनके विषय ऐतिहासिक व्यक्ति होते है।

आदर्श प्रशस्ति रचना सीधी एवं सरल होती है। मगलाचरण या आशीर्वचन के पश्चात् उसमे स्थापत्य निर्माता या दाता का वृतान्त दिया जाता है।

गुजरात और राजस्थान मे, विशेषतया वहाँ के जैनो मे एक विशेष प्रकार की प्रशस्ति प्रचार मे थी और वह थी ग्रन्थ प्रशस्ति अर्थात् पुस्तकान्त मे स्तुतिगाथा। जैन लेखक अपनी कृतियो के अन्त मे बहुधा बहुत लम्बी प्रशस्तियाँ दिया करते थे और इनमे वे अपने-अपने गुरु और अपने गच्छ के सम्बन्ध मे भी बहुत कुछ लिख देते थे।

सस्कृत साहित्य के विकास मे अपना अमूल्य योगदान करने वाले बाधेला वंशीय राजा वीरधवल के महामात्य वस्तुपाल की अनेक प्रशस्तियाँ आज उपलब्ध है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि की भी दो वस्तुपाल प्रशस्तियाँ है। नरेन्द्रप्रभसूरि की लम्बी वस्तुपाल प्रशस्ति १०४ श्लोक वाली ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रथम पद्य मे जिन एवं महादेव की श्लेषमय स्तुति है। इसके बाद श्लोक २-१२ मे चौलुक्य वश के राजाओ की कीर्ति गायी गयी है। तदनन्तर श्लोक १३-१७ मे बाधेला वश की और १८-२४ मे वस्तुपाल के पूर्वजो और उनके निजगुणों के विषय मे श्लोक संख्या २५-२८ मे कहा गया है। श्लोक २९ मे कहा है कि वस्तुपाल ने धर्म मे अपना मन लगा दिया। ३०-३१ श्लोक मे उनकी तीर्थयात्राओ का वर्णन है। इसके बाद ९८ श्लोक तक वस्तुपाल द्वारा जीर्णोद्धार कराये गये मन्दिरो, धर्मशालाओ आदि की सूची दी गयी है। श्लोक ९९-१०४ नगेन्द्रगच्छ के आचार्यो के सम्बन्ध मे है, जिनका वस्तुपाल अनुयायी था। इन्ही मे प्रशस्ति रचयिता एवं उनके गुरु का वर्णन है।

नरेन्द्रप्रभसूरि की दूसरी वस्तुपाल प्रशस्ति ३७ श्लोको की मिलती है इसमे राजा वीरधवल, तेजपाल और वस्तुपाल की प्रथानुकूल कीर्ति का ही बखान किया गया है। इसमें किसी भी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नही है। सस्कृत साहित्य के अनेक रचयिताओ की परम्परा का निर्वाह करते हुए ही नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने पूर्वजो और अपने विषय में कुछ भी सूचना नही दी है।

आचार्य की सर्वोच्च कृति 'अलंकार महोदधि' अलकार विषय ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर काव्य प्रकाश की छाया प्रतीत होती है। मम्मट के सर्वोत्कृष्ट ग्रथ काव्य प्रकाश का अनुकरण करते हुए, इस ग्रन्थ की रचना कारिका और वृत्ति मे हुयी। काव्यप्रकाश १० (दस) अध्यायो मे विभक्त है। परन्तु नरेन्द्रप्रभ ने गुजरात के पूर्वज जैनाचार्य हेमचन्द्र का अनुसरण करते हुए काव्यप्रकाश के सम्पूर्ण विषय को ८ (आठ) अध्यायो मे ही समाहित किया है। कारिकाये अनुष्टुप छद मे है और प्रत्येक अध्याय का अन्तिम श्लोक भिन्न छंद मे है। कारिकाओ की कुल सख्या २९६ है। ग्रन्थ का नाम 'अलकार महोदधि' होने से अध्यायों को भी 'तरंग' कहा गया है। प्रशस्ति श्लोक मे आचार्य नरेन्द्रप्रभ ये स्वीकार करते है कि उन्होने ये रचना विद्वानो के चित्तविनोदार्थ अपने गुरु द्वारा दिये गये व्याख्यानो को सुनकर अपनी व्युत्पत्ति के लिये की है।

नरेन्द्रप्रभ द्वारा इस ग्रन्थ की मौलिकता का कोई दावा नही किया है जो उनकी अभिमानशून्यता का परिचायक है। ग्रन्थ की प्रस्तावना मे नरेन्द्रप्रभ कहते हैं कि ऐसी कोई भी बात नही है जिस पर अलकारशास्त्री पूर्वाचार्यों ने विवेचन नही किया हो अतः यह रचना उनकी उक्तियो का चयन मात्र ही है। अलंकारमहोदधिकार ने काव्यप्रकाश के विषय को, उसके वैज्ञानिक संगठन मे हस्तक्षेप किये बिना ही ऐसा सरल और व्यापक कर दिया है कि यही विशिष्टता ही इस ग्रन्थ का गुण बन गयी। लेखक ने कुछ आनुषंगिक बाते भी इसमें जोड़ दी हैं जो काव्यप्रकाश मे प्राप्त नही है। इससे इस ग्रन्थ का आकार भी बहुत विस्तृत हो गया है। अलंकार महोदधि मे प्राचीन अलंकार ग्रन्थो से और साधारण सस्कृत साहित्य से भी अनेक नवीन दृष्टान्त दिये गये हैं जो उनकी व्यापक दृष्टिकोण का द्योतक है।

मम्मट के दृष्टान्तो की संख्या ६०२ है और अलंकार महोदधि मे यही संख्या बढ़कर ९८२ हो गयी है, इस कारण यह ग्रन्थ अधिक पठनीय हो गया है। नरेन्द्रप्रभ ने काव्यप्रकाश के दस अध्यायो के विषयो के साथ अपने ग्रन्थ के आठ ही अध्यायो मे बराबर न्याय कर दिया है। काव्यप्रकाश का दूसरा और तीसरा अध्याय अलंकार महोदधि के दूसरे ही अध्याय मे आ गये हैं और छठे अध्याय का विषय बिल्कुल ही छोड़ दिया गया है। इस प्रकार दो अध्यायो की बचत कर ली गयी है।

अलंकार महोदधिकार मम्मट से इतना ज्यादा प्रभावित है कि कितने ही स्थलों पर उसकी कारिकाएँ और वृत्ति कश्मीरी गुरु के शब्दों और उद्धरणों से ओत-प्रोत है। महोदधिकार पर हेमचन्द्र के काव्यानुशासन का प्रभाव भी कुछ कम नही है। काव्य की परिभाषा मम्मट की अपेक्षा हेमचन्द्र की काव्य परिभाषा से ज्यादा साम्य रखती है। लेखक ने काव्यानुशासन की अलंकार चूड़ामणि तथा विवेक दोनों टीकाओं से अनेक दृष्टान्त लिए है।

इस प्रकार ये स्पष्ट है कि अलंकार महोदधि पर काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन का अतिसूक्ष्मता से अनुसरण है हालाँकि उसमे विषय सामान्यतया अनुपूरित, व्यापक और सरलीकृत ही हुआ है।

इसके साथ ही अलंकार महोदधि की अपनी कुछ विशिष्टताएँ है जो इसे काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से पृथक् सिद्ध करती है। उदाहरणस्वरूप काव्यप्रकाश मे ६१ अर्थालंकारो का समावेश किया गया है, और काव्यानुशासन मे ३५ का जबकि अलकार महोदधि मे ७० अर्थालंकारो का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

इसी प्रकार काव्यप्रकाश मे कुल ६०३ उदाहरण ही प्रस्तुत किये गए है और अलकार महोदधि मे ९८२ दृष्टान्त है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य विशेषताओ का उल्लेख आगे किया गया है।

वृत्ति के प्रारम्भ मे, परम ज्योति की प्रार्थना करने के पश्चात् लेखक ने अपने गुरुओ की गुर्वावलि और अपने आश्रयदाता का वशवृक्ष दिया है।

'प्रयोजनकारणस्वरूपभेदनिर्णय' नामक प्रथम तरग मे नरेन्द्रप्रभ ने सामान्य काव्य की परिभाषा एवं प्रयोजन बताया है और उसके तीनो भेदों यथा—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और अवर की व्याख्या की है। दूसरे अध्याय का शीर्षक है 'शब्दवैचित्र्य वर्णन' और उसका विषय है शब्दो की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना। 'ध्वनि निर्णय' नामक तीसरे तरंग मे अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना अथवा ध्वनि पर सविस्तार वर्णन किया गया है।

ध्वनि के विषय पर उन्होंने काव्यप्रकाश का अनुसरण तो किया है, परन्तु भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ ध्वन्योत्पादन मे कितना योगदान करती हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए अनेक नवीन दृष्टान्त दिये गए है।

रस सम्बन्धी अंश काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास से पूरा-की-पूरा वैसा ही ले लिया गया है। ग्रन्थकार ने व्यञ्जना या इंगित संज्ञा के ३९ भेद किये है और फिर उनके संकर, ससृष्टि आदि भेदो को लेकर ६,१२३ भेद किये हैं, जबकि काव्यप्रकाश मे इन भेदो की संख्या १०,४५५ बताई गयी है। अन्त मे ग्रन्थकार कहते है कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है और वह अलंकार्य होने के कारण स्वयं ही अलकार नही बन सकती जैसा कि कुछ अलंकारशास्त्रज्ञ कहते है। अलंकार महोदधि का तृतीय तरग काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास का एक लम्बा और सरलीकृतरूप है, इस प्रकार कह सकते हैं। 'गुणीभूतव्यंग्यप्रदर्शन' नामक चतुर्थ तरंग ध्वनि के गौण प्रभेद पर ही आधारित है और 'दोषव्यावर्णन' नाम का पञ्चम तरंग काव्य दोषो का अति विस्तार पूर्वक विवेचन करता है। इस तरंग मे कितनी ही कारिकाओ और उसकी वृत्ति की वाक्यरचना पर मम्मट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, यही नहीं, कही-कही तो वह अक्षरश: उद्धृत कर दिया गया है। छठे तरंग का शीर्षक है 'गुणनिर्णय' इसमें काव्य के तीनों गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद का सोदाहरण वर्णन किया गया है। यहाँ पर भी मम्मट का ही अनुकरण किया गया है। सप्तम 'शब्दालंकार' नामक तरंग मे भी मम्मट का प्रभाव देखा जा सकता है। मगर फिर अधिक उपविभागों के साथ नवीन दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है।

अन्तिम 'अर्थालंकार' नामक तरंग मे भी सामान्यतया मम्मट का ही अनुसरण किया गया है परन्तु अलंकार की संख्या ज्यादा है मम्मट ने ६१ और ग्रन्थकार ने ७० अलंकारो का विवेचन किया है। ग्रन्थकार ने अलंकारों की योजना भी भिन्न रीति से की है अर्थात् उपमा के स्थान पर उसका प्रारम्भ अतिशयोक्ति से किया है।

रसवत् आदि अलंकार यद्यपि ग्रन्थकार को सिद्धान्त रूप से स्वीकार नही है परन्तु फिर अपने सर्वग्राही निरूपण में उन्हे इसलिये सम्मिलित किया गया है कि कुछ अन्य अलंकारशास्त्रियों ने उन्हे स्वीकृत कर लिया है।

सरल और शास्त्रीय पद्धति से भावो के उपविभाजन एवं परिभाषण तथा बहुदृष्टान्तीकरण से ग्रन्थकार ने अपना यह ग्रन्थ परम वैज्ञानिक और रुचिकर बना दिया है। 'अलंकार महोदधि' ग्रन्थ हेमचन्द्र और दोनो वाग्भट्टों के पश्चात् जैनाचार्यों की अलंकार शास्त्र पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

नरेन्द्रप्रभसूरि के अलकार महोदधि पर सविस्तार चर्चा के पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र एव उसका विकास तथा इसमे महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाले अलकारिको पर विचार करना आवश्यक है। भारतीय वाड्मय मे काव्यशास्त्र का महत्त्व सर्वथा अतुलनीय है।

संस्कृत मे साहित्य शास्त्र के लिये काव्य शास्त्र, अलकारशास्त्र, पञ्चमी विधाशास्त्र और क्रिया कल्प शब्दो का प्रयोग किया जाता है। विद्वानो की धारणा है कि क्रिया कल्प शब्द इनमें से सबसे प्राचीन है।

जैसे-जैसे साहित्य शास्त्र का विकास होता गया वैसे ही काव्य चर्चा की पद्धति मे निरन्तर परिवर्तन होता गया। साहित्य शास्त्र में विकास की पॉच अवस्थाऍ दर्शायी गयी है।

भरत का 'नाट्य शास्त्र' काव्य चर्चा मे 'क्रिया कल्प' की अवस्था को दर्शाता है। भरत से दण्डी तक की अवधि काव्य चर्चा की दूसरी अवस्था है। इस काल मे काव्य चर्चा नाट्य के अग के रूप मे न होकर स्वतंत्र होने लगी थी। सम्भवत: इस काल में काव्य चर्चा को 'काव्य लक्षण' कहते थे।

भामह दण्डी से लेकर रुद्रट तक का काल विकास की तीसरी अवस्था है। इस काल मे काव्य के अलंकार, गुण, रस आदि अंगों का स्वरूप विशद होता गया। काव्यगत सौन्दर्यधर्म के लिये इस काल मे 'अलंकार' शब्द रूढ़ हो गया। काव्य चर्चा के इस काल मे 'काव्यालंकार' शब्द का प्रयोग हुआ। इसके अनन्तर आनन्दवर्धनाचार्य से लेकर मम्मट तक के काल की अवस्था है। काव्य चर्चा के विकास मे ये उत्कर्ष काल था। इस काल मे ही काव्यालकार का साहित्य शास्त्र मे रूपान्तर हुआ।

काव्य रूपी अमृत का उद्गम साहित्य रूपी समुद्र से माना गया।

मम्मट के पश्चात् उनके द्वारा बताये गये मार्ग का ही उत्तरवर्ती ग्रंथकारो ने अनुसरण किया। मम्मट के पश्चात् नई रीति से इस पर विचार हुआ हो ऐसा प्रतीत नही होता है। हालाँकि इस काल के अन्तिम ग्रंथकार जगन्नाथ ने पुनर्विचार का प्रयास किया किन्तु शैली मम्मट की ही थी।

संस्कृत के प्रमुख आचार्यों का उद्देश्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का प्रतिपादन एवं उनका उत्तरोत्तर विकास करना था। इसके लिये उन्होने लक्ष्यग्रंथो का आधार ग्रहण करते हुए प्राय: उदाहरण भी इन्ही ग्रन्थों से प्रस्तुत किये हैं, यद्यपि दण्डी, जयदेव और जगन्नाथ जैसे प्रसिद्ध आचार्यों ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये किन्तु ऐसे आचार्यों की संख्या कम ही है।

संस्कृत का काव्यशास्त्र काव्य तथा नाटक से सम्बन्ध सिद्धान्तो का एक अमर, अजर कोश है। इस शास्त्र का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है, जिसके प्रणेता आदि आचार्य भरत को माना जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की अत्यन्त सशक्त एवं प्रौढ़ परम्परा है जो भरत से लेकर जगन्नाथ तक अबाधगति से प्रवाहमान रही है।

आद्याचार्य भरत को सभी विद्वानो ने महान् प्रतिभाशाली आचार्य एवं युगविधायक महापुरुष के रूप में स्वीकार किया है। इनका ग्रन्थ न केवल काव्यशास्त्र का प्रत्युत भारतीय सांस्कृतिक, साहित्य एवं काव्यशास्त्र का विश्वकोश है।

नाट्यशास्त्र अपने विषय का महनीय ग्रन्थ है, जिसका विषय विवेचन अत्यन्त विपुल एव व्यापक है। यद्यपि इसके नाम से ऐसा आभास होता है कि इसमे मुख्यत: नाटक के ही नियमो का विवेचन होगा, किन्तु इसमे नाट्यनियमो के साथ-साथ उससे सम्बद्ध सभी विषयो का विवेचन है।

भारतीय काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास भामह कृत 'काव्यालंकार' से आरम्भ होता है। काव्यालकार के कुल छह परिच्छेदो मे—प्रथम मे, काव्य प्रयोजन, कवित्व प्रशसा, काव्य हेतु, प्रतिभा का स्वरूप आदि का विवेचन है।

द्वितीय परिच्छेद मे, तीन गुणो तथा अलकारो का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद मे, भी अलंकारो का ही वर्णन है। चतुर्थ मे काव्यभेदों का वर्णन, पंचम मे ११ दोष तथा उनका परिहार विवेचन है। छठे परिच्छेद मे शब्द शुद्धि विषयक शिक्षाएँ वर्णित हैं, जिनका सम्बन्ध काव्य की अपेक्षा व्याकरण से अधिक है।

भामह के बाद आ० दण्डी उल्लेखनीय है। इन्होने 'काव्यादर्श' नामक लक्षणग्रन्थ की रचना की। इसमे तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मे काव्यविषयिणी उद्भावनाये प्रस्तुत की गयी है यथा, काव्यस्वरूप, भेद, काव्य कारण आदि का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में अर्थालंकारो का निरूपण है। 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद मे यमकालंकार का सविस्तार वर्णन कर उसके ३१५ भेदो का वर्णन किया गया है। इसके बाद चित्रालंकार एवं प्रहेलिका का सभेद विवेचन है एवं दस प्रकार के काव्यदोषो का वर्णन है।

अलंकार सम्प्रदाय के तृतीय प्रसिद्ध समर्थक आचार्य उद्भट्ट है। इनका एक मात्र ग्रथ 'काव्यालंकारसार-संग्रह' उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ मुख्यत. अलकार विषयक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ छह वर्गो मे विभक्त है। जिसमे ७९ कारिकायें हैं।

रीतिसम्प्रदाय नामक काव्य सिद्धान्त के उन्नायक आचार्यवामन का स्थान भारतीय काव्याचार्यों मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन्होने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की। 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' सूत्र शैली मे लिखित 'भारतीय काव्यशास्त्र' का प्रथम ग्रन्थ है। यह पॉच अधिकरणों मे विभक्त है, जिसके तीन विभाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। प्रत्येक अधिकरण अध्यायो मे विभक्त है। जिनकी संख्या बारह है। सम्पूर्ण अध्यायो की संख्या ३१९ है।

वामन के बाद रुद्रट का नाम आता है। इनका 'काव्यालंकार' काव्यशास्त्र का अत्यन्त प्रौढ़ ग्रंथ है। इसमे १६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्यप्रयोजन एवं काव्य हेतु ; द्वितीय अध्याय में काव्य लक्षण, शब्द भेद, वृत्ति एवं अनुप्रास अलंकार का वर्णन है। इसके अन्य अध्यायों में भी काव्यविषयक सामग्री का सविस्तार वर्णन है। इनके प्रथम तीन अध्यायों मे शृगार रस एवं नायक-नायिका भेद का तथा पचदश: अध्याय मे शृंगारेतर सभी रसो का विवेचन किया गया है। षोड्श अध्याय मे विभिन्न काव्य रूपो महाकाव्य, महाकथा, आख्यायिका, लघुकाव्य आदि की चर्चा की गयी है।

रुद्रभट्ट ने 'शृंगारतिलक' नामक रस एवं नायिकाभेद सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना की है। इसमे तीन परिच्छेद है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के आकाश मे काव्यशास्त्र के विलक्षण प्रतिभासम्पन्न, ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक

आचार्य आनन्दवर्धन का उदय नवम शती मे होता है। भारतीय काव्यचिन्तन का प्रकाश स्तम्भ ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' आचार्य आनन्दवर्धन का युग प्रवर्तक ग्रन्थ माना जा सकता है। 'ध्वन्यालोक' अपनी प्रौढ़ता, मौलिकता तथा भारतीय चिन्तन पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त के रूप मे विद्वज्जनो के द्वारा शताब्दियो द्वारा समादृत रहा है। 'ध्वन्यालोक' का प्रणयन कारिका एव वृत्ति के रूप मे हुआ है। ध्वन्यालोक चार उद्योतो मे विभक्त है। प्रथम उद्योत मे ध्वनिविरोधी मतो की समीक्षा की गयी है तथा विरोधी मतों की सम्यक् परीक्षा एवं आलोचना करने के पश्चात् ध्वनि या व्यञ्जना की स्वतत्र सत्ता का उद्घोष किया गया है।

द्वितीय उद्योत मे ध्वनि के भेदो का निरूपण, रस का स्वरूप, अलकारो से ध्वनि का भेद तथा गुणो का विवेचन है। तृतीय उद्योत मे विस्तारपूर्वक ध्वनि के भेदो का विवेचन किया गया है तथा प्रसंगवश रीति एव वृत्ति का भी निरूपण हुआ है। चतुर्थ उद्योत मे कवि प्रतिभा की अनन्तता, ध्वनि सिद्धान्त की व्यापकता तथा गुणीभूतव्यग्य का वर्णन है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक द्वारा ध्वनि प्रस्थापन के क्षेत्र मे अक्षय कीर्ति अर्जित की।

ध्वनिमत के विरोध मे इसी समय आचार्य मुकुल भट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' लिखी। इनके सिद्धान्तो का खण्डन आगे चलकर अभिनवगुप्त और मम्मट आदि ने किया।

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक टीका द्वारा ध्वनिसिद्धान्त का प्रौढ़ता और पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन किया है। इसी युग में आचार्य राजशेखर भी आविर्भूत हुये। इनकी प्रौढ़ तथा परिपक्व रचना 'काव्य मीमांसा' बहुत से नवीन काव्यशास्त्रीय विषयो की मीमासा है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य नाटककार, कवि तथा साहित्यशास्त्री भी थे।

सम्प्रति उपलब्ध 'काव्य मीमांसा' मे १८ अध्याय है। इनकी काव्यविशेषता यह थी कि इन्होने किसी सम्प्रदाय विशेष से अपना सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास नहीं किया था। काव्यशास्त्र को व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्ही को है।

ध्वनि, रस वक्रोक्ति आदि के विरोधी आचार्य भी समय-समय पर अपने प्राणवान् स्वर का परिचय देते रहे हैं।

ऐसे आचार्यों में भट्टनायक और महिमभट्ट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके लिखे हुए क्रमशः 'हृदय दर्पण' और 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ हैं। हृदय दर्पण अब प्राप्त नही है।

भट्टनायक रसवादी होते हुये भी ध्वनि-विरोधी थे। उन्होने ध्वनिसिद्धान्त के उन्मूलन के लिये ही 'हृदय दर्पण' की रचना की थी।

अप्रतिम प्रतिभा सम्पन्न आचार्य अभिनवगुप्त के सामने इन आचार्यो की कुछ न चली। कुछ दिनो बाद आचार्य क्षेमेन्द्र हुये। इन्होने औचित्य नामक एक नवीन सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना की। इनकी 'औचित्यविचार चर्चा' एक प्रौढ़ रचना है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्यात्मभूत सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। इनके अनुसार, 'उचित का भाव ही औचित्य है।'

इसी समय के आसपास आचार्य भोज हुए। इनके काव्यशास्त्र विषयक दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है—'सरस्वतीकण्ठाभरण' एवं 'शृगार प्रकाश।' 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे, पॉच परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद मे दोष और गुणो का वर्णन है। द्वितीय मे २४ शब्दालकार , तृतीय मे अर्थालकार तथा ; चतुर्थ मे २४ उभयालकारो का सोदाहरण विवेचन किया गया है। पञ्चम परिच्छेद मे रस, नायिका भेद, नायक भेद, पञ्चसन्धि एव ४ वृत्तियो का वर्णन है।

इस युग मे कई प्रसिद्ध नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। आचार्य अभिनवगुप्त रचित अभिनव-भारतीय टीका, आचार्य सागरनन्दिन कृत लक्षण रत्नकोष और आचार्य धनञ्जय कृत दशरूपक तथा रामचन्द्र विरचित नाट्यदर्पण के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सस्कृतकाव्य शास्त्र के गौरवपूर्ण स्तम्भ वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट की अनुपमेय निधि 'काव्य प्रकाश' अपने विषय की महनीय कृति के रूप मे समादृत है। इन्होने शताब्दियो से प्रवाहमान काव्यशास्त्रीय विवेचन का सार उपस्थित कर उसे व्यवस्थित किया तथा अनेक भ्रान्तियो का निराकरण कर उसे नवीन दिशा प्रदान की।

इस युग मे होने वाले आचार्यो मे समन्वय और सामञ्जस्य विधान की नई प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। काव्यप्रकाश अलकारशास्त्र के इतिहास मे एक लोकप्रिय रचना रही है। मम्मट की विद्वता और काव्यप्रकाश की लोकप्रियता स्पष्ट प्रतीत होती है, क्योकि संस्कृत मे ही लगभग ७५ टीकाएँ उपलब्ध हैं। इन टीकाकारो मे माणिक्यचन्द, सोमेश्वर सरस्वती तीर्थ, जयंत आदि उल्लेखनीय है। गीता को छोड़कर मध्ययुग के किसी भी ग्रन्थ की इतनी टीकाएँ नही लिखी गयी हैं।

यह लक्षण ग्रन्थ परवर्ती लेखक एवं आलोचको के लिए उपजीव्य ग्रन्थ है। यह काव्य विषयक अनेक विचारधाराओं का आविर्भाव स्थल भी है।

मम्मट का काव्यप्रकाश अपने पूर्ववर्ती भामह, आनन्दवर्धन, उद्भट, रुद्रट, वामन एवं अभिनवगुप्त के ग्रन्थों के आधार पर ही बना है, फिर भी मम्मट में विचारस्वातन्त्र्य है, यथावसर मम्मट ने इन विद्वानों के मतों का खण्डन-मण्डन किया है।

काव्यप्रकाश अलंकार शास्त्र के इतिहास में सर्वागपूर्ण समन्वयवादी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का महत्त्व विभिन्न विरोधी सिद्धान्तो के समन्वय मे है।

ध्वनि मार्गानुसारी काव्यप्रकाश दस उल्लासों मे विभक्त है। इसमे १४२ कारिकाये हैं। इसके तीन अंश है—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इसके प्रथम उल्लास मे, काव्यप्रयोजन, काव्य हेतु, काव्यस्वरूप एवं काव्यभेद का वर्णन है। द्वितीय एव तृतीय उल्लास में, शब्दशक्तियो का तथा चतुर्थ उल्लास में, ध्वनि एवं रस का विवेचन है। पंचम मे, गुणीभूत व्यंग्य एवं व्यञ्जना का प्रतिपादन है। षष्ठ मे, शब्द एवं अर्थ चित्र का वर्णन है। सप्तम उल्लास मे, काव्यदोषो का एवं अष्टम मे, गुण निरूपण है, नवम में, शब्दालंकार तथा दशम में, अर्थालंकार का विवेचन किया गया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास क्रम के इस तृतीय युग में, कुछ अलकारवादी आचार्य भी मिलते हैं इनमें

'अलंकार सर्वस्व' के रचयिता रुय्यक, काव्यानुशासन के प्रणेता हेमचन्द्र, चन्द्रालोक के कर्ता जयदेव और कुवलयानन्द के लेखक अप्पयदीक्षित का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस युग के रस सम्प्रदाय के पोषक आचार्यो में रस-तरगिणी और रस मञ्जरी के लेखक भानुदत्त, साहित्यदर्पण के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ, उज्ज्वल नीलमणि के रचयिता रूपगोस्वामी और रसगंगाधर के नाम विशेषरूप से दिये जा सकते है।

इस तृतीय काल मे बहुत से नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे गये थे। इनमे शारदातनय विरचित भावप्रकाश, विद्यानाथ रचित प्रतापरुद्रीय, सुगोपालरचित रसार्णव सुधाकर, रूपगोस्वामी लिखित नाटक चन्द्रिका तथा नाट्यसर्वस्वदीपिका विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकार संस्कृत में नाट्य एव काव्यशास्त्र का विस्तृत और व्यापक साहित्य सरक्षित है।

मम्मट परवर्ती प्राय: सभी आचार्यो पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है। इन सभी आचार्यों ने काव्य के प्राय: सभी अगो को अपने ग्रन्थो में समाविष्ट किया।

संस्कृत काव्यशास्त्र मे योगदान करने वाले कुछ जैनाचार्यो का परिचय सक्षिप्त रूप से अध्याय के प्रारम्भ मे ही दिया जा चुका है।

जैनाचार्यों ने न केवल धार्मिक और उपदेशात्मक साहित्य का सृजन किया अपितु उन्होने साहित्य की उन विविध विधाओं और ज्ञान की उन विविध शाखाओं पर भी लेखन कार्य किया जिनका धर्म और उपदेश से कोई भी सम्बन्ध नही था। जैन साहित्य प्राचीन भारतीय वाङ्मय का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। दर्शन, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी विषयो पर जैनाचार्यों द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की सूक्ष्मपरीक्षा कर अनेक नवीन उद्भावनायें प्रस्तुत करने में जैनाचार्यो का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

१२ वीं शताब्दी मे वाग्भट कृत वाग्भटालकार। काल की दृष्टि से वाग्भट-प्रथम हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती हैं, किन्तु वाग्भट-प्रथम की अपेक्षा आचार्य हेमचन्द्र को अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुयी, अत: कुछ विद्वानों ने आचार्य हेमचन्द्र को पूर्व में स्थान दिया और वाग्भट-प्रथम को पश्चात् में।

बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न आचार्य हेमचन्द्र की साहित्य साधना अत्यन्त विशाल और व्यापक है। सूत्रात्मक शैली में रचित 'काव्यानुशासन' हेमचन्द्र का अलंकार विषयक एकमात्र ग्रन्थ है। हेमचन्द्र ने अलकार शास्त्र में सर्वप्रथम नाट्य विषयक तत्वो का समावेश कर एक नवीन परम्परा का प्रणयन किया। काव्यानुशासन आठ अध्यायो में विभक्त है।

हेमचन्द्र के बाद उनके शिष्यद्वय का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। इनका 'नाट्य दर्पण' नाट्य विषयक प्रामाणिक एवं मौलिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ चार विवेकों मे विभाजित किया गया है।

ग्रन्थ मे दो भाग पाये जाते हैं। प्रथम कारिकाबद्ध मूलग्रन्थ और द्वितीय उसमे लिखी गयी स्वोपज्ञ विवृत्ति।

'नाट्य दर्पण' के बाद अमरचन्द्रसूरि का 'काव्यकल्पलता वृत्ति' कवि शिक्षा के लिये सर्वोपरि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे अमरचन्द्रसूरि ने कविपद की इच्छा रखने वालो के लिये प्रारम्भ मे होने वाली कठिनाइयो से बचने के लिये कवि शिक्षा पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

इनके बाद आलकारिक ग्रन्थो मे विजयवर्णी का शृंगारार्णवचन्द्रिका का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अजितसेन का 'अलकार चिन्तामणि' तथा वाग्भट-द्वितीय (१४ वी शती) का 'काव्यानुशासन' भी अलकारविषयक ग्रंथो की ही श्रेणी मे आते है। १५ वी शती के आचार्य भावदेव सूरि का 'काव्यालकारसार-संग्रह' भी अत्यन्त सरस एव सरल है। ८ (आठ) अध्यायो मे विभक्त ये ग्रथ सक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण है।

कालक्रम के अनुसार तो नरेन्द्रप्रभसूरि का स्थान (१३ वी शती का उत्तरार्द्ध) रामचन्द्र, गुणचन्द्र के बाद आता है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के विषय मे पहले ही काफी विस्तार से परिचय दिया जा चुका है। नरेन्द्रप्रभसूरि हर्षपुरीयगच्छ परम्परा के आचार्य थे।

मलधारिगच्छीय आचार्यो की कृतियो एव अन्य स्रोतो से प्राप्त सूचनाओ के आधार पर हर्षपुरीयगच्छ की गच्छाधिपति और सूरि परम्परा की सूची दी जा सकती है। इसका वर्णन नरेन्द्रप्रभसूरि ने अलकार महोदधि की प्रस्तावना मे भी किया है—
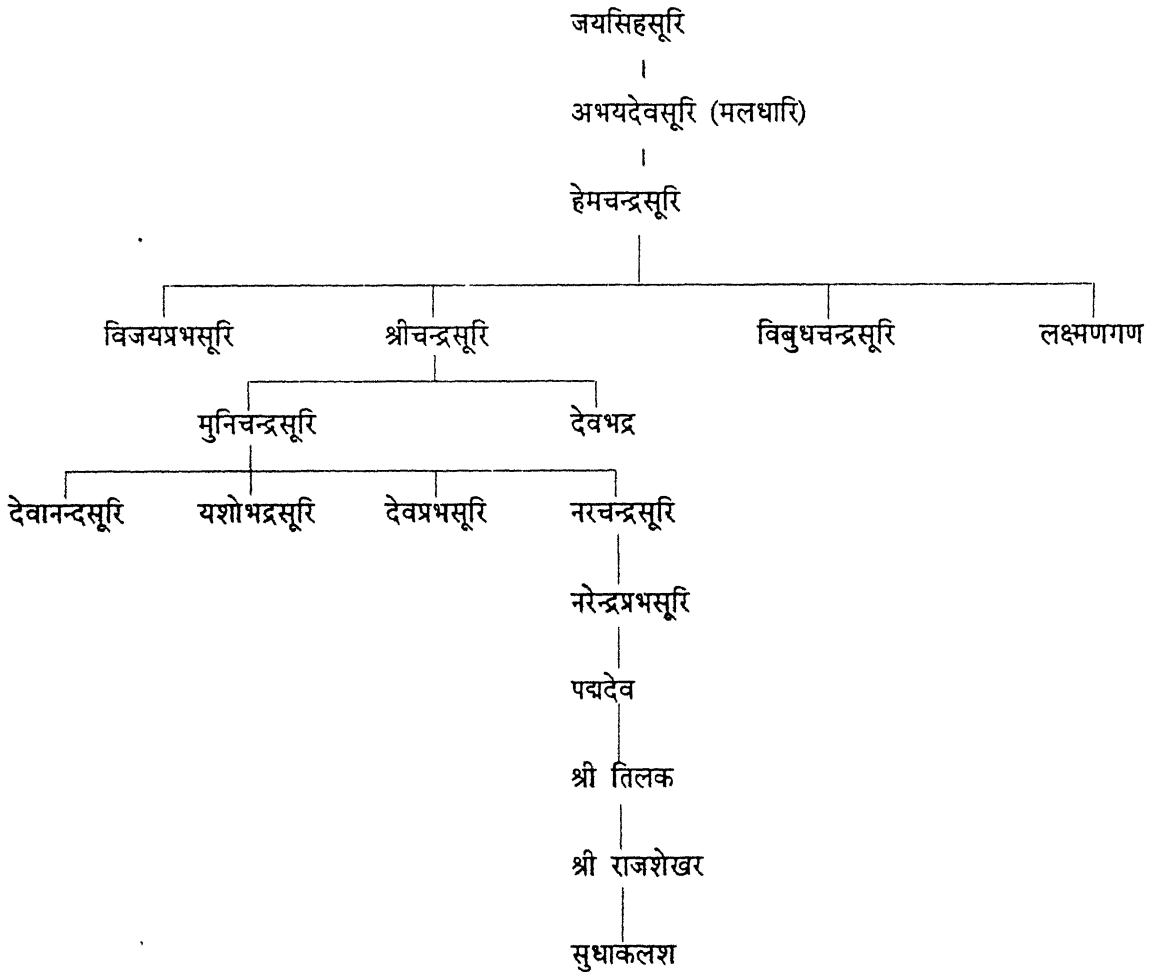
श्री अभयदेवसूरि हर्षपुर के वासी थे अत उनसे निकला गच्छ हर्षपुरीय नाम से प्रसिद्ध हुआ। नरेन्द्रप्रभसूरि को सूरि पद की प्राप्ति उनकी प्रतिभा एव योग्यता को अभिव्यक्त करता है। सूरि पद अत्यन्त विद्वान् एव उच्च आचार वाले श्रमण को प्रदान किया जाता था। योगशास्त्र के अनुसार जो सयतो को दीक्षा देता है उसे सूरि कहा जाता है।[१] देवसेन के अनुसार जो छत्तीस गुणो से परिपूर्ण होकर पॉच आचार्यो का पालन करता हुआ शिष्यो के अनुग्रह मे दक्ष होता है उसे सूरि कहते है।[२]

हर्षपुरीयगच्छ आचार्यो का जैन धर्म मे विशिष्ट योगदान रहा है। इस विषय मे राजशेखर के शिष्य सुधाकलश के शब्दो मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि—

राजानः प्रतिबोधिताः कति कति ग्रन्था स्वयं निर्मिता।
वादीन्द्राः कति निर्जिताः कति तपांस्युग्राणि तप्तनि च।
श्रीमद्हर्षपुरीयगच्छ मुकुटैः श्रीसूरि सूत्रामभिः
सच्छिष्यैः मुनिभिश्च वेत्ति नवरं वागीश्वरी तन्मितम्।

इस प्रकार हम देखते है कि सस्कृत अलकारशास्त्र के क्षेत्र में जैन धर्म अनुयायी संस्कृतज्ञो का अमूल्य योगदान एक विशेष महत्त्व रखती है।

जैन आचार्यों की सस्कृत काव्यशास्त्र के प्रति प्रेम की भावना ने तत्सम्बन्धी काव्यग्रथो की रचना की परम्परा को बनाये रखा। जैन विद्वानो का प्रधान लक्ष्य धर्म और आध्यात्म रहा है। पर उनकी विशेषता यह भी रही है कि उन्होने साहित्य की प्रत्येक विधा को अपनी लेखनी का स्पर्श दिया है। साहित्य का आधार मानव जीवन है, अतः उसमे सम्प्रदाय भेद का कोई स्थान नही है। जैन साहित्य मे न केवल धर्म दृष्टिपरक किन्तु विविध प्रकार की प्रभूत सामग्री विद्यमान है। जैन साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति का अध्ययन भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर एक नया प्रकाश डालता है।

जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का ग्रन्थ 'अलंकार महोदधि' कोई मौलिक ग्रन्थ नही है क्योकि आदि से अन्त तक इसमें प्राचीन आलंकारिकों की ही मान्यताओ का प्रकाशन है और प्राचीन अलंकार ग्रन्थो के ही उदाहरणो के उद्धरण भरे पड़े हैं। किन्तु विषय प्रतिपादन की शैली सरल और सरस भाषा मे होने के कारण इसका अलंकार शास्त्र मे विशिष्ट योगदान माना जा सकता है।

फिर भी अलकार महोदधि के महत्त्व को नजरअंदाज नही किया जा सकता। आचार्य सूरि ने समस्त काव्य मान्यताओ को सरलतम रूप में प्रस्तुत कर सर्वजनसंवेद्य तथा सहृदयानन्दकारी बनाने का यथासंभव प्रयास किया है।

अलंकार शास्त्र के क्षेत्र मे परम्परागत सिद्धान्तों का स्वकीय दृष्टि से मूल्याकंन करते हुए काव्यतत्त्वो का युक्ति-युक्त प्रतिपादन करने वाले आचार्य नरेन्द्रप्रभ की देन अद्वितीय है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से 'काव्यप्रकाश' मे सुलभ प्रवेश होता है तथा काव्यप्रकाश की दुर्बोधता कुछ अंश मे कम होती है।

□□□

---

१. जैन लक्षणावली, भाग ४।
२. वही।

द्वितीय अध्याय

काव्य का स्वरूप

काव्य का स्वरूप

काव्य कवि के व्यक्तित्व का भावनामय उन्मेष है। काव्य शब्द का अर्थ, व्याकरण की रीति से, 'कवि' की कृति होता है अर्थात् कवि जो कार्य करता है, उसे काव्य कहा जाता है। व्याकरण के अनुसार कवि शब्द का अर्थ किसी विषय का कहने वाला[१] अथवा प्रतिपादन करने वाला होता है और कोषकार उसे पण्डित[२] शब्द का पर्यायवाची मानते है।

कवि के कर्म को काव्य कहते है। मेदिनी कोष के अनुसार कवि के द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो वो काव्य है।[३]

'विशिष्ट रमणीय शैली मे काव्य का रचयिता कवि है' और कवि के पास 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' और 'वर्णन निपुणता' का होना आवश्यक है।

'काव्यप्रकाशकार' 'मम्मट' ने स्पष्ट लिखा है कि "लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म"।

कवि के कर्म को काव्य तथा कवि को इस काव्य ससार का रचयिता कहा गया है, दूसरे शब्दों मे कवि को स्वयं प्रजापति या ब्रह्मा और काव्य संसार को उसकी सृष्टि कहा है।[४]

आचार्य मम्मट ने तो कवि की सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि से भी उत्कृष्ट माना है और इस प्रकार कवि के सामर्थ्य को ब्रह्मा के सामर्थ्यों से अधिक महत्त्व प्रदान किया है।[५]

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के अध्ययन से काव्य के भिन्न-भिन्न अगो से परिचय होता है।

काव्य शास्त्र का प्रयोजन है काव्य का लक्षण निर्धारित करना। "लक्षण" का अर्थ है **'असाधारण धर्म'**

---

१ 'कुङ् शब्दो' कवते इति कवि., 'कबृवर्णे, इत्लेन तु नेद सिध्यति, तस्य पवर्गीयोपधत्वात्।

२. 'सख्यावान् पण्डितः कवि' इत्यमर

३ 'कवेरिद कार्यभावो वा' (ष्यञ्) मेदिनीकोष

४. अपारे काव्यससारे कविरेक· प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते। ध्वन्यालोक पृष्ठ ४२२

५ नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितमादधती भारती कवेर्जयति॥ (काव्य प्रकाश १-१)

काव्य लक्षण का अर्थ है, काव्य का विशेष धर्म जो वाड्मय के अन्य प्रकारो से काव्य का भेद दर्शाता है। काव्य के इस विशेष धर्म का अन्वेषण करने मे काव्यमीमासको ने काव्य का अध्ययन कर उसकी विविध परिभाषाये प्रस्तुत की।

सस्कृत काव्य शास्त्र मे प्राचीन काल से ही काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करने की प्रवृति दृष्टिगत होती है। प्राय: सभी आचार्यो ने काव्य स्वरूप का विवेचन किया है। प्राचीन काव्य लक्षण अर्वाचीन आचार्यो द्वारा निरन्तर परिष्कृत एवं परिमार्जित होते रहे।

आचार्य भामह की "शब्दार्थौ सहितौ-काव्यम्" परिभाषा अत्यन्त सरल एवं विशद थी जो आगे चलकर आधारभूत बन गयी और उत्तरकालीन आचार्य इसी मे अनेक विशेषणो का समायोजन कर काव्य का सर्वग्राह्य लक्षण उपस्थापित करने का प्रयत्न करते रहे। किन्तु प्रति व्यक्ति सौन्दर्यबोध भिन्न होने के कारण काव्य की एक परिभाषा तो असम्भव है। किसी के लिये रस रुचिकर हो सकता है तो किसी के लिये अलकार, अत: सौन्दर्य विषयीगत होने के कारण काव्य का स्वरूप विवादास्पद रहा और काव्य की विविध परिभाषाये प्रस्तुत की जाती रही।

किसी आचार्य ने काव्यगत सौन्दर्य के मूल मे रस के दर्शन किये तो किसी ने अलंकार के किये और किसी ने रीति इत्यादि के। इसी प्रकार कुछ आचार्यो ने काव्य मे बाह्य तत्त्व का प्राधान्य स्वीकार किया तो कुछ ने आन्तरिक तत्त्व का।

आचार्य भामह के पश्चात् अलकारवाद, गुणवाद, ध्वनिवाद आदि अनेक सिद्धान्तो का उद्भव हुआ उन सबका समन्वय आचार्य मम्मट ने अपने लक्षण मे कर दिया। यह परिभाषा इतनी लोकप्रिय हुयी कि उत्तरकालीन आचार्यो ने प्राय: इसे ही काव्य लक्षण के रूप मे ग्रहण कर लिया। नवीनता के उपपादन मात्र के लिये भिन्न-भिन्न शब्दावलियों द्वारा नवीन काव्य लक्षण उपन्यस्त किये गये।

आचार्यो ने अपना दृष्टिकोण कुछ भिन्नता, नवीनता और विशिष्टता से युक्त हो इस इच्छा से काव्य परिभाषाये प्रस्तुत की।

सबसे प्रथम 'काव्य लक्षण' प्राप्त ग्रन्थो मे अग्निपुराण[१] में गिलता है—संक्षेप में जो वाक्य होता है, उसका नाम काव्य है और संक्षेप से वाक्य का अर्थ यह है कि जिस अर्थ को कहना चाहते है वह जितने से कहा जा सकता है, उससे न अधिक और न न्यून, इस तरह की पदावली काव्य है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि काव्य उस पदावली को कहते है, जिसमे जो कुछ हम कहना चाहते है वो थोड़े मे पूर्णतया कह दिया जाये।

इस काव्य परिभाषा मे पॉच बाते है इष्टार्थ, संक्षिप्तवाक्य, अलंकार, गुण और दोष। इस काव्य के लक्षण मे काव्य की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। सक्षिप्त वाक्य रमणीयता का द्योतक है।

इस परिभाषा के द्वारा काव्य को बाह्य सीमा में बॉधने का प्रयास किया गया किन्तु उसका मुख्य प्रभावकारी

१ 'सक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्य स्फुरदलकार गुणवद्दोष वर्जितम्॥—अग्निपुराण

रूप स्पष्ट न हो सका।

भारतीय काव्याचार्यो के काव्य लक्षण की परम्परा का गहन अवलोकन करने से विदित होता है कि कतिपय आचार्यों ने शब्द को काव्य लक्षण का मूलाधार बनाया तो कुछ ने काव्य की परिभाषा के निर्माण मे शब्द और अर्थ दोनो के समन्वय पर बल देकर शब्दार्थ की सहभावापन्नता सिद्ध की तथा कितने ही आचार्यों ने रस को उसका प्रभाव मानकर काव्य स्वरूप का निर्धारण किया।

आचार्य भरत से पण्डितराजाजगन्नाथ पर्यन्त काव्य स्वरूप निर्धारण की यह परम्परा स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख हुयी। शब्दार्थ युगल को काव्य का लक्षण कहने वाले आचार्यों मे भामह, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक मम्मट, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि आदि है।

शब्द प्रधान काव्य लक्षण का निर्माण करने वाले आचार्यो मे दण्डी और पण्डितराजाजगन्नाथ है तथा रसान्वित काव्य लक्षण प्रस्तुत करने वाले आचार्यों मे महिम भट्ट और भोज आदि प्रमुख है।

भारतीय आलोचना शास्त्र के आद्याचार्य भरत ने रूपक के विवेचन क्रम मे दर्शक की दृष्टि से जिन काव्य तत्त्वों का उल्लेख किया, वे मुख्यतः रूपक पर घटित होते है, काव्य पर नही।[१]

वास्तव मे प्रथम काव्य लक्षण भामह का माना जा सकता है, जिन्होने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य की संज्ञा दी।[२] यहाँ पर शब्दार्थ युगल के सहभाव से भामह का क्या अभिप्राय था इस पर अनेक विरोधी विचार अभिव्यक्त किये गये। अनेक विद्वान् इस लक्षण की निर्दुष्टता का समर्थन करते हुये कहते हैं कि लक्षण मे प्रयुक्त 'सहित' पद काव्य में शब्द और अर्थ के समकोटिक महत्त्व का प्रत्यायक है अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ तुल्यकोटिक महत्त्व के हों, वह काव्य है तथा इसी वैशिष्ट्य के कारण इतिहासादि से पृथक् है।

यदि शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य मान लिये तो इसमे ऐसी अतिव्याप्ति हो जायेगी कि वाणी का सारा प्रपञ्च काव्य के अन्तर्गत समा जायेगा। इस विषय मे डॉ० कान्ति चन्द्र पाण्डेय का कथन है कि "भामह के मतानुसार शब्द और अर्थ दोनो का साहित्य ही काव्य है, परन्तु काव्य की ये परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से युक्त हैं। क्योकि काव्य के अतिरिक्त भाषा की अन्य सभी रचनाओं मे भी शब्द और अर्थ का साहित्य होता है।[३] भामह वस्तुतः अलकारवादी आचार्य हैं। अलंकारवादी भामह का निष्कर्ष अलंकार को काव्य का जीवनधायक तत्त्व माननेवाला है। वे काव्य की चारुता अलंकार में ही ग्रहण करते हैं और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों को[४] समान महत्त्व प्रदान कर उनके सहभाव से उत्कृष्ट काव्य की कल्पना करते हैं। यही उनके "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" का अभिप्राय है।[५]

---

१. नाट्यशास्त्र, १६-११८
२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—काव्यलंकार १-१६
३. स्वतंत्र कलाशास्त्र, पृ० ५०७-५०८
४. शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः। काव्यालंकार १/१५
५. काव्यालंकार' हिन्दी भाष्यभूमिका पृ० ५

दण्डी के अनुसार इष्टार्थ या मनोरम, चमत्कृत हृदयाह्लादक अर्थ से युक्त पदावली पदसमूह काव्य है। यहाँ चमत्कृत अर्थ से पूर्ण शब्द समूह या पदावली को काव्य कहा गया है।[१] दण्डी ने विवक्षित अर्थ से युक्त शब्द के प्रयोग से काव्य का स्वरूप निर्धारण किया और उसे अलकार से अभिन्न माना। उनके अनुसार, 'अलकार से युक्त होने पर ही काव्य स्थायी महत्त्व से पूर्ण हो सकता है।

दण्डी भामह की अपेक्षा उदार अधिक है, उन्होने काव्य मे अलकारो के साथ रस के समावेश पर भी विचार किया है, वे रस को रसवादादि अलकार मानकर उसकी परिधि परिसीमित कर देते है।[२] अलंकार जन्य आह्लाद को ही उन्होने रस मान लिया है। उनके अनुसार सभी अलंकार, अर्थ मे रस का संचार करते है।[३] पर इसके बाद भी वे अपने दृष्टार्थ को अलंकार से भिन्न नही मानते।

रीतिवादी वामन ने भामह व दण्डी द्वारा उपस्थापित पीठिका पर अपना लक्षण प्रस्तुत कर काव्यचिन्तन को नवीन दिशा प्रदान की। उन्होने काव्य का स्वतंत्र लक्षण न देकर रीति विवेचना के क्रम मे काव्य स्वरूप का निरूपण किया। उनके अनुसार गुण और अलकार से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है।[४] वे अलंकार के कारण ही काव्य को ग्राह्य मानते हैं, अलंकार सौन्दर्य का वाचक है अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है। काव्यगत सौन्दर्य गुण के ग्रहण एवं दोषों के त्याग के कारण होता है।[५] यहाँ दोषो के वहिष्कार एवं गुण और अलंकार के आदान से ही काव्य मे सौन्दर्य के समावेश की बात कही गयी है।[६] इस प्रकार वामन ने दोषरहित, गुणों से अनिवार्यतः युक्त तथा अलंकार से साधारण युक्त शब्दार्थ को काव्य की संज्ञा दी। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर उसमे गुण और अलंकार की महत्ता स्वीकार की थी, इसलिये वे काव्य के स्वरूप निर्धारण में इनकी सत्ता को विस्मृत नहीं कर सकें। वामन रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। रीति से उनका अभिप्राय विशिष्ट पद रचना का है—विशिष्टपदरचनारीतिः।

विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त या विशेषो गुणात्मा। फलतः रीति का अर्थ गुणयुक्त पद रचना है। अभिप्राय ये है कि गुणयुक्त पद रचना ही काव्य की आत्मा है। काव्य के स्वरूप निरूपण की दृष्टि से रुद्रट का कोई विशिष्ट योगदान नहीं है। भामह और रुद्रट ने[७] शब्दार्थ के सामंजस्य को काव्य का लक्षण माना अर्थात् वे काव्य के लिये शब्द और अर्थ दोनों को महत्त्व देते रहे। दण्डी को अभीष्ट पदावली में ही काव्य का सौन्दर्य दिखायी पड़ा। प्राचीन आचार्यों का लक्षण सर्वग्राह्य न बन सका, क्योंकि इनकी दृष्टि काव्य में निहित रमणीयता का प्रकाशन

---

१. शरीरं तावदिष्टार्थव्यच्छिन्ना पदावली—काव्यादर्श १-१०

२ अलङ्कृतमसक्षिप्तं रसभावनिरन्तरं।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति॥ काव्यादर्श १-१९

३. कामं सर्वोप्यलङ्कारों रसमर्थे निषिञ्चति। काव्यादर्श १,६२

४. काव्य शब्दोऽयं गुणाऽलङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थोंवर्तते।—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति। १-१-१

५. काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलङ्कारः १ १-१—२
भक्त्यातु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते॥ १-१-१
काव्य शोभायोः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। काव्यलंकारसूत्रवृत्ति, ३-१-१-३-१-२

६. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति।

७. ननु शब्दार्थो काव्यम् (काव्यालंकार)

न कर सकी। ये सभी काव्याचार्य काव्य के बाह्य तत्त्व तक ही सीमित रहे, काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य को न देख सके।

इसी कारण संस्कृत साहित्य के इतिहासकारो ने इन्हे शरीर धर्मी आचार्यो की श्रेणी मे ही रखा।

काव्य मे निहित सौन्दर्य का रसास्वादन कर अर्वाचीन काव्यशास्त्रियो द्वारा नवीनता और विशिष्टता का समायोजन करते हुये प्राचीन परिभाषाओ को परिमार्जित और संशोधित रूप प्रस्तुत किया गया।

वस्तुत: काव्य का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है उसको लक्षण की परिधि मे आबद्ध करना सहज कार्य नही है। प्रतिव्यक्ति सौन्दर्यानुभूति भिन्न होती है, इसी मान्यता के आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्रियो ने काव्यतत्त्वो के विषय मे अपनी नवीन दृष्टि से विचार पूर्वक चिन्तन मनन करके काव्यमार्ग मे विभिन्नधाराये प्रवाहित की।

वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' द्वारा निर्जीव या प्राणहीन काव्य शरीर मे, (जिस काव्य शरीर की कल्पना प्राचीन आचार्यों ने की) प्राणो का सचार किया।

आचार्य वामन ने काव्यस्वरूप निरूपण मे सर्वथा नवीन सोच विकसित की। काव्य के स्वरूप के विषय मे डॉ० राजकिशोर सिह ने बहुत ही सुन्दर अवधारणा प्रस्तुत की है। "काव्य तो आत्मा की अनुभूति का व्यक्त रूप है, वाणी का विषय नहीं, उसके विषय मे केवल यह कह सकते है 'शक्यते वर्णयितुं गिरा यदा स्वयं तदत्त करणेन गृह्यते।" काव्य का स्वरूप क्षणे-क्षणे परिवर्तमान सौन्दर्य के समान है, वह तो प्रतिक्षण नवतामुपैति की धारणा को सार्थक करता है। सौन्दर्य तो मन की ऑखो से देखा जाने वाला अनुभूतिपरक विषय है। वामन तो पहले ही कह चुके हैं कि सौन्दर्य ही अलकार है और अलकार काव्य के कारण ग्राह्य होता है। वास्तविक अर्थों में काव्य की आत्मा का विवेचन आनन्दवर्धन ने ध्वनि, कुन्तक ने वक्रोक्ति, क्षेमेन्द्र ने औचित्य और विश्वनाथ ने रस रूप मे करके, काव्य की परिभाषायें प्रस्तुत की। ध्वन्याचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त ने शब्दार्थ को ही काव्य माना परन्तु शब्दार्थ को काव्य का शरीर तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया।[१] ध्वनिवादी आचार्यों को दृष्टि विशेष रूप से काव्य को आत्मा की ओर रही। ये लक्षणसर्वागीण नहीं था। सहृदय की दृष्टि से ही उचित था।

वक्रोक्तिकार कुन्तक ने भी यद्यपि 'वक्रोवित: काव्यजीवितम्' कहकर 'विदग्धभङ्गी भणति' को ही काव्य बताया तथापि उन्होंने काव्य स्वरूप की व्याख्या करते हुये काव्य के सभी अंगो की ओर समुचित ध्यान दिया।

कुन्तक ने काव्य का व्यवस्थित लक्षण प्रस्तुत करते हुये बताया कि 'काव्यमर्मज्ञों के आह्लादकारक, सुन्दर, वक्र कवि व्यापार से युक्त रचना मे व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।[२]

डा० नगेन्द्र ने कुन्तक के काव्य लक्षण को, अपने शब्दो मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"काव्य उस कविकौशल पूर्ण रचना को कहते हैं, जो अपने शब्द सौन्दर्य और अर्थ सौन्दर्य के अनिवार्य सामजस्य द्वारा काव्य

---

१ काव्यस्यात्माध्वनि.। ध्वन्यालोक

२. शब्दार्थौ सहितौ वक्र कविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि। (वक्रोक्ति जीवित)

मर्मज्ञ को आह्लाद देती है।" कुन्तक की परिभाषा मे काव्य के कलात्मक एव आनन्ददायक पक्ष का सयोजन हुआ है।"[१]

भोज-कृत काव्य की परिभाषा मे नव्यता न होकर पूर्ववर्ती आचार्यो के लक्षणो का सकलन मात्र ही है। इनके अनुसार काव्य निर्दोष, गुणयुक्त, अलकारो से अलंकृत रचना को कहते है।[२] काव्यस्वरूप निर्धारण की पूर्वोक्त-पीठिका पर आचार्य मम्मट का आगमन हुआ। उन्होने समस्त परम्परा को अनुस्यूत कर व्यवस्थित एव वैज्ञानिक लक्षण की सृष्टि की और पूर्ववर्ती सभी परिभाषाओं मे सामंजस्य स्थापित किया। उनके अनुसार दोष रहित, गुण-युक्त, सामान्यत: अलंकार सहित और कभी-कभी अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य कहते है।[३]

इस प्रकार मम्मट ने प्राचीनता का समाहार करते हुये नवीनता का प्रवर्तन किया।

मम्मट का काव्यलक्षण सस्कृत साहित्य के समालोचको द्वारा अत्यन्त प्रामाणिक, व्यवहारिक, तथा ध्वनि-मार्गानुसारी बताया गया।

मम्मट के लक्षण की विशिष्टता उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण है।

इस लक्षण की मुख्य विशेषताये है—

(क) काव्य शब्द और अर्थ की समष्टि है, केवल शब्द और केवल अर्थ को काव्य नही कहा जा सकता।

(ख) काव्य दोषरहित होना चाहिये अर्थात् निर्दुष्टता काव्य का अनिवार्य अंग है।

(ग) काव्य गुणयुक्त हो अर्थात् उसमें माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की अवस्थिति आवश्यक है, यहाँ गुण की अनिवार्यता का कथन कर काव्य में रस के अस्तित्व को आवश्यक माना गया क्योंकि जहाँ गुण होगा वहाँ रस की स्थिति अनिवार्यत: मान्य होगी।

(घ) काव्य सामान्य रूप से अलंकारयुक्त हो; किन्तु कही-कहीं रस से पूर्ण होने पर भी यदि रचना अलंकारविहीन हो तो काव्यत्व की हानि नहीं होगी।

मम्मट की परिभाषा में शब्दार्थों के तीन विशेषण प्रयुक्त हुये हैं—अदोषौ, सगुणौ तथा अनलंकृतीपुन:-क्वापि। आचार्य मम्मट की इस परिभाषा पर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कई आक्षेप किये है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विश्वनाथ के अतिरिक्त चन्द्रालोककार जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस लक्षण का खण्डन किया।

मम्मट का यह काव्य लक्षण परवर्ती आचार्यों के लिये आदर्श काव्य का स्वरूप प्रस्तुत करता था प्राय:

---

१. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित-भूमिका, पृ० १९,२१

२. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति। सं० कण्ठाभरण, १/४

३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। का० प्र० १/४

अर्वाचीन आचार्यो ने मम्मट की परिभाषा के आधार पर ही अपना काव्य स्वरूप प्रस्तुत किया। मम्मट का तो सम्पूर्ण ग्रथ ही उपजीव्य ग्रन्थ के रूप मे समादृत रहा।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी मम्मट से प्रभावित हो, अपनी काव्य परिभाषा प्रस्तुत करते है।[१] आचार्य सूरि अपनी परिभाषा मे 'सव्यञ्जनस्तथा' इस विशेषण का प्रयोग करते है जो सर्वथा मौलिक है, लेकिन क्या काव्य के सभी प्रकारो मे यह विशेषण घटित होता है, आचार्य सूरि ने स्वय काव्य के तृतीय भेद अवरकाव्य के स्वरूप मे व्यंजना की अनिवार्यता का उल्लेख नही किया है , अतः यह विशेषण दोषयुक्त है साथ ही काव्य का यह स्वरूप भी अव्याप्ति दोष से युक्त है।

वस्तुतः यह 'सव्यञ्जनस्तथा' इस विशेषण का प्रयोग मम्मट की परिभाषा से भिन्नता दर्शाने मात्र के लिये किया गया।

उनकी काव्य की उपरोक्त परिभाषा मम्मट का ही अनुकरण करती है, इस परिभाषा के पूर्व, आचार्य सूरि काव्यशरीर का स्वरूप प्रस्तुत करते हुये उसमे ध्वनि की स्थिति स्वीकार कर आनन्दवर्धन मे भी अपनी सहमति अभिव्यक्त करते हैं।[२]

आचार्य सूरि कहते है कि "काव्यं निपुण कविकर्म, शब्दार्थवैचित्र्ययोग एव काव्य (ये शब्दार्थ का मञ्जुल समन्वय सहृदयाह्लादायक होना चाहिये, दोष रहित, गुण, अलंकार और ध्वनि सहित शब्दार्थ योग ही काव्य है।

मम्मट के ही समान आचार्य सूरि भी काव्य मे अलंकार की स्थिति अनिवार्य नही मानते हैं।[३]

मम्मट की भांति महोदधिकार का भी काव्यलक्षण वर्णनात्मक लक्षण कहा जा सकता है क्योकि इसमें काव्य के अगो की विलक्षणता का वर्णन है। इसमे काव्य के अंग उपागो की विशिष्टता का वर्णन किया है। काव्य में शब्द और अर्थ का मञ्जुल या मनोहारि, वैचित्र्योत्पादक समन्वय रहता है। जिस प्रकार शब्द रस के उन्मीलन मे सहायक होता है उसी तरह अर्थ भी। शब्द और अर्थ युगल रूप से सहृदयाह्लादक होते हैं।

काव्य के शब्दार्थों को गुणो से युक्त होना चाहिये। माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों काव्यात्मा रस के अचल और नित्य धर्म हैं तथा काव्य में इनकी उपस्थिति अवश्यमेव है। इस प्रकार गुणों का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के साथ गौण रूप से होता है।

मुख्यरूप से तो ये रस के अपरिहार्य धर्म हैं।

शब्दार्थ को दोषरहित होना भी आवश्यक है। कुछ दोष सामान्य होते हैं, कुछ विशिष्ट होते हैं। काव्य

---

१. निर्दोषः सगुणः सालंकृतः सव्यंजनस्तथा।
शब्दश्चार्थश्च वैचित्र्यपात्रतां हि विगाहते॥ अ० महा० । १/१३

२. काव्यं शब्दार्थवैचित्र्ययोगः सहृदयप्रियः।
यस्मिन्नदोषत्व गुणालङ्कृति ध्वनयः स्थिताः॥ अ० महा०/१/१२

३. स्फुटालंकारवैचित्र्यवञ्चितोऽप्यपरत्रये।
चमत्कारिणि काव्यत्वं न परिम्लायति क्वचित्॥ अलंकार महोदधि १/१४

के मुख्य दोष, रस दोष होते है, जिनका परिहार काव्य मे आवश्यक होता है। निर्दोष काव्य ही उत्तम काव्य है, उसका अनुशीलन ही श्रेयस्कर है।

काव्यगत शब्द एव अर्थ को सर्वदा अलकार युक्त तो होना चाहिये मगर स्थिति विशेष मे अलकार की अनिवार्यता मम्मट और सूरि आदि आचार्य नही मानते है। काव्य मे रस की स्थिति होने पर अलंकार की उपस्थिति आवश्यक नही है। इस प्रकार ये स्पष्ट है कि काव्य मे अलंकार से विहीन शब्दार्थ हो सकते है, परन्तु शब्दार्थ गुण विहीन नही हो सकते हैं।

इस प्रकार यह लक्षण आदर्श काव्य का संकेत है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी मम्मट का अनुकरण करते हुये काव्य परिभाषा दी।[१]

इस प्रकार दोषराहित्य एव गुणयुक्तता काव्य के आवश्यक उपकरण हैं। तथा सालंकारिता वैकल्पिक तत्त्व। सहृदयाह्लादकारिता एवं रसव्यंजकता आदि शब्दार्थयुगल मे ही है।

साहित्यदर्पणकार एवं जगन्नाथ आदि उद्भट विद्वानो ने इस परिभाषा की तीव्र एवं कटु आलोचना अवश्य की परन्तु उससे अधिक व्यापक और सर्वग्राह्य परिभाषा न दे सके।

विश्वनाथ कविराज ने 'रसात्मक वाक्य को काव्य कहा।"[२] वाक्य जिसकी आत्मा रस है वह काव्य कहलता है अर्थात् अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने वाले वाक्य काव्य है। रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना काव्य के क्षेत्र को संकुचित करना है अत: यह लक्षण संकीर्ण होने से व्यापकत्व को प्राप्त न कर सका। पण्डितराज ने अर्थ की रमणीयता पर ही बल दिया।[३]

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। इनका अभिप्राय है कि काव्यत्व केवल शब्द मे ही होता है जो उचित नही हैं क्योकि शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में काव्यत्व मानने वाला मत बहुजन समादृत मत है। अतएव पण्डिराज जगन्नाथ का मत उपादेय नही है।

इस प्रकार मम्मट और उनका अनुसरण करने वाले हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि आदि आचार्यो का काव्य लक्षण आदर्श काव्य का संकेत है। जैनाचार्यों ने किञ्चित नवीनता और विशिष्टता का उपपादन करते हुये भी आचार्य मम्मट को ही अपना आदर्श बनाया।

काव्य का प्रयोजन

काव्य के स्वरूप विवेचन के पश्चात् ये ज्ञात करना अति आवश्यक हो जाता है कि काव्य की सृष्टि का कोई प्रयोजन विशेष है अथवा उसकी रचना बिना किसी प्रयोजन के होती है। इस विषय की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों ने बड़ी गम्भीरता के साथ की है।

---

१. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।—काव्यानुशासन, १/११

२. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।—साहित्यदर्पण

३. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।—रसगंगाधर

लोक मे प्रचलित विविध कलाओ के मध्य काव्य भी अनुपम सौन्दर्य के अक्षय भण्डार से युक्त एक कला है; और कला सदैव सोद्देश्य होती है।

भारतीय काव्यशास्त्रियो ने काव्य को सोद्देश्य मानकर उसकी निर्मिति मे अनके प्रयोजन बताये है। काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरत से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक इस विषय का सम्यक् परिशीलन होता रहा है।

भावना और ज्ञान की अभिव्यक्ति ही कवि कर्म की सफलता है। कवि भावनाओ को अनुभव तथा कल्पना के संयोग से सहृदय सवेद्य बनाता है। सहृदय सामाजिक के लिए तो काव्य अलौकिक सौन्दर्यानुभूति का विषय है। अत: आचार्यों ने कवि के साथ-साथ सहृदयो की भी दृष्टि से काव्य प्रयोजन पर विचार किया है , और यशोपलब्धि, आनन्दानुभूति, मंगलकारी भावनाओ का उद्योतन तथा चित्तवृत्ति के परिष्कार को काव्य का प्रधान प्रयोजन सिद्ध किया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा निर्धारित काव्य प्रयोजनो पर विचार करने से पूर्व, पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्यप्रयोजन. सम्बन्धी मान्यताओ का अवलोकन आवश्यक है।

आदि आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे नाटक के उद्देश्य पर विचार करते हुये कहा कि यह धर्म, यश तथा आयु का साधक, कल्याणकारी, बुद्धिवर्धक एव लोकोपदेशक है। इसके अतिरिक्त लोक का मनोरंजन करना, शोकपीड़ित एवं परिश्रांत जनो को विश्रांति प्रदान करना। यहाँ मुख्य रूप से धर्म, कीर्ति-प्राप्ति, मनोरंजन, शोकनाश, तथा व्यवहारिक ज्ञानोपलब्धि को काव्य या नाटक का प्रयोजन माना गया है।[१]

भामह ने काव्य प्रयोजन के रूप में चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—का प्रथम उल्लेख कर तदनतर समस्त कलाओ में दक्षता एवं कीर्ति तथा प्रीति की प्राप्ति को उसका उद्देश्य स्वीकार किया।[२] भामह ने आनन्दोपलब्धि को काव्य का प्रधान उपदेश मानकर परवर्ती विवेचकों के लिए नवीन सूत्र उपस्थापित किये। आचार्य वामन की प्रीति रूप प्रयोजन मे ही चतुर्वर्ग की प्राप्ति समाहित है।[३] वामन ने अपने काव्य प्रयोजन मे कवि एवं धारक दोनो की भावनाओ का आदर करते हुये 'दृष्ट' तथा 'अदृष्ट' ; जो क्रमश: कीर्ति और प्रीति ही हैं, बतायें।

रुद्रट ने काव्यप्रयोजन का सविस्तार विवेचन कर छ. तत्वो का उल्लेख किया।[४] कुन्तक ने काव्य के तीन

---

१. उत्तमाधममध्यमानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननम् धृतिक्रीडासुखादिकृत॥
दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ —नाट्यशास्त्र १। ११३-११५।

२. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्य निबन्धनम्। —काव्यालंकार, १/२।

३. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
काव्यं सत् चारू, दृष्ट प्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात्।
अदृष्टप्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात्॥ —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति। १, १५।

४. काव्यालंकार—१। १३।

प्रयोजन बताये।[1]

१. धर्मादि चतुर्वर्ग की शिक्षा

२. लोकाचार या लोकव्यवहार का ज्ञान प्राप्त होना।

३. लोकोत्तर आनन्द लाभ।

विभिन्न प्राक्तन विचारधाराओ का समाहार करते हुये आचार्य मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन बताये,[2] जो कि आयार्च हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि आदि परवर्ती आचार्यो के लिए आधार स्तम्भ बनी आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन का विश्लेषण कुछ विशिष्टता के साथ किया।

मम्मट ने बताया कि काव्यग्रथो की उपादेयता—'यशप्राप्ति, सम्पत्ति लाभ, व्यवहारिक ज्ञान, अमंगल नाश, शीघ्र उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति, कान्त सम्मित उपदेश' इन छः प्रयोजनो मे निहित है।

१. यश प्राप्ति—काव्य निर्माण का मुख्य उद्देश्य यशोपलब्धि है, उसके द्वारा कवि कीर्ति अर्जित करता है। उसकी रचना उसे अमरत्व प्रदान करती है और मृत्यु के पश्चात् भी उसकी कीर्ति चतुर्दिक फैली रहती है। बाल्मीकि, कालिदास आदि कवि, अमर काव्य रचना द्वारा ही अक्षय कीर्ति के अधिकारी बन अमर है, उनके यश को देश, काल की सीमाये भी अपनी परिधि मे बॉध न सकी, . . . उनकी कृतियॉ अद्यावधि तक विश्वविख्यात एवं शाश्वत बनी हुयी है।

२. अर्थकृते (सम्पत्ति लाभ) —काव्य रचना के द्वारा कवियों को प्रचुर मात्रा मे धनराशि प्राप्त होती है, कविगण अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे और उसके बदले में उन्हें पुष्कल मात्रा में धन की प्राप्ति होती थी। धावक तथा बाणभट्ट ने अपने काव्य-ग्रन्थों के द्वारा श्री हर्ष से अतुल धन सम्पत्ति अर्जित की।

३. व्यवहार ज्ञान—काव्य के अनुशीलन से व्यवहार का भी पूर्ण ज्ञान होता है। काव्य के द्वारा किसी युग विशेष के लोगो का आचारण, जीवनदर्शन, आदि का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त होता है।

४. शिवेतरक्षतये—काव्य के द्वारा विशिष्ट देवताओ की स्तुति की जाती है, जिससे देवतागण प्रसन्न होकर अंमगल निवारण कर मंगल का विधान करतें हैं। सप्तमशतक के विख्यात कवि मयूरभट्ट का कुष्ठ रोग ; सूर्य की स्तुति मे विरचित 'सूर्यशतक' नामक भव्य काव्य के प्रणयन से नष्ट हुआ था।

५. सद्यः परमानन्द की अनुभूति—सभी आचार्यों ने समवेत स्वर में काव्य के मुख्य प्रयोजन के रूप मे परमानन्द की प्राप्ति के महत्व को स्वीकार किया। काव्य प्रयोजन रूप प्रीति की प्राप्ति केवल सहृदय सामाजिक को ही नही अपितु कलात्मक-काव्य सृजनकर्त्ता कवि को भी अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। परमानन्द की स्थिति मे ।बम्त५कीं अवस्था विगलित वेद्यान्तर हो जाती है अर्थात् दूसरी वस्तु या ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान का स्पर्श

---

१. वक्रोक्तिजीवित—१। ३, ४, ५।

२. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे॥——काव्यप्रकाश, १। २।

भी नही रहता है यदि ऐसा हो तो वह वस्तु या पदार्थ बाधक के समान उपस्थित हो जायेगी तथा काव्य का निश्छल एक रस आनन्द कभी उत्पन्न नही होगा। इस आनन्दानुभूति को ही मम्मट ने 'सकल प्रयोजनमौलिभूत' कहकर श्रेष्ठ घोषित किया।

कांतासम्मित उपदेश—काव्य का यह प्रयोजन भी अन्यतम है। कान्ता के समान काव्य सरसता उत्पन्न कर सहृदयो को अभिभूत करता है तथा उचित उपदेश देता है।

काव्य की उपदेश शैली को कांतासम्मित कहते है। इस शैली मे भाव प्रवणता तथा रस की प्रधानता रहती है। कवि भावना प्रधान शैली मे सरस रचना द्वारा मधुर उपदेश देता है जो वेदशास्त्र या पुराणो के उपदेश से भी अधिक प्रभावोत्पादक होता है। इसमे कवि इतिहास पुराणादि से भिन्न विलक्षण शैली में प्रिया के समान सरस शिक्षा प्रदान कर सहृदय को आकृष्ट करता है।

शास्त्रो में उपदेश की तीन शैलियाँ वर्णित है—

प्रभु सम्मित, सुहृत् सम्मित एवं कान्ता सम्मित।

इसी परम्परा मे जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने आनन्द, यश और कान्ता सम्मित उपदेश के अतिरिक्त धर्म, अर्थ और कामरूप सातिशय त्रिवर्ग को काव्यप्रयोजन माना है।[१]

काव्यप्रयोजनो मे पुरुषार्थ चतुष्टय का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया। जिसे आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी मान्यता प्रदान की आचार्य सूरि ने आनन्द रूप प्रयोजन को मम्मट की भांति सकल प्रयोजनो मे तिलकस्वरूप ('सकलप्रयोजनतिलकभूता') कहा। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के अर्थप्राप्ति, शिवेतरक्षतये तथा व्यवहार ज्ञान रूप प्रयोजन को मान्यता प्रदान नही की, येन केन प्रकारेण इन तीनों प्रयोजनों की सिद्धि सम्भवतः त्रिवर्ग की प्राप्ति द्वारा सम्भव हो सकती है। अर्थ प्राप्ति तो त्रिवर्ग के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से आता ही है। सम्भवतः इन्होने भी व्यवहार ज्ञान और अनर्थनिवारण को प्रकारान्तर से भी हो सकता है, ऐसा विचार कर इसका उल्लेख न किया हो। या ऐसा भी कह सकते है धर्ममार्ग के अनुसरण द्वारा व्यवहार ज्ञान भी सम्भव है।

प्रायः सभी भारतीय साहित्य-समीक्षको ने परम लक्ष्य पुरुषार्थ चतुष्टय को साहित्य का प्रयोजन माना। समालोचकों ने मम्मट के षड् प्रयोजनो मे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति को समाहित किया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि त्रिवर्ग को ही मान्यता प्रदान करते है, उन्होने काव्य द्वारा मोक्ष प्राप्ति रूप प्रयोजन को मान्यता नहीं दी।

जैनाचार्य हेमचन्द्र भी काव्य के तीन प्रयोजनो का वर्णन करते हैं—आनन्द, यश और कान्ता सम्मित उपदेश और इनमें भी आनन्द को सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध करते है।[२] हेमचन्द्र प्रकारान्तर से मम्मट की आलोचना करते हुये बतलाते हैं कि सम्पत्ति लाभ, अमंगल-नाश तथा व्यवहारिक ज्ञान तो अन्य साधनो से भी प्राप्त हो सकते

---

१. अमन्दोद्गतिरानन्दस्त्रिवर्गश्च निरर्गलः।
कीर्तिश्च कान्तातुल्यत्वेनोपदेशश्च तत्फलम्॥ —अलंकार महोदधि १। ५।

२. काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशायच। —काव्यानुशासन

है, अत. इनकी परिगणना काव्य के प्रधान प्रयोजनो मे नही होनी चाहिये। उदाहरणस्वरूप, अनेक कवियो के नाम लिये जा सकतें है, जो धनाभावग्रस्त रहे, अत· काव्य धन का अनैकान्तिक हेतु है। व्यवहारिक ज्ञान तो शास्त्रो के अध्ययन से भी प्राप्त होता है, केवल काव्यानुशीलन से नही, इसी प्रकार अनिष्ट निवारण देवाराधन से भी सभव है।[१]

आ० देवेन्द्र नाथ शर्मा ने हेमचन्द्र के उपर्युक्त विचार का खण्डन करते हुये बताया कि यश की प्राप्ति तो शास्त्र द्वारा सभव है, पर अलौकिक आनन्द तथा कान्तासम्मित उपदेश तो काव्य के ही प्रयोजन है। "अनैकान्तिकता का आधार लेकर हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत यश का भी खण्डन किया जा सकता है, क्योकि यश का एकमात्र हेतु काव्य नही है। शास्त्र भी प्रभूत यश देता है। पतजलि या शकराचार्य का यश किस कवि से कम है ? परिशेषात् अलौकिक आनन्द और कान्तांसम्मित उपदेश ये दो ही प्रयोजन ऐसे है, जो काव्य से उपलब्ध होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनो मे भी प्रधानता आनन्द की है।"[२]

अर्वाचीन आचार्य विश्वनाथ ने काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुये चतुर्वर्ग की प्राप्ति पर अधिक बल दिया। ("चतुर्वर्गफल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि, काव्यादेव"—) दर्पणकार विश्वनाथ ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि चतुर्वर्ग प्राप्ति का सरल सुखद साधन काव्य ही है।[३] उनके अनुसार शास्त्र का भी यही प्रयोजन होता है, पर शास्त्रानुशीलन के कष्टसाध्य एवं सायास होने से सर्वजन सुलभ होना सभव नही। काव्य का स्वरूप आनन्दात्मक होने के कारण उसमे सर्वजन सुलभता अधिक है। काव्य के अध्ययन से अल्पमति व्यक्ति भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्वरूप चतुर्वर्ग की प्राप्ति बिना किसी कष्ट के कर सकता है। उसमें निहित उपदेश द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान होता है। वह हमें ऐसी शिक्षा देता है कि राम के समान आचरण करो रावण की भाति नही। आचार्य विश्वनाथ ये भी सिद्ध करते है कि काव्य से मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है; काव्य के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में उस अनासक्ति योग की भावना भर जाया करती है जो काव्य सम्भूत धर्मादि के फलभोग के प्रति स्वभाविक है और अनासक्ति योग ही मोक्ष प्राप्ति है, काव्य तो परमानन्दसंदोह रस का जनक है। अतः काव्य से जो पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति होती है, वह एक सुखद साधना है, जो कोमलबुद्धि वाले लोगों के द्वारा भी वशीभूत की जा सकती है।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रियो ने काव्य की सृष्टि को सोद्देश्य मानकर अनेक प्रयोजन बतायें। कवि तथ सहृदय सामाजिक दोनो ही दृष्टि से काव्य प्रयोजनों पर विचार किया गया। काव्य के सकल प्रयोजनो में स्वतः एक विशिष्टता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी इसी प्राक्तन परम्परा का निर्वाह करते हुये अपने काव्य प्रयोजनो का निरूपण करते है। यहाँ पर जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट की अपेक्षा आचार्य हेमचन्द्र से ज्यादा प्रभावित है उन्होने हेमचन्द्र

---

१. धनमनैकान्तिकं व्यवहार कौशलं शास्त्रेभ्योऽप्यनर्थ-निवारणं प्रकान्तरेणापीति न काव्य-प्रयोजनतयाऽस्माभिरुक्तम्॥ —काव्यानुशासन, पृ० ३, ४

२ काव्यालंकार की भूमिका, पृ० ११ (राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)

३. चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुखादेव परिणतबुद्धिनामेव जायते। परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमार बुद्धिनामपि पुनः काव्यादेव ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति—सा० दर्पण, १/२ वृत्ति

की ही भाति आनन्द, यश और काता सम्मित उपदेश को प्रयोजन रूप मे स्वीकार किया साथ ही सातिशय त्रिवर्ग की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है, ये भी स्वीकार किया।

भारतीय काव्य का उद्देश्य जीवन के महनीय तत्वो का समावेश कर लोक कल्याण की भावना की अभिव्यक्ति करता है।

वस्तुत: हृदय में अलौकिक आनन्दमय रस का उन्मीलन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है।

काव्य हेतु

काव्य कवि कर्म है और कर्म मे निपुण व्यक्ति ही कवि कहा गया है और कवि को इस ससार का प्रजापति। (**'अपारे** काव्य ससारे कविरेक: **प्रजापतिः**) कवि की समता प्रजापति के साथ की जाती है। जिस प्रकार प्रजापति अपनी इच्छा से इस विशाल तथा विविध पदार्थ युक्त जगत् की सृष्टि करता है, उसी प्रकार कवि भी स्वेच्छापूर्वक नवीन काव्यों का सृजनकर्ता है। जो सहृदयों के हृदय मे आनन्द का अभूतपूर्व संचार उत्पन्न करता है। इस सृष्टि कार्य मे उसकी श्लाघनीय शक्ति का नाम है 'प्रतिभा'।

आचार्य मम्मट ने ब्रह्मा की सृष्टि से कवि की सृष्टि को विलक्षण तथा विशिष्ट बताया है।[१]

भारतीय काव्याचार्यों ने इस प्रश्न का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन किया है कि कवि में वह कौन सी शक्ति है जिसके कारण वह सामान्य मानव होकर भी असाधारण काव्य रचना करने में समर्थ होता है।

काव्य रचना के कारणों पर विचार करते हुये आलंकारिको ने विविध विचार व्यक्त किये, कुछ आचार्यों के मतानुसार **प्रतिभा** कवि के लिये काव्य का प्रधान साधन होती है और व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक तत्व होते हैं, पर अन्य आचार्यों का मत है कि—प्रतिभा, जिसका ऊपर पर्याय शक्ति है', व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो समुदित रूप से काव्य रचना के हेतु हैं।

सभी विचारों पर सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टि से विचार करने से एक बात स्पष्ट रूप से हमारे समझ आती है कि प्राय: सभी आचार्यों ने समवेत स्वर मे प्रकारान्तर से प्रतिभा को ही काव्य रचना के मुख्य हेतु के रूप में स्वीकार किया तथा प्रतिभा के संस्कारक के रूप मे व्युत्पत्ति और अभ्यास को महत्ता प्रदान की गयी।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का इस विषय में क्या विचार है इस पर चर्चा करने से पूर्व, उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

प्रतिभा के विषय में आचार्यों ने बड़ी ही उदात्त शैली मे स्पष्ट किया है कि प्रतिभा क्या है और प्रतिभा किस प्रकार से काव्य रचना में सहायक होती है।

संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम आलंकारिक भामह की सम्मति मे शास्त्र और काव्य का अध्ययन करने

---

१. नियति-कृत-नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितामदधती, भारती कवेर्जयति॥
(काव्य प्रकाश मंगल श्लोक)

वालो मे यही अन्तर होता है कि जड़ बुद्धिवाला मनुष्य भी गुरू के उपदेश से शास्त्र को अच्छी तरह से पढ़ सकता है, परन्तु काव्य की स्फूर्ति उसी व्यक्ति मे हो सकती है जो प्रतिभा सम्पन्न होता है।[1] भामह के अनुसार प्रतिभाशाली व्यक्ति मे ही काव्यनिर्माण की क्षमता होती है। वे प्रतिभा को अनिवार्य काव्य हेतु स्वीकार करते है। तथा व्युत्पत्ति की उपयोगिता स्वीकार कर के कवि के लिये लोक, शास्त्र तथा कला का ज्ञान आवश्यक मानते है।

दण्डी प्रतिभा, अध्ययन तथा अभ्यास तीनो के सम्मिलित रूप को काव्य हेतु मानते हैं।[2] दण्डी ने बताया कि प्राक्तन संस्कार से उत्पन्न प्रतिभा के अभाव मे भी अध्ययन तथा काव्याभ्यास के कारण सरस्वती किस पर अनुग्रह नही करती। यश की कामना करने वाले कवि के लिये आवश्यक है कि आलस्य का परित्याग करके सरस्वती की सतत अराधना (अध्ययन) तथा काव्याभ्यास मे निरत रहे। इससे कवित्व अत्यल्प मात्रा में ही होगा किन्तु काव्याभ्यासी को रसिको को गोष्ठी मे विहार करने की शक्ति प्राप्त हो जायेगी।[3] इस प्रकार दण्डी के अनुसार काव्य की उत्कृष्टता के हेतुओ मे स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर एवं दोषरहित शास्त्र श्रवण तथा काव्य रचना का निरन्तर अभ्यास तीनों को समष्टि रूप से स्थान मिला।

वामन ने काव्य हेतुओ का विस्तृत विवेचन करते हुये बताया कि लोक, विद्या और प्रकीर्ण काव्यसृजन की क्षमता प्राप्त करने वाले अगो मे है।[4]

वामन भी इस विषय मे दण्डी के अनुयायी ही प्रतीत होतें हैं। ये प्रतिभा को 'प्रतिभान' शब्द के द्वारा अभिहित कर उसे कवित्व का बीज मानते हैं।

रूद्रट ने भी काव्यकारणों मे प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को एक साथ कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे 'शक्ति' शब्द का प्रयोग करतें है। एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के समक्ष प्रतिभासित होतें हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना होती है, उसी का नाम शक्ति है। 'शक्ति' प्रतिभा का ही दूसरा नाम है।[5]

---

१. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम्।
काव्य तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत। —(काव्यालंकार)। १/५

२. नैसर्गिकी चप्रतिभा श्रुत च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः करणं काव्यसम्पद.। —काव्यादर्श १-१०३

३. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेनें यत्नने च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येत कम्प्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥ —काव्यादर्श-१/१०३-१०५

४. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि॥ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति१ । ३ । २

५. मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधामधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति, यस्यामसौ शक्तिः॥ —(रूद्रट काव्यालंकार, १ । १५

आनन्दवर्धन ने इस तथ्य का विवेचन कर काव्यहेतु मे शक्ति की महत्ता का आख्यान किया।[१] उन्होने बताया कि प्रतिभाविहीन व्यक्ति कुछ कर सकता और प्रतिभाशाली कवि के पास प्रतिपाद्य विषय का अभाव नही रहता ; वह प्राचीन विषय को भी अपनी प्रतिभा के द्वारा नव्यता प्रदान कर उसमे नूतनभावो का सचार करता है।

मम्मट ने प्राक्तन परम्परा प्रवाह का समाहार करते हुये काव्यहेतु निरूपण किया।[२] मम्मट का सिद्धान्त है कि शक्ति, निपुणता और अभ्यास, ये तीनो मिलकर काव्य की निष्पत्ति मे सम्मिलित रूप से कारण होते हैं। मम्मट प्रतिभा या शक्ति को काव्य का बीजभूत संस्कार मानते हैं, जिसके अभाव में काव्य की सृष्टि संभव नही, निष्पन्न होने पर वह काव्य लोकप्रिय नही होता, प्रत्युत उपहास का कारण बनता है।[३]

काव्य शास्त्र तथा अन्य विद्याओ के अनुशीलन से जो चातुरी उत्पन्न होती है, उसी का नाम निपुणता है। प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यवहृत 'व्युत्पत्ति' को ही मम्मटाचार्य ने निपुणता का नाम दिया है। काव्यमर्मज्ञ विद्वान् के पास रहकर उसकी शिक्षा के द्वारा काव्य कला के निरन्तर चिन्तन का नाम ही अभ्यास है। सच तो ये है कि काव्य मर्मज्ञ की शिक्षा कविता के जिज्ञासुओ के लिये अमृत का काम करती है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति से सम्पन्न होने पर भी कवि अपने मनोरथ मे तब तक कृतकार्य नही होता जब तक वह सद्गुरू की शिक्षा से काव्य का अभ्यास नही करता है।

मम्मटाचार्य न शक्ति निपुणता और अभ्यास तीनो को काव्य का स्वतंत्ररूप से अलग-अलग कारण न मानकर समुदित रूप से ही कारण माना।

इसी कारण कारिका में 'हेतु' शब्द का प्रयोग एकवचन में किया गया, बहुवचन मे नही। (हेतुर्नतु हेतवः)। जैनाचार्य हेमचन्द्र के मत से प्रतिभा ही काव्यनिर्माण का प्रधानकारण है और इसके अभाव मे व्युत्पत्ति एवं अभ्यास व्यर्थ हो जाते हैं। कवि प्रतिभासम्पन्न हो तो व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा उसका सस्कार किया जा सकता है।[४] हेमचन्द्र न गौण रूप से व्युत्पत्ति, अभ्यास और शिक्षा को भी काव्यहेतुओं में स्थान दिया है, पर उसका प्रधान कारण वे प्रतिभा को ही मानते हैं। उनका यह विवेचन मम्मट से अनुप्राणित है।

लोकशास्त्र तथा काव्य में नैपुण्य की प्राप्ति व्युत्पत्ति है तथा काव्यरचना एवं उसके गुण दोष को जानने

---

१. अव्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवे·।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झगित्यवभासते॥
"न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः —ध्वन्यालोक ४/६

२. शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ —काव्यप्रकाश १/ ३

३. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। काव्यप्रकाश

४. प्रतिभाऽस्य हेतुः। प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा। अस्य काव्यस्येदं प्रधानं कारणम्। व्युप्त्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कारकाविति वक्ष्यते।_अतएव न तौ काव्यस्य साक्षात् कारणम्, प्रतिभोपकारिणौ तु भवतः दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्यभ्यासौ।—काव्यनुशासन, पृ० ५६

वाले व्यक्तियो से शिक्षा ग्रहण कर काव्य लेखन मे प्रवृत्त होकर अभ्यास करने का अभ्यास कहते है।[१]

जैनाचार्य हेमचन्द्र का अनुसरण करते हुये आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी व्युत्पत्ति और अभ्यास से परिष्कृत प्रतिभा को ही काव्य कारण मानते है।[२] काव्य के स्फुरण मे साधनभूत प्रतिभा को आत्मा की ही कोई शक्ति मानते है। प्रतिभा के द्वारा ही कवि लोकोत्तर काव्य रचना मे समर्थ है।[३] नरेन्द्रप्रभसूरि पर काव्यानुशासन एव काव्यप्रकाश का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। जिस **'प्रतिभा'** का गुणगान आचार्यगण कर रहे है ; वो प्रतिभा आखिर क्या है ? प्राय: सभी आचार्यो ने समवेत स्वर मे काव्यकला के उन्मीलन मे प्रतिभा को ही प्रधान हेतु माना। प्रतिभा का साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत और विशाल है।

वाणी की अभिव्यक्ति के दो मार्ग है—शास्त्र और काव्य। इनमे से शास्त्र, प्रज्ञा के ऊपर आश्रित है तथा काव्य, प्रतिभा की उपज होता है।

प्रतिभा के प्रकर्ष से ही कवि चमत्कारि सुन्दर काव्य का सृजन करता है। प्रतिभा ही कवि के अलोक सामान्य अभिव्यक्ति का प्रमुख कारण है।

भारतीय दर्शन तथा साहित्यशास्त्र मे प्रतिभा की बड़ी मार्मिक तथा आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है। प्रतिभा का शाब्दिक अर्थ है 'झलक' अर्थात् कारण के अभाव मे भी भावो का स्वत. प्रकाश या आविर्भाव। भारतीय दर्शन की विविध शाखाओ ने अपने दृष्टिकोण से प्रतिभा की गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की है और इसका प्रभाव अलंकारशास्त्रीय कल्पना पर भी विशेष रूप से पड़ा है।

प्रतिभा का बीज मानवहृदय मे किस प्रकार अकुरित होता है ? इस प्रश्न का समाधान समालोचकों ने मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। अधिकाश शास्त्रकार प्रतिभा को पूर्वजन्म मे उत्पन्न संस्कार विशेष मानते हैं। दण्डी प्रतिभा को पूर्व वासना के गुणों से सम्बद्ध बतलातें हैं। वामन भी इसे जन्मान्तर संस्कार मानते हैं।[४] इसकी पुष्टि अभिनवगुप्त ने भी अभिनव भारती मे की है।[५]

प्रतिभा है क्या ? यह पूर्वजन्म से आने वाला विशिष्ट संस्कार है। यह वासना रूप मे कवि के हृदय मे निवास करता है। प्रतिभा के बिना प्रथमत: काव्य निष्पन्न ही नही होता है और यदि यह निष्पन्न हुआ भी तो उपहास का पात्र बनता है। प्रतिभा कवित्व का बीज अर्थात् उपादान रूप संस्कार विशेष है।

---

१ लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्ति।
लोकेस्थावर जङ्गमात्मके लोकवृत्ते च, शास्त्रेषु शब्द छन्दोनुशासनाभिधानकोशश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमप्रणीतेषु निपुणत्व तत्त्ववेदित्वं व्युत्पत्तिः। काव्यविच्छिक्षया पुनः पुनः प्रवृत्तिरभ्यासः॥ —काव्यनुशासन पृ० ७, १३

२. कारणं प्रतिभैवास्य व्युत्पत्त्यभ्यासवासिता।
बीजं नवाङ्कुरस्येव काश्यपी जलसङ्गतम्॥ —अ० महा० १/६

३. जगच्चेतचमत्कारि कविकर्मनिबन्धनम्।
काचिदप्यात्मनः शक्ति· प्रतिभेत्यभिधीयते। —अ० महा० १/७

४. जन्मान्तर संस्कार विशेषः कश्चित्—वामन

५. अनादि प्राक्तन संस्कार प्रतिभानमयः। अभिनवभारती।

प्रतिभा को ऐसी सृजनात्मक शक्ति के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है जिसके द्वारा कवि, काव्य-विषय, रमणीयता से परिपूर्ण चमत्कृत शैली मे सहृदय सामाजिक के समक्ष चित्रवत् सा प्रस्तुत कर देता है। कवि को एक प्रकार का सिद्ध पुरुष या भविष्य दृष्टा माना गया है जो अपनी अद्भुत दृष्टि से अदृष्टपूर्व रमणीय वस्तुओ को प्रत्यक्षीकरण करता है। तथा अपरोक्षपदार्थ को भी प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत कर जनसामान्य के लिये भी ग्राह्य बना देता है ; पर प्रतिभाहीन के लिये तो प्रत्यक्ष भी अप्रत्यक्ष ही है।

प्रतिभा के महत्व का विशेष प्रतिपादन अग्निपुराण मे भी मिलता है—'इस ससार मे मानव जन्म दुर्लभ है, मानव जन्म प्राप्त कर लेने पर विद्या तो और भी दुर्लभ है, इससे भी दुर्लभ है कवित्व तथा सर्वाधिक दुर्लभ है कवित्व शक्ति।[१]

ध्वन्यालोक मे कवि की सृजनात्मक शक्ति के विषय मे सुन्दर और उदात्त शैली मे जो कुछ वर्णित किया गया, वह अद्वितीय है। प्रतिभा एक सहज स्वाभाविक नैसर्गिक तत्व है, जो कि नित नूतन उद्भावना करने मे समर्थ है।[२] प्रतिभासम्पन्न कवियो का काव्य हार्दिक अनुभूतियो का अभिव्यंजक होता है। शब्द और अर्थ, स्फुरणा तथा अभिव्यञ्जना इन दोनो का **उन्मीलन** कवि प्रतिभा से ही करता है।

रुद्रट ने प्रतिभा के दो प्रकार बताये हैं—सहजा और उत्पाद्या। सहजा प्रतिभा कवि मे जन्मजात होती है, और वह काव्यनिर्माण का मूलभूत साधन है। उत्पाद्या अध्ययन जन्य होती है (यह अर्जित शक्ति है) तथा व्युत्पत्ति से उद्भूत होती है, इससे सहजा प्रतिभा का सस्कार या परिष्कार होता है। सहजा जन्म से उत्पन्न होने के कारण दोनो मे प्रशस्यतर है।[३]

प्रतिभा मे वह शक्ति है जिससे कि प्रयत्न के बिना ही शब्दार्थ मे सौन्दर्य स्फुरित सा दिखायी पड़ता हैं।[४] अर्थात् कवि प्रतिभा का मुख्य कार्य है—शब्द और अर्थ में अपूर्व सौन्दर्य का प्रस्फुरण।

प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण अभिनवगुप्त के गुरू भट्टतौत ने दिया—**'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'**।—अर्थात् नये-नये अर्थों का उन्मीलन करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है।

आचार्य अभिनवगुप्त प्रतिभा को 'अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमाप्रज्ञा' कहते है।[५] कवि की प्रतिभा इसी का एक प्रकार विशेष है जिसके द्वारा कवि रसावेश की स्थिति मे कलाकृति का निर्माण करता है।

इसका तात्पर्य ये है कि सामान्य रूपो की सृष्टि करने वाली प्रतिभा सामान्य तथा सौन्दर्यरूपो की सृष्टि

---

१ नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥ —।अग्निपुराण।

२ शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेत्, नीरसं सर्वमेतत्। —ध्वन्यालोक

३. प्रतिभेत्यपरैरुदितारू सहजोपाद्या च सा द्विधाभवति। १/१६ काव्यालंकार

४. प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोस्तः स्फुरतीव विभाव्यते॥ —हि० व० जी पृ०-१२४

५ तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्य काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। ध्वन्यलोकलोचन

करने वाली प्रतिभा कवि प्रतिभा है। सचमुच प्रतिभा ऐसी ही शक्ति है जिसके द्वारा कवि भावावेश मे सर्वथा अनछुये विलक्षण सौन्दर्य प्रसगो को चित्रवत् प्रस्तुत कर अपनी अद्वितीय प्रतिभा का प्रस्फुरण करता है।

प्रतिभा का अर्थ है नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा। स्मृति, मति और बुद्धि क्रमश अतीत, भविष्य और वर्तमान के ज्ञान विषयो का आत्मसात् करती है, किन्तु प्रज्ञा मे त्रैकालिक विषयो का साक्षात्कार होता है।[१] ऐसी प्रज्ञा ही काव्य प्रतिभा का हेतु बनती है।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार शक्ति से व्युत्पन्न कवि सभी नही होते है. ऐसे प्रतिभा सम्पन्न कवि, कवियो की लम्बी परम्परा मे कालिदास आदि दो-तीन या पॉच-छ ही है।[२]

कुन्तक का समग्र 'वक्रोक्ति जीवित' नामक ग्रन्थ प्रतिभा की अतिगूढ़ व्याख्या है उनका स्पष्टमत है कि काव्य मे कवि प्रतिभा का ही चरम उत्कर्ष रहता है।[३] काव्य के समग्र सौन्दर्य साधनो का प्राण यही प्रतिभा है। कविता मे रसभाव तथा अलकार समस्त काव्यशोभा के विधायक अंगों का प्राण कवि कौशल ही है। यह 'कवि कौशल' कवि प्रतिभा व्यापार का ही दूसरा नाम है। कुन्तक के अनुसार पूर्व जन्म तथा इस जन्म के सस्कार के परिपाक से पुष्ट होने वाली विशिष्ट कवित्व शक्ति ही प्रतिभा है।[४]

जैनाचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार प्रतिभा दो प्रकार की होती है—सहजा और औपाधिकी।[५] उन्होने सहजा प्रतिभा के स्वरूप की व्याख्या करते हुये कहा कि जिस प्रकार प्रकाश स्वभाव वाले सूर्य के ऊपर मेघ आवरण की भांति आच्छादित हो जाते है, उसी प्रकार प्रकाशपूर्ण आत्मा भी विविध प्रकार के आवरणों से ढंक जाता है। उन आवरणो के नष्ट हो जाने पर जो चिन्मय प्रकाश प्रस्फुटित हो जाता है, वही प्रतिभा है। यह प्रकाश दो प्रकार से उद्भासित होता है—एक तो स्वत· स्वाभाविक रूप से होता है दूसरा मन्त्र तन्त्र के द्वारा अथवा देवाराधन एवं किसी विद्वान् की अनुकपा से।[६]

सस्कृत साहित्य के अन्तिम महान् आचार्य जगन्नाथ ने भी काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना है।[७] हेमचन्द्र के समान व्युत्पत्ति और अभ्यास को उन्होने भी प्रतिभा का कारण स्वीकृत किया है, न कि काव्य का।

हेमचन्द्र से ही प्रभावित हो आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि काव्य का मुख्य कारण प्रतिभा का मानते है तथा व्युत्पत्ति

---

१ स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागमिगोचरा बुद्धिरतात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता (रुद्र)

२. अस्मिन् अतिविचित्र-कवि परम्परावाहिनि ससारे कालिदासप्रभृतयो दित्रा पचषाव महाकवयो गण्यन्ते। ध्वन्यालोक १/६

३. कवि प्रतिभा प्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। व० जी०

४. प्राक्तनाद्यतनसंस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा—काचिदेव कविशक्ति। व० जी०

५. प्रतिभाऽस्य हेतुः। प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा। अस्य काव्यस्येदं प्रधानं कारणम्। व्युत्पत्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कारकाविति वक्ष्यते।_अतएव न तौ काव्यस्य साक्षात् कारणम् प्रतिभोपकारिणौ तु भवतः दृश्येते ही प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्यभ्यासौ। काव्यानुशासन, पृ० ५-६

६ भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ० ५-६

७. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा च। र० गं० १म आ०, पृ० ९

और अभ्यास का उसका सस्कारक हेतु मानते है, आचार्य सूरि ने एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण एव अनुमोदन किया है। मिट्टी और जल के सयोग से बीज ही अकुर का हेतु है। ('बीज नवाकुरस्येव काश्यपी जल सगतम्')

प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति का भी काव्य रचना मे महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि काव्य रचना केवल कल्पना से सजीव नही हो सकती है , उसकी सजीवता के लिये लोक और शास्त्र का परिज्ञान अति आवश्यक है।

व्युत्पत्ति अर्थात् विभिन्न शास्त्रो तथा काव्यो के अध्ययन-अध्यापन और लोक व्यवहार द्वारा वस्तुतः सहज प्रतिभा का परिपोष होता है। व्युत्पत्ति से वह परिष्कृत, प्रखर, चमत्कृत, शक्तिसम्पन्न, मर्मस्पर्शिनी तथा सारग्राहिणी हो उठती है।

ध्वनिवादियों ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा के स्फुरण के साधन रूप मे प्रस्तुत किया तथा वस्तुविमर्श से उत्पन्न निपुणता को ही व्युत्पत्ति कहा। यह व्युपत्ति ही काव्योद्भव मे प्रतिभा की सहायक है।

आचार्य वाग्भट्ट प्रथम व्युत्पत्ति की व्याख्या करते हुये लिखते है कि व्याकरण, कोश आदि शब्दशास्त्र श्रुति, स्मृति, पुराण, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा काव्यालकार शास्त्र मे गुरू परम्परा से रीतिपूर्वक उपदेश ग्रहण करके जो असाधारण ज्ञान प्राप्त किया जाता है वही व्युत्पत्ति है।[१] राजशेखर ने प्राचीन आचार्यो के आधार पर व्युत्पत्ति को बहुज्ञता कहा है ; **'बहुज्ञता व्युत्पत्ति'** यह बहुज्ञता निपुणता या व्युत्पत्ति कवि या काव्यकर्त्ता के लिये आवश्यक है क्योकि इस ज्ञान और अध्ययन से उनके विचार प्रमाणिक बनते है और वे पाठक को क्रान्तिकारी चेतना देने मे समर्थ होता है, क्रान्तिकारी चेतना वही दे सकता है, जिसे उचितानुचित का विवेक हो—यह उचितानुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।[२] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि लोकवृत्त, शास्त्र, काव्यादि के निरीक्षण एवं अनुशीलन से प्राप्त निपुणता को ही व्युत्पत्ति कहते हैं।[३]

प्रतिभा और व्युत्पत्ति से सम्पन्न कवि 'अभ्यास' द्वारा कवि कर्म मे कुशलता प्राप्त करता है—'अभ्यासो हि कर्मसुकौशलमावहति।

काव्य रचना की पौनः पुन्येन प्रवृति अभ्यास कही जाती है। काव्य तत्त्वज्ञो का सानिध्य प्राप्त करके कवि को अपनी रचना को परिमार्जित और परिष्कृत करना चाहिये।

मम्मट के अनुसार जो काव्य का सृजन तथा विवेचन कर सकते है उनके उपदेश के अनुसार शब्द योजना मे बार-बार प्रवृति ही अभ्यास है।[४]

---

१ शब्द धर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वम्नाय पूर्विका।
__व्युत्पत्तिरभिधीयते॥ —वाग्भटालकार।

२. 'उचितानुचित विवेको व्युत्पत्तिः' इति यायावरीयः।

३. लोके शब्दादिशास्त्रेदु काव्य-नाट्य-कथासु च।
आगमादिषु च प्रौढिर्व्युत्पत्तिरिति कथ्यते। अ० महा०, १/८

४. काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौन पुन्येन प्रवृतिरिति_।—काव्यप्रकाश १/३ वृत्ति।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी प्रकारान्तर से अपना यही मंतव्य प्रस्तुत करते है।[१]

भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त आदि सभी आचार्यो ने 'अभ्यास' के महत्व को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है।

इस प्रकार दण्डी प्रतिभा के बिना भी किन्ही अवस्थाओ मे व्युत्पत्ति और अभ्यास के आधार पर काव्य रचना को स्वीकृत करते है। भामह से लेकर जगन्नाथ तक प्राय. सभी प्रमुख आचार्यो ने सभी काव्य हेतुओ मे प्रतिभा को ही महत्व प्रदान किया।

आनन्दवर्द्धन प्रतिभा को काव्य का अनिर्वाय हेतु तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का काम्य हेतु स्वीकार करते है।

यद्यपि मम्मट तीनो हेतुओ के समष्टि रूप के पोषक आचार्य है, पर फिर भी वे शक्ति या प्रतिभा को ('शक्ति कवित्वबीजरूप. संस्कार विशेष:') कहते हुये उसकी विलक्षणता को स्वीकार करते है। जैनाचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि प्रतिभा को काव्य का हेतु ; और व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका संस्कारक मानतें है।

इस प्रकार सभी आचार्यो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से काव्य हेतुओ को स्वीकार किया।

अन्ततः कह सकते है कि कवि के पास 'नवानवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' और 'वर्णननिपुणता' का होना आवश्यक है। वही कवि विशेष सफल होता है। काव्य का काव्यत्व कवि कौशल पर आधृत है जिसका निकष मनः प्रसादन है।

काव्य भेद

काव्य का क्षेत्र और सीमाये अत्यधिक व्यापक है उसके अन्तस्थ मे सभी प्रकार के भाव, विचार, कल्पनाये समा सकती हैं।

सस्कृत काव्यशास्त्र की असीमित काव्य परम्परा में काव्य स्वरूप या काव्य की आत्मा का जो भी आलोचनात्मक अध्ययन हुआ, उसमें शब्द सौन्दर्य, अर्थ की विलक्षण सौन्दर्ययुक्त रमणीयता, रसोत्कर्ष, सौन्दर्य समन्वित अलंकार योजना के साथ-साथ काव्य के भेदो पर भी विचार हुआ।

शब्द और अर्थ का प्रत्येक संयोग काव्य नही बन जाया करता है, बल्कि वही सामंजस्य काव्य रूप मे परिणत हो जंाया करता है जिसमे कि प्रबल अनुभूति रमणीय रूप मे रूपायित हो जाया करती है। जब किसी भाव, विचार को विशेष चमत्कारपूर्ण ढग से हृदयस्पर्शी एवं प्रभावशाली बनाने के लिये इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उसमे मुख्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य गहन अथवा विशिष्ट अर्थ का बोध हुआ करता है, वह अर्थ व्यंग्यार्थ हुआ करता है। यह व्यग्यार्थ ही वास्तव मे 'रमणीयता' का काव्य मे सन्धान एवं समावेश करता है। ऐसे अर्थ की अभिव्यक्ति में ही विशेष प्रकार की प्रभविष्णुता रहा करती है। इसी रमणीयता एवं

---

१. केवलेऽथ प्रबन्धस्थे काव्ये काव्यज्ञशिक्षया।
पुनः पुनः प्रवृतिर्या सोऽभ्यासः परिकीर्तितः॥ —अलंकार महोदधि १/९

प्रभाव के आधार पर **काव्य के तीन भेद** आचार्यो ने एकमत मे स्वीकार किये।

ध्वनि की स्थापना के पश्चात् ध्वनि को आधार मानकर आनन्दवर्द्धन ने काव्य के तीन भेद किये—

ध्वनि काव्य,[१] गूणीभूतव्यग्य[२] और चित्रकाव्य।[३]

इन्हे परवर्ती मम्मटादि आचार्यो ने उत्तम, मध्यम और अवर काव्य के नाम से अभिहित किया।

ध्वनिसम्प्रदाय के काव्याचार्यों में सर्वप्रथम मम्मट ने ही काव्य का 'प्रकारत्रय'निर्धारित किया।[४] जैनाचार्य हेमचन्द्र[५] और नरेन्द्रप्रभसूरि ने[६] भी मम्मट सम्मत उत्तम, मध्यम और अधम काव्य के तीन भेद ही स्वीकार किये। काव्य के इस वर्गीकरण का आधार व्यञ्जना वृत्ति है।

(१) ध्वनिकाव्य या उत्तमकाव्य—अभिधावृत्ति से प्रतिपादित अर्थ वाच्यार्थ कहा जाता है। व्यंजना वृत्ति से ज्ञात अर्थ व्यग्यार्थ होता है। इन दोनो अर्थों मे जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंगयार्थ अधिक चमत्कारी होता है, वह उत्तम काव्य होता है।[७] इसी को ध्वनिवादी आचार्य काव्य की सज्ञा देतें हैं। इस प्रकार के काव्य के उदाहरण कालिदासादि मूर्धन्यकवियो के काव्य हैं। जहाँ अर्थ स्वय को तथा शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण कर विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करते है, वह काव्य विशेष ही ध्वनि है।[८] शब्द और अर्थ के गुणीभाव और 'रसाङ्गभूतव्यापार प्रवणता' की पहचान काव्य के इसी भेद मे की जाती है। आचार्य सूरि भी व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने पर उसे उत्तम काव्य या ध्वनि कहते है।[९]

(२) मध्यम काव्य—जिसे ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने गूणीभूत व्यंग्य कहा, उसे ही मम्मट ने मध्यम काव्य कहा।

जिस काव्य मे वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यंगय अर्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो—उससे उत्कृष्ट हो, अर्थात् व्यंग्य का चमत्कार स्पष्ट न हो और वाच्य का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत हो रहा हो। 'मध्यम' काव्य का स्वरूप वह है कि जिस काव्य मे व्यंग्यार्थ वाक्यार्थ की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी नहीं होता अर्थात् वाच्यार्थ स्वयमेव चमत्काराक होता है, वह मध्यम काव्य है।[१०] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी व्यञ्जना व्यापार के गुणीभाव को

---

१ ध्वन्यालोक—१/१३।

२. ध्वन्यालोक—।३।३५।

३. ध्वन्यालोक—।३।४२।

४. काव्यप्रकाश ।१,४,५,

५. काव्यानुशासन।२,५६,५८

६. अलंकार महोदधि।१,१५

७. इदमुत्तममतिशायिनी व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। काव्यप्रकाश १/४

८. यत्रार्थः शब्दो वातमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरभिः कथितः। —ध्वन्यालोक, १/१३

९. वाच्यवाचकयोरन्यद् धिचित्रत्वं तिरोदधत्।
व्यञ्जकत्वं स्फुरेद् यत्र तत् काव्यं ध्वनिरूत्तमम्॥ —अ० महा० १/१५

१०. अतादृशी गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्। का० प्र०, १/५

मध्यम काव्य कहते है।[1]

ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूतव्यग्यकाव्य के पारस्परिक अन्तर का निर्देश करते हुये आचार्य आनन्दवर्धन कहते है कि 'एक मे व्यग्यार्थ की अनुभूति पर्याप्त मात्रा मे होती है तो दूसरे मे व्यग्यार्थ गर्भित वाच्यार्थ की अनुभूति'।[2] और यह 'गुणीभूतव्यंग्य' भी साक्षात् अथवा प्रथम व्यंग्य अर्थ की गौणता की दृष्टि से किया गया एक प्रकार है, अन्यथा पर्यवसायी रसाभावादि की दृष्टि से तो यह गुणीभूतव्यग्य भी 'ध्वनि' ही कहलायेगा।[3] कवि की विवक्षा कभी रसादि ध्वनि का सौन्दर्य दिखाना चाहती है, कभी रसादि ध्वनि से रमणीय वाच्य सौन्दर्य में अपना उन्मेष दिखलाती है।

'व्यड्ग्य का गुणीभाव भी कवियो की वाणी की एक विचित्र पवित्रता हैं, ऐसा अभिनवगुप्त मानते है व्यग्य से संवलित वाच्य की रस प्रवणता की पहचान में भी अद्भुत सौन्दर्य निहित है।

आचार्य आनन्दवर्धन तो 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य के सौन्दर्य रहस्य से तो मंत्रमुग्ध से है। वे गुणीभूतव्यंग्य के मूल मे ध्वनि की सत्ता मानते हुये उसे ध्वनि का निष्यन्द रूप कहते हैं।[4] शायद इसी कारण पण्डितराज-जगन्नाथ ने भी गुणीभूतव्यंग्य का 'उत्तम' नाम देकर विद्यमान ध्वनि की सत्ता की ओर सकेत किया।[5]

(३) **अधम काव्य**—आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा 'चित्र काव्य' सज्ञित काव्य प्रकार को मम्मट ने अधम काव्य की श्रेणी मे रखा। मम्मट के अनुसार जिस काव्य मे व्यंग्यार्थ की अपेक्षा शब्द एवं वाच्य चित्रों का ही प्राधन्य होता है, उसे अवर या अधम काव्य कहा जाता है।[6] नरेन्द्रप्रभसूरि भी जहाँ व्यंग्यार्थ का पूर्णतया अभाव हो वहाँ अवर काव्य मानतें है।[7] अर्थात् जहाँ व्यग्यार्थ का संस्पर्श नही है वहाँ अवर काव्य है।

मम्मट ने अपनेअधम काव्य की प्रेरणा आचार्य आनन्द के चित्रकाव्य से ग्रहण की। तथा परवर्ती आचार्य सूरि आदि आचार्यों ने मम्मट से आधार ग्रहण किया।

आचार्य आनन्द का कथन है कि इस प्रकार व्यंग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थित होने पर वे दोनों ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य काव्य होते हैं और उससे जो भिन्न काव्य रह जाता है उसे 'चित्र' कहते है। शब्द और

---

१. तयोर्यत्रान्यवैचित्र्याद् व्यञ्जकत्वस्य गौणता।
तन्मध्यमं गुणीभूतव्यंग्यं काव्यं निगद्यते॥ —अ० महा०, १/१६

२. प्रकारोऽन्योगुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्य चारूत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥ —ध्वन्यालोक, ४/३५

३. प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्य पर्यालोचनाया पुनः॥
गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो, रसभावादितात्पर्यपर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते। वही / ३/ ४

४. तदयं ध्वनिनिष्यन्द रूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः।(ध्व० ३)

५. यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणमं तद् द्वितीयम्।
वाच्यापेक्षया प्रधानीभूत गुणीभूतव्यंग्यान्तरमादाय गुणीभूतव्यंग्यम् —तेन तस्य ध्वनित्वमेव। —(रस गंगाधर १)

६. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। का० प्र०। १/५

७. यत्रव्यञ्जनवैचित्र्यचारिमा कोऽपि नेक्ष्यते।
काव्याध्वनि सदाऽध्वन्यैस्तत् काव्यमवरं स्मृतम्। अ० महा० । १/१७

अर्थ के भेद से चित्र काव्य दो प्रकार का होता है। इनमे से कुछ शब्द चित्र होते है और उनसे भिन्न अर्थात् शब्द चित्र से भिन्न अर्थ चित्र कहलाते है।[१] इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यो ने अवर काव्य के दो ही भेद स्वीकार किये 'शब्दचित्र' और 'अर्थ चित्र'।

आनन्दवर्धन चित्रकाव्य को काव्य न कह कर काव्य का अनुकरण या आभासमात्र कहते है।[२] इस प्रकार अवर काव्य मे व्यग्यार्थ का पूर्णतया अभाव रहता है। तथा शाब्दिक चमत्कार की विद्युच्छटा ही चमत्कृत करती है।

इस प्रकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि अपने पूर्ववर्ती मम्मट की मान्यताओं के आधार पर ही काव्यस्वरूप काव्यभेद, काव्य का प्रयोजन और काव्य का कारण सम्बन्धी मान्यताओ को सिद्धान्त रूप मे स्थापित करते है।

अन्त मे आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि कहते है कि "जो सरस्वती के प्रवाह मे शब्दार्थ वैचित्र्य रूप तरङ्गो से युक्त काव्य कला रूपी मृणालिनी की श्री वृद्धि कर सकता है वही कवि रूपी सूर्य है।

'शब्दार्थ वैचित्र्यसुधातरङ्गिते सरस्वतीस्त्रोतसि मांसलश्रियम्।
करोति यः काव्यकला मृणालिनी स एव कश्चित् कविवासरेश्वरः ॥

□□□

---

१. गुणप्रधान भावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते।
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
अत्र, किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्। —ध्वन्यालोक ३/४२-४३

२ न तन्मुख्यं काव्यं।
काव्यानुकारोह्यसौ। —ध्व० ३/४२ वृत्ति

तृतीय अध्याय

शब्दार्थ वैचित्र्य

(१) शब्द वैचित्र्य विचार–

सस्कृताचार्यों के मतानुसार 'काव्य' लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि कर्म होता है। (लोकोत्तर वर्णना—निपुण कवि कर्म) कवि क्रान्तदर्शी होता है। (कवय: क्रान्तदर्शिन:) काव्य में व्यापार मुखेन ही चमत्कार तथा वैशिष्ट्य का आविर्भाव होता है। कवि ही काव्य का विधाता है। काव्य मे शब्द और अर्थ का मनोहारि समन्वय होता है। कुछ आचार्य काव्य को शब्दमय ही मानते हैं परन्तु अधिकॉश आचार्यो के मतानुसार काव्य शब्द और अर्थ का मञ्जुल समन्वय है। शब्द के उच्चारण करते ही अर्थ स्वत: ही प्रस्फुटित हो जाता है और शब्दार्थ युगलरूप से काव्यगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में समर्थ होते है।

'वागर्थ' के नित्य सम्बन्ध की उपमा **कालिदास** ने 'अर्धनारीश्वर' से दी है। जिस प्रकार पार्वती तथा शिव का परस्पर नित्य सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार वाक् और अर्थ भी स्वभावत: नित्य सयुक्त रहते है। काव्य इन दोनो मे समभाव से रहता है।

अलंकार-महोदधिकार भी; शब्दार्थ मे रहने वाला जो वैचित्र्य है, उसके योग को काव्य कहते है। (काव्य शब्दार्थ वैचित्र्ययोग:) भावाभिव्यक्ति का एकमात्र आधार शब्द होता है। महाकवि दण्डी ने शब्द की उपमा ज्योति के साथ दी है। यदि संसार मे ज्योति न हो तो यह संसार घनघोर अन्धकारमय हो जायेगा। उसी प्रकार शब्द की सत्ता न होने से यह संसार भी अंधेरी रात की तरह एक भयानक स्थल बन जायेगा।[१]

कवि शब्द के माध्यम से ही अपने भावो को सम्प्रेषणीय बनाकर उसे सहृदय संवेद्य बनाता है।

प्राचीन समय से लेकर अद्यावधि पर्यन्त आचार्यों ने शब्दार्थ की महिमा का बखान कर उसके अभिन्न शाश्वत सम्बन्ध का कथन किया है।

सस्कृत साहित्य में शब्दार्थ विवेचन, साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय और मीमांसा में भी सुव्यवस्थित ढंग से हुआ है। आनन्दवर्धन और मम्मट प्रभृति आचार्यो ने शब्द शक्ति विषयक सभी विषयो के विवेचन मे वैयाकरणो के प्रति श्रृद्धाभाव प्रदर्शित किया तथा उन्हे 'बुधै:' शब्द से अभिहित किया।

---

१. इदमन्धं तम· कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥ —काव्यादर्श।

भरत से लेकर नागेशभट्ट तक की विशाल परम्परा के गहन अवलोकन के पश्चात् समीक्षको ने पाया कि साहित्य शास्त्र पर व्याकरण का ऋण असंदिग्ध है। इसी कारण से काव्यशास्त्र को व्याकरण शास्त्र का पुच्छ कहा गया और व्याकरण को सभी शास्त्रो का मूल।[१] परन्तु फिर भी काव्यशास्त्र ने अपनी स्वतत्र सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखा। जहाँ पर उसकी विचारधारा व्याकरण से मेल खाती है, वहाँ पर वह उसका साथ देती है। परन्तु जहाँ पर उसकी विचारो की संगति व्याकरण से नही बैठी, वहाँ उसने उसका साथ छोड़ कर अन्य शास्त्रो की सहायता ग्रहण कर या तो अपनी स्वतंत्र मान्यताएँ स्थापित की या अपने पृथक् मार्ग का निर्धारण किया। उदाहरणार्थ, अभिधा के विवेचन में काव्यशास्त्र ने व्याकरण के विचारो को ग्रहण किया, पर लक्षणा के निरूपण मे उसने मीमांसको के मत को अपनाकर स्वतत्र मार्ग की स्थापना की, क्योकि व्याकरण, लक्षणा को स्वीकार नही करता है, इसी प्रकार व्यञ्जनावृत्ति की स्वीकृति मे काव्यशास्त्र की स्वतंत्र स्थिति प्रदर्शित हुयी है।

शब्द का महत्त्व स्वतत्र बने रहने मे न होकर अर्थ के साथ सयुक्त हो जाने मे ही है। इन दोनो के परस्पर सयोग से ही काव्य का विधान होता है। वास्तव मे शब्द मे अपार अर्थ को अभिव्यक्त कर पाने की अक्षय शक्ति संचित होती है। जिस साधन या शक्ति के द्वारा शब्द के अर्थ का बोध होता है, उसे शब्द शक्ति कहते हैं। किसी शब्द का अस्तित्व और महत्त्व उसके द्वारा ज्ञात होने वाले अर्थ पर निर्भर है। किसी शब्द के उच्चारण और उसके अर्थ के प्रकाशन के मध्य जो एक अप्रत्यक्ष प्रक्रिया होती है, वही शब्दशक्ति कहलाती है। प्रत्येक शब्द एक या अनेक अर्थो का अवबोधक हो सकता है। अतः शब्द शक्ति को अर्थबोधक व्यापार का मूल माना जा सकता है।

शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं।—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना—जो तीन प्रकार के अर्थों को बताती है—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी शब्द के तीन प्रकार बताये—वाचक, लक्षक या औपचारिक और व्यंजक।[२] तीन प्रकार के शब्द के आधार पर ही तीन प्रकार के अर्थ एवं तीन शक्तियों की कल्पना की गयी।

इस प्रकार तीन प्रकार के शब्दों—वाचक, औपचारिक, और व्यंजक से क्रमशः तीन प्रकार के अर्थ प्रकट होते हैं और वे क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियो या शक्तियो द्वारा अवबोधित होते हैं। फलतः, शक्ति को शब्दार्थ-सम्बन्ध व्यक्त करने वाला साधन माना जाता है। इन शक्तियों को संस्कृत ग्रन्थों में प्रायः 'वृत्ति' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

वाचक शब्द—साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक वाचक शब्द होते हैं, जिस शब्द के श्रवण मात्र से उसके सामान्य प्रचलित अर्थ की प्रतीति हो तो उसे 'वाचक' शब्द कहा जायेगा। वाचक शब्द का अर्थबोध कराने के

---

१. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्, ते च श्रूयमाणेसु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरिति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थं दर्शिभिर्वाच्यवाचकसंमिश्रः शब्दात्मां काव्यमिति व्यपदिश्य व्यञ्जकत्व साम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। ध्वन्यालोक १/१३—काव्यप्रकाश, १/१४ वृत्ति।

२. शब्दः स्याद् वाचकश्चौपचारिको व्यञ्जकस्तथा।
अर्थैर्वाच्यादिभिस्तत्र तावन्निर्वच्मि वाचकम्॥ अलंकार महोदधि २/२।

लिये प्राचीन आचार्यो ने सकेत ग्रह या संकेत ग्रहण का वर्णन किया है।[1] सकेतग्रह से अभिप्राय शब्द और अर्थ के निश्चित सम्बन्ध ज्ञान से है।

शब्द को सुनकर जिस अर्थ की अव्यवहित रूप से नियमत: प्रतीति होती है, उस अर्थ मे उस पद का सकेत माना जाता है। अत. सकेत शब्दनिष्ठ अर्थ विषयक होता है, जैसे—गोपद का सकेत गोपदार्थ मे है, क्योकि गोपद को सुनकर नियमत: सर्वप्रथम गोपदार्थ का ही ज्ञान होता है, अश्वादि का नही।

आलंकारिको के अनुसार, सकेतग्रह व्यक्ति में नही होता, किन्तु व्यक्तियों की उपाधि में होता है। ये उपाधियॉ चार हैं—जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा।[2] इस उपाधि भेद के कारण चार प्रकार के वाचक शब्द होते हैं—जाति के वाचक गो आदि, गुण के वाचक शुक्ल आदि, क्रिया के वाचक चल आदि तथा संज्ञा के वाचक डित्थ, डवित्थ, हरि, हर आदि। आलकारिको की इस मान्यता का आधार व्याकरणशास्त्र है।[3]

महाभाष्यकार शब्दो के चार विभाग करते है—जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्द। केवल व्यक्ति मे संकेतग्रह माना जाये तो शब्दो के चार विभाग नही बन पायेंगे। ऐसी स्थिति मे गौ, शुक्ल, चल, डित्थ आदि चारो शब्द व्यक्ति अर्थ को ही बोधित करने लग जायेंगे। अत: व्यक्ति में संकेत न मानकर जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा, जो व्यक्ति के उपाधि रूप ही है, धर्मों में ही संकेतग्रह मानना ठीक होगा।

'गो' इस जातिवाचक शब्द का सकेत 'गोत्व जाति में है, अत: अभिधा शक्ति के द्वारा गो पद गोत्व जाति का ही बोध करायेगा। गो व्यक्ति की प्रतीति तो अनुमान या आक्षेप से हो जायेगी क्योकि गोत्व जाति बिना गो व्यक्ति के नहीं रह सकती। प्रवृत्ति निवृत्ति की योग्यता व्यक्ति मे ही है, जाति में नही। अब प्रश्न ये है कि जब गोपद के द्वारा गो व्यक्ति ही अर्थ लेना है, तो फिर व्यक्ति मे ही संकेत ग्रह क्यो नही मानतें। काव्यप्रकाशकार ने पूर्वपक्ष के रूप मे इस विषय का उल्लेख करते हुये कहा है कि सामान्य रूप से किसी व्यक्ति मे ही जीवनव्यापार सिद्ध होने से संकेतग्रह व्यक्ति में ही होता है। परन्तु व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य तथा व्यभिचार—दो प्रकार के दोष आ जायेंगे और इस प्रकार शब्द बोध की प्रकिया में बड़ी अव्यवस्था हो जायेगी। बिना संकेतग्रह के अर्थ का ज्ञान नही हो सकता नियमत: जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेतग्रह होता है तो उस शब्द से केवल उसी व्यक्ति विशेष का ज्ञान होता है और अन्य व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् संकेतग्रह को स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे एक गोपद का ज्ञान कराने वाली सभी गो व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् संकेतग्रह मानना होगा। जो कि सर्वथा असम्भव है। अत: आनंत्य दोष होगा। 'आनन्त्य दोष' में अनन्त शक्तियो की कल्पना करनी पड़ेगी।

यदि गो पद का सकेत एक गो व्यक्ति मे माना जाये तो फिर तदितर गो व्यक्ति सकेत का भविष्य बन

---

१. शब्दः सङ्केतितः पूर्वैर्जात्यद्यर्थचतुष्टये।
तद्वशाद् दृश्यते तस्य चतुर्द्धैव प्रवर्त्तनम्॥ अ० महा० २/३।

२. पूर्वैर्वयाकरणैजात्याद्यर्थचतुष्टये शब्दः संकेतितः, तद्वशेन शब्दस्य चतुर्द्धा प्रवृत्तिः दृश्यते। जातिः गुणः क्रिया द्रव्यं चेति। अ० महा० पृ० १५।

३. 'गौः शुक्लश्चलोडित्थः इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इतिमहाभाष्यकारः का० प्र० ३६।

जायेगे, इस प्रकार 'व्यभिचार दोष' होगा।

आनन्त्य तथा व्यभिचार दोनो ही दोष व्यक्ति मे सकेतग्रह मानने से उपस्थित होते है, यदि केवल व्यक्ति मे सकेतग्रह न माना जाये तो दोनो ही दोषो के आने की सम्भावना क्षीण हो जायेगी। अत: आलकारिक व्यक्तिपक्ष मे सकेत न मानकर जाति आदि मे ही संकेत मानते है। अत: गो शब्द का अभिधेय अर्थ है गोत्व जाति, जाति से गो व्यक्ति अर्थ तो अनुमान द्वारा निकलेगा, अभिधा वृत्ति द्वारा नही। अभिधा तो जाति अर्थ देकर विरत हो गयी।[१] क्योकि विरत हुयी अभिधा का पुनरुत्थान नही होता, क्योकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभाव:।' इसी प्रकार गुण से गुणी, क्रिया से क्रियावान् तथा संज्ञा से संज्ञी का बोध आक्षेप द्वारा होगा।

इस प्रकार व्यक्ति मे संकेतग्रह मानने मे 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं, अत: व्यक्ति मे संकेतग्रह न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण आदि धर्मो मे ही संकेतग्रह मानना चाहिए। गोत्व जाति सभी गो व्यक्ति मे एक ही है, अत· उसमे संकेतग्रह मानने पर एक जगह सकेत ग्रह हो जाने से सभी गो व्यक्तियो की उपस्थिति हो सकती है। इसी प्रकार शुक्ल आदि गुण सर्वत्र एक ही है, अत: एक बार संकेतग्रह हो जाने पर सब शुक्ल पदार्थो का उससे बोध हो सकता है; अलग-अलग सकेतग्रह की आवश्यकता नही है। इस पर ये शंका उपस्थित हो सकती है कि शंख, दूध, कपड़ा आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में रहने वाला शुक्ल रूप भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। इसी प्रकार भात का पकना, ईटों का पकना आदि क्रियाओं मे पाक क्रिया भी भिन्न होती है। अत: एक जगह शुक्ल पद का सकेतग्रह होने से काम नही चलेगा। इस शका का समाधान प्रस्तुत करते हुये कहा गया कि शुक्ल आदि गुण और पाक आदि क्रियाओ का भिन्न-भिन्न पदार्थों मे जो अलग-अलग रूप दिखलायी देता है उसका कारण, उनका वास्तविक भेद नहीं अपितु उपाधि का भेद है। जैसे एक ही मुख को समतल, नतोदर, उन्नतोदर आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के दर्पणों में या तेल, पानी, तलवार में देखा जाये तो सब जगह उसका प्रतिबिम्ब अलग-अलग दिखलायी देता है। परन्तु मुख में वस्तुत: भेद नहीं है, वह सब केवल उपाधिकृत भेद हैं। इसी प्रकार शुक्लादि गुण, पाकादि क्रियायें भिन्न-भिन्न पदार्थों में भिन्न प्रकार की भले ही दिखलायी दे, मगर उनका भेद पारमार्थिक नही औपाधिक है। अत: गुण क्रिया आदि में भी संकेतग्रह मानने में कोई दोष नही आता है।

इस प्रकार उस पक्ष का आधार 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति:' महाभाष्यकार का यह वचन है। संकेतग्रह विषयक वैयाकरणो तथा उनके अनुचर आलंकारिकों का मत प्रस्तुत कर आचार्य सूरि मीमांसकों के मत को भी प्रस्तुत करते हैं।[२] मीमांसक जाति आदि चार के स्थान पर केवल एक जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं।

मीमांसको के मत मे शब्द का सकेत केवल जाति रूप ही है। उनका कहना इस प्रकार है—गो व्यक्ति परस्पर भिन्न तो है किन्तु उन सबका प्राणपद सामान्य धर्म गोत्व जाति है। इसी प्रकार शंख, हिम, दुग्ध आदि मे जो शुक्ल गुण है, वे परमार्थत: भिन्न हैं किन्तु उन सबका निर्देश हम 'शुक्ल' इस एक ही सामान्य पद से करते हैं। इस प्रकार शुक्ल इस सामान्य शब्द के व्यवहार से होने वाला ज्ञान भी सामान्य है। अतएव गुणवाचक

१. विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।

२. शब्दस्य जातिमेवार्थमाहुन्ये विपश्चित: ; अलंकार महोदधि २/४।

शब्द भी जातिवाचक है। ऐसा ही क्रियावाचक शब्दो के विषय में कहा जा सकता है। आपत्ति है संज्ञा शब्दों के विषय में। इसका उत्तर भी मीमासको ने दिया है, अनेक जनो के द्वारा उच्चारित हरि शब्द मे हरित्व जाति। अतः संज्ञा शब्द भी जाति का ही बोध कराते है।

नैयायिको के मतानुसार सकेत न जाति मे होता है, न व्यक्ति मे, अपितु जातिविशिष्ट व्यक्ति ही संकेतित है।[१] बौद्ध इस विषय मे अपोहवादी है। अपोह का अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति' बौद्धों के अनुसार घटपद का अर्थ होगा घटेतर व्यावृत्त पदार्थ।[२] मीमांसा, न्याय तथा बौद्धमत को अस्वीकार कर वैयाकरणों के अनुसार जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा चारो में ही सकेतग्रह या शब्दबोध होता है। आलंकरिको ने वैयाकरणों के जात्यादिवाद को ही स्वीकार कर[३] अपने शास्त्रों मे उसे मान्यता प्रदान की तथा मीमांसकादि के मतों का खण्डन किया।

साक्षात्संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं। यह शब्द मुख्यार्थ को बताती है। किसी शब्द के श्रवणमात्र से अविलम्ब ही उसका अर्थज्ञान हो जाये तो वही मुख्य अर्थ होता है और जिस वृत्ति या व्यापार के द्वारा मुख्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। प्रत्येक शब्द का एक सुनिश्चित अर्थ होता है और यह अर्थ अभिधा व्यापार द्वारा अवगत होता है। सभी अर्थों का मुख होने से यह मुख्य है। मुकुलभट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' मे लिखा है कि 'जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों मे सर्वप्रथम मुख दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार सभी प्रकारो अर्थों में पहले अभिधेयार्थ का ही बोध होता है। अभिधा के महत्त्व को व्यक्त करते हुए भट्टलोल्लट ने लिखा है कि 'वह शब्द का व्यापार बाण के समान दीर्घ दीर्घतर होते हैं—'सोऽयमिषोरिव-दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधा व्यापारः।' इस कथन के द्वारा अभिधावादी अभिधाशक्ति की असीम व्यापकता सिद्ध करते हैं।

लक्षणा शक्ति

शब्द का अर्थ अभिधमात्र में ही सीमित नहीं रहता है। जब मुख्यार्थ या वाच्यार्थ में बाधा उत्पन्न होती है तब रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर दूसरा अर्थ लगाया जाता है। यह अर्थ वक्ता के प्रयोग के आधार पर होता है। यदि वक्ता का आशय अभिधागम्य नहीं होता है, तो उससे सम्बद्ध दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) लक्षणा वृत्ति से ज्ञात होता है। वे शब्द 'लक्षक' हैं जिनसे लक्ष्यार्थ निकलता है। लाक्षणिक अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति का नाम लक्षणा है।

यदि वाक्य में पदार्थों का अन्वय परस्पर बाधित हो जाये तो उसे अन्वयानुपपत्ति के लिये लक्षणा शक्ति का आश्रय लिया जाता है। लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ का त्याग कर उस मुख्यार्थ से सम्बद्ध दूसरा अर्थ लिया जाता है, ऐसा करने में या तो रूढ़ि या वक्ता का अभिप्राय व्यञ्जित करना ही प्रयोजन रहता है। अतः लक्षणा की प्रवृत्ति में तीन हेतु होते हैं—

---

१. केचिज्जातिमतीं व्यक्तिं ; अलंकार महोदधि २/४।
२. अपोहमपरे पुनः ; अलंकार महोदधि २/४।
३. तैरुक्तो यः स मुख्योऽर्थः शब्दस्तस्यभिधायकः। व्यापारस्त्वभिधैवास्य तमर्थमभिधास्यतः। अ० महा०, २/५।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥ का० प्र०, २/८।

१. मुख्य अर्थ का बाध।

२. मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध।

३. वक्ता का प्रयोजन अथवा रूढ़ि।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का लक्षणा सम्बन्धी मत आचार्य मम्मट पर ही आधारित है।[1] मम्मट के अनुसार मुख्यार्थ का बाध होने पर, मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर रूढ़ि से अथवा प्रयोजन विशेष से जिस शब्द शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है।[2]

आचार्य सूरि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार रूपक तथा अतिशयोक्ति आदि को 'उपचार मूला' कहते है। मम्मट की ही भाँति लक्षणा को आरोपित क्रिया मानते हैं।[3] अमुख्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) मुख्यार्थ के द्वारा लक्षित होता है। इस अर्थ को लक्षित करने वाला व्यापार लक्षणा है। लक्षणाव्यापार, अर्थनिष्ठ होने के कारण मम्मट, आरोपित का अर्थ 'सान्तरार्थनिष्ठ' करते हैं। शब्द का अभिधा से साक्षात् सम्बन्ध बताया गया है। लक्षणा का शब्द से परम्परा के द्वारा सम्बन्ध बताया गया है।

मीमांसक के मतानुसार अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है, लक्षणा अस्वाभाविक। प्राचीन नैयायिको के मतानुसार शक्ति या अभिधा ईश्वरेच्छा से उद्भावित है किन्तु लक्षणा मनुष्य कल्पित है। अन्य मतों के अनुसार, लक्ष्यार्थ के बोधक का व्यापार वस्तुतः वाच्यार्थ में रहता है, उसका शब्द में आरोप कर लिया जाता है। अतः वह शब्द का आरोपित व्यापार है, अथवा अभिधा साक्षात् सकेतित अर्थ को कहती है। अतः सर्व-सिद्ध शब्द वृत्ति है शब्द का मुख्य व्यापार है ; किन्तु लक्षणा अमुख्य अर्थ को कहती है अतः आरोपिता वृत्ति है।

मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध बताने के लिये महोदधिकार ने प्रत्यासत्ति शब्द का प्रयोग किया है।

हेमचन्द्र[4] की भाँति आचार्य सूरि भी रूढ़ि लक्षणा को "रूढ़िलक्षणात्वभिधातुल्यैव," कहकर अस्वीकार कर देतें हैं।

हेमचन्द्र का कथन है कि कुशल, द्विरेफ, द्विक आदि शब्दो के अर्थ अब साक्षात् संकेत के विषय बन गये हैं। अतः उन्हें रूढ़ि लक्षणा मान्य नही हैं।

रूढ़ि लक्षणा के विषय में नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्राचार्य के मत को ही स्वीकार किया है।

---

१. कथञ्चित्लब्धबाधस्य तत्प्रत्यासत्तिशालिनि।
मुख्यस्यार्थस्य सामान्यमन्यार्थेऽ तिशयाय यत्॥
शब्देनारोप्यते सेयमुचारविचित्रता।
रूपकादीनलंकारान् या प्रसूते रसोत्तरान्॥ अ० महा०, २-२१,२२।

२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्ये ऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ का० प्र० २/९।

३. मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपित. शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा। का० प्र०, पृ० ५२।

४. कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्सकेतिविषयत्वात् मुख्या एव, इति न रूढ़िरस्माभिर्हेतुत्वेनोक्ता। काव्यानुशासन।

लक्षणा का रूपकादि अलंकारों में प्रयोग

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने रूपकादि अलकारो को उपचार मूला ही माना है। (व्यापक अर्थ मे उपचार शब्द लक्षणा का ही वाचक है।)[१] रूपक मे मूलत. गौणी सारोपा लक्षणा होती है और अतिशयोक्ति का मूल गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।[२]

अलकाराभाष्यकार आदि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार, रूपक या अभेदप्रतीति की प्रक्रिया के मूल मे सारोपा लक्षणा है।[३] शोभाकर ने भी अलंकारभाष्य की इस मान्यता का पूर्णतया समर्थन किया है। इनके अनुसार, रूढ़ा लक्षणा मे तो प्रयोजनरूप व्यग्यार्थ नही हो सकता है। व्यग्यार्थ का पुट न रहने से चारुता नहीं होती और इसके बिना रसपरिपोषकता नही आती। अत. रूढ़ालक्षणा को किसी भी प्रकार अलंकार का मूल नही माना जा सकता। प्रयोजनवती लक्षणा मे व्यंग्यार्थ का पुट और उससे उत्पन्न चारुता तथा रसपरिपोषकता होने से उसे रूपक का आधार मानना चाहिये।[४] अपह्नुति के मूल में भी गौणी सारोपा लक्षणा होती है।

प्रत्यासत्ति विचार

मुख्यार्थ की अनुपत्ति होने पर भिन्न अर्थ लिया जाता है किन्तु, मनचाहा अर्थ नही लिया जा सकता है। वह अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न होने पर भी उससे सम्बन्धित ही होना चाहिये। इसी को मुख्यार्थयोग कहते हैं, यही प्रत्यासत्ति है। इसके चार भेद महोदधिकार ने बताये हैं।[५]

मुख्यार्थयोग के पॉच भेद न्यायसूत्र मे बतायें हैं।[६] इस प्रकार 'तादर्थ्य' इत्यादि सम्बन्धो से होने वाली लक्षणा प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध है।

मुख्यार्थ योग के विश्लेषण में ही 'तात्स्थ्य' आदि का सिद्धान्त निकला है जिसे आचार्य सूरि ने लक्षणा के उदाहरणों मे घटित रूप से निर्दिष्ट किया है।

मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ सम्बन्ध

लक्षणा व्यापार में मुख्यार्थ का सम्बन्ध कई प्रकार से होता है और इनकी संख्या शताधिक मानी जाती है। इनमें प्रमुख हैं—सामीप्य सम्बन्ध, सादृश्य सम्बन्ध, अंगागिभाव सम्बन्ध, तात्कर्म्य सम्बन्ध, तादर्थ्य सम्बन्ध तथा स्वामिभृत्यभाव सम्बन्ध।

---

१. उपचारो नाम अत्यन्त विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। विश्वनाथ। उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। अभिनव गुप्त।

२. रूपकापह्नुत्य तिशयोक्तिप्रभृतयो अलंकारा· उपचारमूला इति ; अ० महा० ।

३. लक्षणापरमार्थ यावता रूपकस्वरूपम्। — अलंकार भाष्य

४. अलंकार रत्नाकर पृ० ३२-३३। शोभाकर कृत

५. अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्याद् वैपरीत्यतः।
क्रियायोगाच्च तामाहु· प्रत्यासत्तिं चतुर्विधाम्। अ० महा० २/२३।

६. अभिधेयेन सम्बंधात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधामता। २-२-६१।

अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनो शब्द शक्तियों मे अभिधा स्वतत्र तथा स्वयपूर्ण है। उसे किसी दूसरी वृत्ति का आश्रय लेने की आवश्यकता नही होती है। प्रत्येक शब्द वाचक तो होता ही है, वाचक होने के लिये उसे लक्षक या व्यञ्जक होने की आवश्यकता नही होती। लक्ष्यार्थ के लिये मुख्यार्थ बाध आदि निमित्तों का होना आवश्यक है, ये निमित्त न हो तो लक्षणा का होना असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त अभिधा का कार्य हो जाने के बाद, तात्पर्य की दृष्टि से जब तक मुख्यार्थ अनुपपन्न सिद्ध नही होता तब तक लक्षणा को अवसर ही नही मिलता। जिस प्रकार केवल वाचक शब्द और उससे ग्रहण होने वाला मुख्यार्थ होता है, उस प्रकार केवल लाक्षणिक शब्द और लक्ष्यार्थ नही हो सकता है। लाक्षणिक शब्द होने के लिये पहले तो वह शब्द वाचक होना चाहिए तथा उसका वाच्यार्थ या मुख्यार्थ बाधित होना चाहिये, इस प्रकार बाध उपस्थित होने पर ही शब्द लाक्षणिक हो सकता है अन्यथा नही। अतएव कोई भी शब्द एक ही समय मे वाचक और लक्षक नही हो सकता है। मुख्यार्थ तात्पर्य की दृष्टि से अनुपपन्न सिद्ध होते ही, वाच्यार्थ को हटाकर लक्ष्यार्थ स्वयं उसके स्थान पर आ जाता है। अतएव लक्षणा को 'अभिधापुच्छभूता' अर्थात् अभिधा का पुच्छ कहते हैं। मुख्यार्थ के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही लक्षणा को 'अभिधापुच्छभूता' कहते है। मुख्यार्थ की बाधा हो जाने पर जो अन्यार्थ गृहीत होता है, उसका मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध या योग होता है अर्थात् लक्ष्यार्थ और मुख्यार्थ मे सम्बन्ध बना रहता है। इसे ही **'मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ सम्बन्ध'** कहते हैं। उदाहरणार्थ—गगायां घोषः—यहाँ मुख्यार्थ 'गंगाप्रवाह' से लक्ष्यार्थ 'गंगातीर' का सामीप्य सम्बन्ध है ; 'गंगा मे घोष' इस वाक्य मे गंगापद का मुख्य अर्थ प्रवाह बाधित हो जाता है क्योकि प्रवाह का घोष के साथ आधारत्वेन सम्बन्ध असम्भव है। प्रवाह मे घोष नही टिक सकता है। अत इस अन्वयानुपत्ति को दूर करने के लिये गंगापद मे लक्षणाशक्ति का प्रयोग कर अर्थ निकला 'गंगा का तट', यही गंगा पद का लक्ष्य अर्थ है। इस लक्ष्यार्थभूत 'तट' का गंगा के साथ सामीप्य सम्बन्ध है। अतः शब्द बोध होगा—'गंगापदशक्यप्रवाहसम्बन्धितीरम्' इस प्रकार मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध स्पष्ट है। यह सम्बन्ध कई प्रकार का हो सकता है। इन पर विचार, 'प्रत्यासत्ति भेद' के अन्तर्गत हो चुका है।

संस्कृताचार्यो ने इस प्रकार लक्ष्यार्थ और लक्षणा के स्वरूप पर प्रकाश डालकर लक्षणा के भेद पर विचार किया।

आलंकारिकों ने लक्षणा के भेद बताकर उनमे से प्रत्येक का प्रयोजन बताया है। 'काव्यप्रकाश' से स्पष्ट होने वाले लक्षणा भेद इस प्रकार बताये जा सकते हैं।[१]
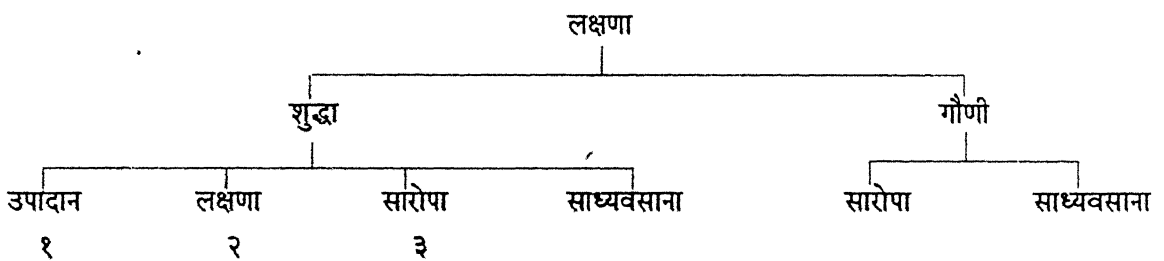
१. लक्षणा तेन षड्विधा का० प्र०, २/१२।

लक्षणा का यह ६ प्रकार का विभाग मूलत मुकुल भट्ट ने किया है। मम्मट ने उसी का अनुवाद करके यहाँ 'लक्षणा तेन षड्विधा' यह कहा।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी '**षट् प्रकारोपचारविचित्रता**' कहकर मम्मट का ही अनुसरण करते है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि सर्वप्रथम लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना दो भेद करते है।[१]

जिस लक्षणा मे आरोप्यमाण विषयी और विषय (आरोप का विषय दोनो अपने-अपने रूप मे कथित हो तो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। यहाँ आरोप का अर्थ है विषय—वाहीक आदि और विषयी गौ आदि को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत करना। आरोप सहित होने से यह लक्षणा 'सारोपा' है ; जैसे—गौर्वाहीकः। यहाँ आरोप्यभाव गौ और आरोप विषय दोनो कहे गये है। यहाँ गौ और वाहीक का भेद छिपाया नही गया है। यहाँ दोनो का समानाधिकरणरूप मे निर्देश हुआ है। इस प्रकार ये तो हुयी सारोपा लक्षणा।

आचार्य मम्मट ने भी लक्षणा के प्रथम दो भेद किये—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। इन दोनो भेदो को उन्होने शुद्धा लक्षणा कहा। तदनन्तर यहाँ पर लक्षणा के दो भेद आरोप तथा अध्यवसान की दृष्टि से किये—सारोपा और साध्यवसाना[२]

जहाँ विषयी के द्वारा अन्य अर्थात् आरोप के विषय को अपने भीतर निगरण कर लिया जाता है, वहाँ साध्यवसानिका लक्षणा होती है। जैसे गौरयम्।

अध्यवसान का अर्थ है 'विषयी के द्वारा विषय को छिपा लेना (विषयिणा विषयतिरोभावः—प्रदीप) अध्यवसान सहित होने से यह लक्षणा साध्यवसाना है, जैसे—गौरयम् यहाँ गौ रूपी विषयी के द्वारा विषय अर्थात् वाहीक का तिरोभाव या निगरण हो गया है ; दोनो का भेद छिपाकर अभेद दिखलाया गया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि पर मम्मट के सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा के स्वरूप निरूपण का स्पष्ट प्रभाव है।

मम्मट के आरोप और अध्यवसान के विवेचन पर मुकुलभट्ट का प्रभाव परिलक्षित होता है।[३]

आचार्य सूरि लक्षणा के सारोपा और साध्यवाना दोनो भेदों के स्वरूप कथन के पश्चात् बताते है कि सारोपा और साध्यवसानारूप दोनों भेद यदि सादृश्यरूप सम्बन्ध से हों तो गौणी लक्षणा होगी तथा अन्यसम्बन्ध से सम्पन्न होने पर शुद्धा लक्षणा होगी।[४]

---

१ सारोपा लक्षणाऽरोपविषयारोप्यभेदभृत्।
आरोप्यापह्नुतेऽन्यस्मिन् सैव साध्यवसानिका॥ अ० महा०, २/२४।

२. सारोपाऽन्यातु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका॥ का० प्र० २/११।

३. यत्रोपचर्यमाणे नोपचर्यमाणविषयस्वरूपं नापह्नूयते तत्राध्यारोपः।
यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानम्।' अभिधावृत्तिमातृका।

४. द्विप्रकाराऽपि सादृश्याद् या सा गौणीति गीयते।
प्रत्यासत्तेस्तु याऽन्यस्याः सा शुद्धेति प्रकीर्तिता॥ अ० महा० २/२५।

इस प्रकार सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा के गौण तथा शुद्ध दो-दो भेद होते हैं। जहाँ सादृश्य सम्बन्ध के कारण लक्षणा होती है, वहाँ तो 'गौणी सारोपा' तथा 'गौणी साध्यवसाना' कही जाती है; जहाँ सादृश्य के अतिरिक्त कोई और सम्बन्ध नियामक रहता है वहाँ 'शुद्धा सारोपा' तथा 'शुद्धा साध्यवसाना' होती है। आचार्य सूरि का ये भेद विचार भी मम्मट पर ही आधारित है।[१]

गौणी सारोपा का उदाहरण 'गौर्वाहीक: है यहाँ पर विषयी एव विषय का व्यक्तित्व स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। किसी 'वाहीक देशवासी व्यक्ति की सरलता को देखकर उस पर 'गौ' के धर्मों का आरोप किया गया है , यहाँ पर दोनो का जो सामानाधिकरण्य कहा गया है, वह असम्भव है ; अत: मूर्खता आदि गुणो के सादृश्य के कारण 'गौ' शब्द की वाहीक (जात्यादि-विशिष्ट) मे लक्षणा हो जाती है।

गौणी साध्यवसाना का उदाहरण है—'गौरयम' इस उदाहरण मे आरोप का विषय शब्दत: उक्त नही है, वह उपमान (आरोप्यमाण) के द्वारा अन्तर्भूत कर लिया गया है। अर्थात् विषयी 'गौ' द्वारा ही किसी व्यक्ति के धर्मों को निग़ीर्ण कर प्रदर्शित किया गया है।

शुद्धा सारोपा का उदाहरण 'आयुर्धतम्' है। इसका अर्थ है—'धृत ही आयु है'। इस वाक्य में कार्य-कारण सम्बन्ध से धृत पर ही जीवन का आरोप किया गया है, क्योकि आयु वृद्धि का कारण धृत है। इस उदाहरण मे विषयी और विषय-आयु और धृत दोनों ही शब्दत: उक्त हैं। दोनो के शब्दत: कथित होने के कारण इसे शुद्धा सारोपा का उदाहरण माना गया।

शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है 'आयुरेवेदम्' यहाँ आरोप्यमाण 'आयु' का शब्दत: उपादान किया गया है; किन्तु आरोप का विषय 'धृत' का कथन नही किया गया है, जिसका विषयी आयु मे ही अन्तर्भाव कर लिया गया है। इसी अन्तर्भाव के कारण इसे शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण माना गया।

इन चारों उदाहरणों मे से गौणी सारोपा का प्रयोजन है, भिन्न-भिन्न भासित होने वाले विषयी तथा विषय में एकरूपता अर्थात् तादात्म्य की प्रतीति कराना, जैसे 'गौर्वाहीक:' में गौ और वाहीक पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु सादृश्य के कारण गौ और वाहीक में तादात्म्य की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार गौणी साध्यवसाना का प्रयोजन है—विषयी तथा विषय में अभेद की प्रतीति कराना, जैसे 'गौरयम्' में दोनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति नही होती, क्योंकि वहाँ 'वाहीक' पद का प्रयोग नहीं किया गया और लक्षणा द्वारा दोनों मे अभेद की प्रतीति हो जाती है।

शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों में तो 'आयुर्धृतम्' आदि सारोपाशुद्धा में अन्य (दुग्धादि) की अपेक्षा विलक्षण रूप से कार्य करने की शक्ति आदि को बोध कराती है। इसी प्रकार शुद्धा साध्यवसाना का प्रयोजन है—अव्यभिचार अर्थात् नियम से कार्य करने की शक्ति आदि की प्रतीति कराना, जैसे 'आयुरेवेदम्' कहने से यह प्रतीत होता है कि धृत निश्चित रूप से आयु की वृद्धि करने वाला है। इस प्रकार जहाँ सादृश्याख्य सम्बन्ध के कारण सारोपा

---

१. भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—का०प्र० २/१२।

तथा साध्यवसाना लक्षणा होती है वहाँ वह गौणी है, जहाँ अन्य सम्बन्ध के कारण होती हे वहाँ शुद्धा है। जिनमे कार्यकारण भाव सम्बन्ध के उदाहरण के रूप मे 'आयुर्धुतम्' का विवेचन हो चुका है इसके अतिरिक्त अन्य सम्बन्धो से भी शुद्धा सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा हो सकती है। जैसे—तादर्थ्य से होने वाली लक्षणा मे 'स्थूणाइन्द्र:' यह शुद्धा सारोपा का उदाहरण होगा, 'इन्द्र इयम्' यह साध्यवसाना का उदाहरण होगा। यह इन्द्र शब्द लाक्षणिक है; यह स्थूणा (इष्ट) प्रदान करने वाली है। इस बात की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है। किसी राजकर्मचारी 'अमात्य' आदि को 'राजपुरुषोऽय राजा' (सारोपा) अथवा 'राजाऽयम्' (साध्यवसाना) कहना भी 'स्वस्वामिभावसम्बन्ध' से होने वाली लक्षणा है। यहाँ इसकी आज्ञा की अवहेलना नही करना चाहिए—यह प्रयोजन है।

इसी प्रकार अवयवावयविभाव और तात्कर्म्य सम्बन्ध से भी शुद्धा लक्षणा होगी।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का ये विवेचन भी अपरिवर्तनीय रूप से पूर्णतया मम्मट पर ही आधारित है।

इसके पश्चात् आचार्य सूरि ने मम्मट[1] के ही आधार पर पुन: शुद्धा के दो भेदो—उपादान लक्षणा एवं लक्षण लक्षणा का विवेचन किया।[2]

उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अपने मुख्यार्थ की सगति के लिए स्व-सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का ग्रहण कर लेता है जैसे—कुन्ता: प्रविशन्ति। लक्षण लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अन्य अर्थ के लिये अपने अर्थ का त्याग कर देता है जैसे—'गगाया घोष:'।

उपादान का अर्थ है ग्रहण अत: उपादान लक्षणा मे कोई शब्द अपने अर्थ का त्याग न करता हुआ तात्पर्य सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ को प्रस्तुत कर देता है। वैयाकरणो ने इसे अजहल्लक्षणा' या अजहत्स्वार्थावृत्ति' कहा है। 'कुन्ता: प्रविशन्ति' यहाँ पर कुन्त मे प्रवेशन कार्य सम्भव नही है, क्योकि प्रविष्ट होना चेतन का धर्म है, अत: यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। कुन्त आदि शब्द अपने अर्थ की संगति के लिये अपने से सम्बन्ध रखने वाले पुरुषो का ग्रहण कर लेते है, कुन्त का अर्थ कुन्तधारी पुरुष हो जाता है। यह 'कुन्त' शब्द अपने अर्थ को रखते हुये परार्थ का भी ग्रहण कर लेता है। अत: यहाँ उपादान लक्षणा है। कुन्तों की अधिकता का बोध कराना ही इसका प्रयोजन है।

लक्षण लक्षणा मे कोई शब्द अपने अर्थ को त्यागकर अन्य अर्थ का उपलक्षक मात्र हो जाता है ; दूसरे का उपलक्षण (परस्योपलक्षणम्) अथवा दूसरे अर्थ के लिए स्वार्थ का परित्याग। इसी से प्रदीपकार ने कहा है—'स्वार्थपरित्यागेन परार्थोपस्थानं लक्षणम्'। वैयाकरणो के अनुसार, यहाँ 'जहत्स्वार्थी वृत्ति या 'जहल्लक्षणा' भी कहलाती है। लक्षण लक्षणा का उदाहरण है—'गाङ्गायां घोष:' अर्थात् गंगा पर घोषियो की बस्ती है।' यहाँ 'गगा' शब्द तटरूप अर्थ का बोध कराने के लिये अपने वाच्य अर्थ प्रवाह को छोड़ देता है और तट रूप अर्थ का बोध

---

१. स्वसिद्धये पराक्षेप: परार्थं स्वसर्मपणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥ काव्य प्रकाश २/१०।

२. स्वार्थसिद्धयै पराक्षेपे साऽप्युपादानजा क्वचित्।
परस्मै चार्पणे स्वस्य क्वापि लक्षण लक्षिता॥ अ० महा० २/२६।

कराता है। अतः यहाँ 'परार्थ' स्वसर्मपणम् अर्थात् दूसरे अर्थ के लिये स्वार्थ का परित्याग किया गया है। यही 'लक्षण लक्षणा' है। अर्थात् इस प्रकार के लक्षण से उपलक्षित लक्षणा ही लक्षण लक्षणा होती है।

उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा के वर्णन प्रसग मे आचार्य सूरि मम्मट की ही भाँति 'मुकुल भट्ट' तथा मण्डन मिश्र आदि मीमांसको द्वारा दिये गये उपादान लक्षणा के दोनो उदाहरणो का खण्डन करते है। 'मुकुल भट्ट' काव्यप्रकाशकार से कुछ पहले हुये है। उनका एकमात्रग्रन्थ 'अभिधावृत्तिमातृका' ही इस समय प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ मे उन्होने अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनो शक्तियो के स्थान पर केवल **अभिधा** शक्ति को ही मानने का सिद्धान्त रूप से प्रतिपादन किया है। अभिधा के उन्होने दस भेद माने हैं। इनमे जात्यादि चार प्रकार के अर्थों की बोधक, चार प्रकार की अभिधा शक्ति तथा लक्षणा के भेदो का भी अभिधा मे अन्तर्भाव करके दस प्रकार की अभिधा शक्ति उन्होने सिद्ध की। व्यञ्जना के सभी भेदो का अन्तर्भाव लक्षणा के छह भेदो के अन्तर्गत ही कर दिया। इस प्रकार दस तरह की अभिधा शक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति को उन्होने नही स्वीकार. किया।[१]

इस ग्रन्थ मे उन्होने 'उपादान लक्षणा' के 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये दो उदाहरण दिये। जिस प्रकार काव्यप्रकाशकार आदि साहित्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य वैयाकरणो के अनुयायी है; और उन्होने अन्य विषयो के साथ-साथ लक्षणा के भी उदाहरण व्याकरणशास्त्र से लिये हैं—उसी प्रकार 'मुकुलभट्ट' मीमांसक मत के अनुयायी है। इसीलिये उन्होने अपने उदाहरणो का संग्रह प्रायः मीमांसा के ग्रन्थों से किया है। 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये उदाहरण मुकुलभट्ट ने मीमांसा ग्रन्थों से लिये हैं।

लक्षण लक्षणा का उदाहरण मुकुल भट्ट ने भी 'गगायाघोषः' ही दिया है।

यहाँ तक ग्रन्थकार ने मम्मट का ही अनुसरण करते हुए लक्षणा के छह भेद किये।[२]

व्यञ्जना

ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र मे जिन पॉच अर्थों मे किया गया है उनमे से दो अर्थ हैं—व्यञ्जना शब्द शक्ति और व्यंग्यार्थ। ध्वनि के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन से पूर्व यद्यपि किसी भी आचार्य ने ध्वनि, व्यञ्जना और व्यंग्यार्थ में से किसी भी शब्द का अपने ग्रन्थो मे प्रयोग नही किया, तथापि उनके विभिन्न स्थलो से ज्ञात होता है कि वे काव्यात्मारूप 'ध्वनि' शब्द से नहीं, पर ध्वनि से अवश्य ही परिचित थे। अलङ्कारवादी आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट ने रसवद्, प्रेयस, उर्जस्वि और समाहित अलङ्कारों में 'रसध्वनि' का स्पष्टतः समावेश किया ही, साथ ही कुछ अन्य अलङ्कारो के लक्षण में ध्वनि के मूलतत्त्व—एक अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति-का समावेश करके उन्होने ध्वनि अथवा व्यञ्जना से परिचय की प्रतीति करायी है।

अभिधा और लक्षणा द्वारा अपना-अपना अर्थ बताकर शान्त हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का बोधन होता है उसे व्यञ्जना शब्द शक्ति कहते हैं। व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना-व्यापार से होती है। व्यञ्जना व्यापार

१. इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्। 'अभिधावृत्तिमातृका' ; १३।
२. एवं च द्विभेदा गौणी चतुर्भेदा च शुद्धेति षट्प्रकारोपचारविचित्रता। अ० महा० ; पृ० ३६।

के द्वारा छिपा हुआ गूढ़ रहस्य प्रकटित होता है। अभिधा एव लक्षणा शक्तियो के द्वारा अप्रकटित अर्थ को अभिव्यक्त न करने के कारण ही इसे काव्यशास्त्र मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अलङ्कार-महोदधिकार भी व्यञ्जना के महत्व को स्वीकार करते हुये ध्वन्यालोक की कारिका उद्धृत करते है।[१] ध्वनिकार ने बताया कि प्रतीयमान अर्थ के समावेश से कवि की वाणी धन्य होकर अलौकिक चमत्कार की उद्भावना करती है।[२]

व्यञ्जना शक्ति द्वारा प्रतीत अर्थ व्यंग्यार्थ कहा जाता है। इसे प्रतीयमान अर्थ, ध्वन्यर्थ आदि भी कहते हैं। व्यग्यार्थ का ज्ञान न तो अभिधा शक्ति द्वारा होता है और न लक्षणा के ही द्वारा।

शब्द, बुद्धि एवं कर्म तीनो का व्यापार एक ही बार होता है। एक बार उच्चारित होने पर शब्द एक ही बार अपना अर्थ प्रकट कर सकता है, अनेक बार नही। इसी प्रकार अभिधा द्वारा अभिधेय या वाच्यार्थ को बता कर हट जाने के बाद एवं लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ को प्रकट कर शान्त हो जाने पर, पुन: शब्द का व्यापार सम्भव नही हो सकता। अत: अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता होती है।

नागेश भट्ट और अप्पय दीक्षित ने व्यञ्जना का लक्षण नैयायिको के अनुसार, यो बनाया है—किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध अर्थ के विषय में उस ज्ञान के उत्पन्न कराने वाली वृत्ति का नाम व्यञ्जना है और जो ज्ञान मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले और सम्बन्ध न रखने वाले दोनो को समान रूप से समझा सके और जिसमे मुख्य अर्थ का बाधित होना निमित्त न हो। अभिधा, लक्षणा के साथ व्यञ्जना के स्वरूप पर विचार करने से इसकी तीन विशिष्टतायें प्रकट होती हैं—

(१) अभिधा मे एक साथ एक ही अर्थ निहित रहता है तथा लक्षणा मे एक अर्थ की परिणति अन्य अर्थ के रूप मे हो जाती है, पर व्यञ्जना मे एक साथ दो अर्थ होते हैं तथा द्वितीय अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा जाता है। द्वितीय अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न तथा सर्वथा विलक्षण होता है।

(२) लक्षणा व्यापार मे वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ परस्पर एक दूसरे के सहायक होते है पर व्यञ्जना मे दोनों ही अर्थ सर्वथा स्वतत्र होते है।

(३) व्यञ्जना का सम्बन्ध प्रकरण-विशेष से होता है।

आचार्य मम्मट भी काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में व्यञ्जना का स्वरूप प्रतिपादन करने के अनन्तर अभिधा और लक्षणा से उसका अन्तर सिद्ध करते हुये कहते हैं कि अभिधा, लक्षणा आदि के द्वारा अपना कार्य कर निवृत्त हो जाने के बाद एक अन्य अभिनव अर्थ प्रकट करने वाली वृत्ति का नाम व्यञ्जना है। उस व्यग्यस्वरूप प्रयोजन के विषय मे लक्षणा से भिन्न व्यञ्जनात्मक व्यापार होता है—"तत्र व्यापारो व्यंजनात्मक" व्यंजना व्यापार

---

१. तेन व्यञ्जनवैचित्र्यमप्यास्ते शब्दगोचरम्।
विदग्धत्वं कवीन्द्राणां यस्मिन् परिसमाप्यते। अ० महा० २/३०।

२. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कविनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ ध्व० १/७।

क्यो होता है ! इसका उत्तर देते हुये मम्मट ने लिखा है कि जिस प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, केवल शब्दगम्य उस प्रयोजन के विषय मे व्यञ्जना के अतिरिक्त शब्द का कोई दूसरा व्यापार नही हो सकता है।[१]

प्रयोजन विशेष की प्रतीति कराने के लिए जहाँ लक्षणा से शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ अनुमानादि अन्य साधन से उस प्रयोजन की प्रतीति नही होती है। यही नही, सकेतग्रह न होने से अभिधावृत्ति भी प्रयोजन का बोध नही कराती है। मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध और रूढ़ि एवं प्रयोजन मे से किसी एक कारण न होने से प्रयोजन की प्रतीति का बोध लक्षणा से भी सम्भव नही है, अत: लक्षणा भी प्रयोजन की बोधिका नही हो सकती।[२] अत: उस विशिष्ट प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यञ्जना वृत्ति की नितान्त आवश्यकता होती है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार, अभिधा शक्ति के द्वारा जो अर्थ प्रकटित होता है, उसी मे सहृदय श्रोता अपनी प्रतिभा के द्वारा नवीन अर्थ का उद्‌भावन करता है। इसी अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति व्यञ्जना होती है। जिन शब्दो के द्वारा वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रकट या द्योतित होता है, उन्हे व्यजक कहा जाता है और उनसे प्रकट होने वाला अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है।[३]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने शब्दशक्तिमूलक व्यग्य के सर्वप्रथम दो भेद किये—वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि। पुन: दोनो मे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य—ये दो-दो भेद किये। ये चारो पद और वाक्यगत भी होते हैं।[४]

हेमचन्द्र ने शब्दशक्तिमूलक व्यग्य के सर्वप्रथम तीन भेद किये हैं—मुख्य, गौण और लक्षक। पुन: मुख्यशब्दशक्तिमूलक व्यंग्य के वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि-ये दो भेद कर दोनों के पृथक्-पृथक् पदगत और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। शेष दो गौण शब्द शक्ति मूलक व्यंग्य और लक्षक शब्द शक्तिमूलक व्यंग्य भेदो के प्रभेद वस्तुध्वनि के पदगत और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[५]

आचार्यों ने व्यग्यार्थ के ज्ञान के लिये प्रतिभावैमल्य, चतुर व्यक्तयो का साहचर्य तथा प्रकरण ज्ञान को आवश्यक माना है।[६]

---

१. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥ क०प्र० २/१४।

२. नाभिधा समयाभावात्।
हेत्वभावान्न लक्षणा॥ का०प्र० २/१५।

३ काव्यानुशासन।

४. वस्त्वलङ्कारयोर्मुख्यशब्दतो व्यञ्जनाद् ध्वनिः।
शब्दशक्तिभवो द्वेधा चतस्रोऽस्य भिदास्ततः॥ अ०महा० २/३१
तत· कारणादस्य शब्दशक्तिमूलस्य ध्वनेरर्थान्तरसङ्क्रान्तवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यभेदाभ्यां सह चत्वारो भेदाः। अ०महो० २/३१ वृत्ति।

५. काव्यानुशासन पृ० ६७।

६. प्रज्ञा-नैर्मल्यं-वैदग्ध्य प्रस्तावादि-विधायुजः।
अभिधा-लक्षणा-योगी व्यंग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः॥ मम्मट कृत-शब्द व्यापार विचार।

व्यग्यार्थ बोध के लिए कभी तो शब्द साधन होता है और कभी अर्थ। इस दृष्टि से व्यञ्जना के दो प्रकार हो जाते हैं—शाब्दी व्यजना और आर्थी व्यजना। अभिधामूलक शाब्दी व्यजना में सदा द्वयर्थक शब्द प्रयुक्त होते है।

सयोगादिक अनेकार्थक शब्दो का एक अर्थ मे नियत्रण हो जाने पर जिस शक्ति से अन्य अर्थ का ज्ञान हो, उसे अभिधामूला शाब्दी व्यजना कहते है।[१]

हेमचन्द्र के अनुसार अनेकार्थक मुख्य शब्द का संसर्गादिक नियामको द्वारा अभिधा रूप व्यापार के नियत्रित हो जाने पर मुख्य शब्द, वस्तु और अलकार का व्यंजक होता है, अतः शब्द शक्तिमूलक व्यग्य माना जाता है। इसी प्रकार अमुख्य अर्थात् गौण और लाक्षणिक का मुख्यार्थ बाधा आदि के द्वारा लक्षणारूप व्यापार के नियत्रित हो जाने पर अमुख्य शब्द, वस्तु का व्यजक होता है, अतः वहाँ भी शब्द शक्तिमूलक व्यंग्य होता है। ये दोनो पद और वाक्य के भेद दो-दो प्रकार के होते हैं।[२]

संसर्गादिक का ज्ञान कराने हेतु नरेन्द्रप्रभ ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय से निम्न दो कारिकाये उद्धृत की हैं।—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
'अर्थःप्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।'
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य विवेचन भी मम्मट[३] और हेमचन्द्र पर ही आधारित है। इस प्रकार अनेकार्थवाची शब्दों के एक अर्थ के निर्णय के लिए १४ प्रकार के साधन बतलाये गये हैं। संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर।

संसर्ग—यथा—'वनमिदमभयमिदानी यत्रास्ते लक्ष्मणान्वितो रामः' यहाँ लक्ष्मण योग से दाशरथि राम और लक्ष्मण का ज्ञान हो रहा है।

विप्रयोग—'विना सीतां रामः प्रविशति महामोहसरणिम्'। यहाँ सीता के वियोग से दाशरथि राम का ज्ञान हो रहा है।

साहचर्य—'बुधो भौमश्च तस्योच्चैरनुकूलत्वमागतौ।' यहाँ बुध और भौम के परस्पर साहचर्य से ग्रह विशेष का ज्ञान हो रहा है।

विरोध—'रामार्जुन व्यतिकरः साम्प्रत वर्तते तयोः।' यहाँ परस्पर विरोध से भार्गव और कार्तवीर्य का ज्ञान हो रहा है।

---

१. या च शब्दादनेकार्थात् संयोगाद्यैर्नियन्त्रितात्।
अपरार्थमतिः काचित् व्यञ्जनादेव सा मता॥ अ०म० २/३२।

२. काव्यानुशासन, १/२३।

३. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगद्यैरवावाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्। काव्य प्रकाश, २/१०।

अर्थ—'स्थाणु भज भवच्छिदे' यहाँ स्थाणु शब्द प्रयोजन रूप अर्थ के कारण शिव मे नियन्त्रित हो रहा है।

प्रकरण—'सर्व जानाति देव' यहाँ प्रकरण से 'देव' शब्द आप अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है।

लिङ्ग—यथा—'कोदण्ड यस्य गाण्डीव स्पर्द्धते कस्तमर्जुनम्' यहाँ 'गाण्डीव' शब्द रूप लिग से अर्जुन का ज्ञान हो रहा है।

शब्दान्तरसन्निधि—'देवस्य पुराराते:।' यहाँ अनेकार्थक 'देव' शब्द पुरारातिरूप अन्य शब्द के सन्निधान के कारण 'शम्भु' अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता ।

सामर्थ्य—'मधुना मत्त: कोकिल.' कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल बसन्त मे होने से 'मधु' शब्द सामर्थ्यवश 'बसन्त' अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है।

औचित्य—'तन्व्या यत् सुरतान्तकान्तनयनं वक्त्रं रति व्यत्यये। तत्त्वा पातु'..।' यहाँ औचित्य के कारण पालन प्रसन्नता रूपी अनुकूलता अर्थ मे नियन्त्रित है।

देश—'भात्यत्र परमेश्वर:' इसमे राजधानी रूप देश के कारण अनेकार्थक परमेश्वर शब्द राजा अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है।

काल—'चित्रभानुर्विभाति' यहाँ अनेकार्थक चित्रभानु शब्द दिन में सूर्य अर्थ मे और रात्रि मे 'अग्नि' अर्थ मे काल के कारण नियन्त्रित हो जाता है।

व्यक्ति—'मित्रं भाति' यह नपुसकलिग मे प्रयुक्त हुआ अनेकार्थक मित्र' शब्द 'व्यक्ति' के कारण 'सुहृत्' अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

यहाँ भर्तृहरि की जो कारिकायें उद्धृत की थी उनमे अनेकार्थ शब्द का एकार्थ मे नियन्त्रण करने वाले संयोगादि १४ हेतु बताये गये थे, उनमे से १३ के उदाहरण दर्शाये गये हैं। चौदहवाँ हेतु 'स्वर' कहा गया है। यह उदात्त आदि स्वरो का भेद वेद मे ही अर्थ भेद का नियामक होता है, काव्य मे नहीं। अत: इसी कारण इसका उदाहरण नहीं दिया गया है जैसे 'इन्द्रशत्रु' आदि मे वेद में ही स्वर अर्थ विशेष का बोधक होता है, काव्य मे नहीं।

आदि पद से अभिनय, अपदेश, निर्देश, संज्ञा, इंगित और आकार का ग्रहण किया गया है।[१]

इस प्रकार ससर्गादि से नियन्त्रित अभिधा मे जो अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना-व्यापार से ही होती है। जो सहृदयों को चमत्कृत कर, उसके भाव और विचार लोक को आन्दोलित और अनुप्राणित कर सके उसी को वास्तविक रूप से काव्य नाम से अभिहित किया जाता है। स्पष्ट है कि काव्य मे मुख्यत: तीन बाते होनी चाहिये—सरसता, चमत्कृत करने का सामर्थ्य तथा प्रभविष्णुता। इन तीनों का संचार अभिधा शक्ति के द्वारा सम्भव नही, लक्षणा द्वारा भी इन तथ्यों की अपेक्षा एक सीमा तक ही की जा सकती है, एकागी रूप मे समग्र

---

१. अलङ्कार महोदधि पृ० ४४।

रूप से नही। ऐसी परिस्थिति मे व्यञ्जना नामक शब्द शक्ति ही सभी दृष्टियो से काव्यत्व का सचरण करने की अद्‌भुत क्षमता रखती है। व्यञ्जना शब्द शक्ति द्वारा काव्य मे सरसता और माधुर्य का सचार होता है। व्यञ्जना की सर्वव्यापकता ही उत्कृष्ट कोटि के काव्य सृजन मे सहायक है। साहित्य शास्त्र की दृष्टि से व्यञ्जना की उपयोगिता सिद्ध है।

अर्थ वैचित्र्य

शब्द वैचित्र्य के अन्तर्गत अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का विस्तारपूर्वक निरूपण करने के पश्चात् आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि अर्थ वैचित्र्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते है।[1]

शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है वह वास्तव मे बुद्धिगत अर्थ है। ससार के जिन पदार्थो को व्यवहार मे लाया जाता है, वे भी शब्द से बुद्धिगत अर्थ के रूप मे प्रतीत होते है, परन्तु व्यवहार मे व्यावहारिक पदार्थ और बुद्धिगत अर्थ को एक ही माना जाता है इस कारण भेद की प्रतीति नही होती।

यह अर्थ भी शब्द की भॉति तीन प्रकार का होता है। वाचक शब्द से विदित होने वाला अर्थ वाच्य या अभिधेय कहलाता है, लाक्षणिक शब्द से प्रतीत होने वाला अर्थ लक्ष्य कहलाता है और व्यंजक शब्द से प्रतीत होने वाला व्यंग्य कहलाता है।

काव्यत्व का कारणभूत अर्थ की विशेषता बताते हुये नरेन्द्रप्रभसूरि कहते हैं कि कविता का कारण है अभिधेय वस्तु। अक्लिष्ट कदर्थनारहित नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से विभावित, सुकुमारता आदि गुणो के कारण मनोरम, शृंगार आदि रसों से संवलित, अनेक विच्छितियों के द्वारा सर्वांग समलंकृत, सर्वथा नूतन अथवा अन्य के द्वारा उद्‌भावित किन्तु नूतनतया प्रतिपादित और सहृदय चमत्कारकारी अर्थ ही काव्यत्व का कारण बनता है।[2]

अर्थवैचित्र्य की प्रशसा मे आचार्य नरेन्दप्रभसूरि कहते हैं कि अर्थ वैचित्र्य से युक्त पवित्र वचन वाले कवि किसका मन नहीं मोहते है अर्थात् सभी को प्रभावित करते हैं जैसे—बसन्तकाल की रमणीयता से समृद्ध उद्यान सभी का मन मोह लेते हैं।[3]

व्यंग्यार्थ का स्वरूप एवं अर्थ व्यंजकता

अभिधा लक्षणा आदि शक्तियॉं अपना-अपना कार्य करके जब उपक्षीण हो जाती है तब जिसके द्वारा व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है, वह वृत्ति व्यञ्जना है। यह व्यञ्जना वृत्ति शब्द में तो दिखायी देती है, उसी प्रकार अर्थ

---

१. इत्युक्तं शब्दवैचित्र्यमर्थवैचित्र्यमुच्यते।
महाक़विरिति ख्यातिं लभन्ते कवयो यतः॥ अ० महो० ३/१।

२. अक्लिष्ट प्रतिभादृष्टः सौकुमार्यमनोरमः।
रससंविलितानेकभङ्गीसर्वाङ्गभूषितः॥
अयोनिरपरच्छायायोनिर्वा परभागभाक्।
स चेतनचमत्कारी धत्तेऽर्थः कविताङ्गताम्॥ (३/३) अलं० महो०।

३. इत्यर्थवैचित्र्यपवित्रवाचो न कस्य चेत. कवयो हरन्ति ?
उद्यानदेशा मधुमासबद्धसमृद्धयो विश्वमुदे भवन्ति॥ अ० महो०, ३/६६।

मे पायी जाती है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि शाब्दी व्यञ्जना के पश्चात् आर्थी व्यञ्जना पर विचार करते हुए व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूप निरूपण करते है।[१]

आर्थी व्यञ्जना मे अर्थ की सहायता से व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान होता है। "जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ किसी शब्द पर आधारित न हो, वरन् उस शब्द के अर्थ के द्वारा ध्वनित होता है, वहाँ आर्थी व्यञ्जना होती है।" आर्थी व्यञ्जना की एक विशेषता यह है कि शब्द के परिवर्तित हो जाने पर व्यञ्जना सुरक्षित रहती है। "अभिधामूल शाब्दी व्यञ्जना वाचक शब्द पर तथा लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना लाक्षणिक शब्द पर अवलम्बित रहती है। किन्तु आर्थी व्यञ्जना केवल अर्थ की विशिष्टता के कारण सम्भव हुआ करती है।"

काव्य के शब्द की भाँति अर्थ भी तीन प्रकार के होते है—वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य। इसीलिये आर्थी व्यञ्जना वाच्यार्थ या व्यङ्ग्यार्थ पर निर्भर रहती है।

ध्वनिकार ने सहृदयाह्लादकारी काव्य मे दो अर्थों की सत्ता मानी है—एक सर्वजन संवेद्य वाच्य अर्थ एवं दूसरा सहृदयप्रतीतिप्रमाणक प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यङ्ग्य अर्थ। वाच्यार्थ काव्य की रमणीयता का अधिष्ठान है उसका हेतु नहीं। जब सहृदयजन किसी काव्य की प्रशंसा करते हैं तो अवश्य ही उस काव्य मे कोई विशेष अर्थ होता है, वही विशेष अर्थ, उस काव्य का प्राण है, चमत्कार का जनक है। इसी विशिष्ट अर्थ को ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ, व्यग्य अर्थ, ध्वनि अथवा काव्य की आत्मा कहते हैं।[२]

इस चारुत्वहेतुभूत व्यङ्ग्य अर्थ को वाच्य अर्थ के साथ ऐसी संबलना रहती है कि वह वाच्यार्थ से अभिव्यक्त-सा बना रहता है। इसी चमत्कार के कारण समस्त काव्य ही सहृदयश्लाध्य हो जाता है।

प्रतीयमान अर्थ का काव्य में वही स्थान है जो अंगना में लावण्य का है।[३] जैसे अगना का लावण्य विभिन्न अंगों में रहता हुआ भी अंगों से सर्वथा विलक्षण है।[४]

इस विलक्षण प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति आर्थी व्यञ्जना में अर्थ की सहायता से ही होती है, परन्तु सभी स्थानो पर यह बात नही हो सकती है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप निरूपण मम्मट के आधार पर ही किया है। जब वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल चेष्टादि की विशेषता के कारण व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है, तब वह आर्थी व्यञ्जना कहलाती है।[५]

---

१. यत् तु वैचित्र्यमर्थस्य व्यञ्जकत्वमुपेयुष.।
व्यङ्ग्यार्थप्रत्ययाधायि तदत्रैव प्रतन्यते। अ० महो० ३/५।

२. योऽर्थः सहृदयश्लाध्य· काव्यात्मेति व्यवस्थितः। ध्व०।

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकविनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ ध्व० १/४।

४. लावण्यं हि नाम अवयवसंस्थानाभिव्यंग्यमवयव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। लोचन पृ० ४९।

५. वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्॥
मुख्योपचरित-व्यंग्याः क्वचिदर्थास्त्रयोऽप्यमी।
बिभ्रति व्यञ्जकीभावं निजप्रागल्भ्यसम्पदा॥ अ० महो० ३/७-८।

मे पायी जाती है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि शाब्दी व्यञ्जना के पश्चात् आर्थी व्यञ्जना पर विचार करते हुए व्यड्ग्यार्थ का स्वरूप निरूपण करते है।[१]

आर्थी व्यञ्जना मे अर्थ की सहायता से व्यड्ग्यार्थ का ज्ञान होता है। "जहाँ पर व्यड्ग्यार्थ किसी शब्द पर आधारित न हो, वरन् उस शब्द के अर्थ के द्वारा ध्वनित होता है, वहाँ आर्थी व्यञ्जना होती है।" आर्थी व्यञ्जना की एक विशेषता यह है कि शब्द के परिवर्तित हो जाने पर व्यञ्जना सुरक्षित रहती है। "अभिधामूल शाब्दी व्यञ्जना वाचक शब्द पर तथा लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना लाक्षणिक शब्द पर अवलम्बित रहती है। किन्तु आर्थी व्यञ्जना केवल अर्थ की विशिष्टता के कारण सम्भव हुआ करती है।"

काव्य के शब्द की भाँति अर्थ भी तीन प्रकार के होते है—वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य। इसीलिये आर्थी व्यञ्जना वाच्यार्थ या व्यड्ग्यार्थ पर निर्भर रहती है।

ध्वनिकार ने सहृदयाह्लादकारी काव्य मे दो अर्थो की सत्ता मानी है—एक सर्वजन संवेद्य वाच्य अर्थ एव दूसरा सहृदयप्रतीतिप्रमाणक प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यड्ग्य अर्थ। वाच्यार्थ काव्य की रमणीयता का अधिष्ठान है उसका हेतु नही। जब सहृदयजन किसी काव्य की प्रशसा करते है तो अवश्य ही उस काव्य मे कोई विशेष अर्थ होता है, वही विशेष अर्थ, उस काव्य का प्राण है, चमत्कार का जनक है। इसी विशिष्ट अर्थ को ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ, व्यग्य अर्थ, ध्वनि अथवा काव्य की आत्मा कहते हैं।[२]

इस चारुत्वहेतुभूत व्यड्ग्य अर्थ को वाच्य अर्थ के साथ ऐसी सबलना रहती है कि वह वाच्यार्थ से अभिव्यक्त-सा बना रहता है। इसी चमत्कार के कारण समस्त काव्य ही सहृदयश्लाध्य हो जाता है।

प्रतीयमान अर्थ का काव्य मे वही स्थान है जो अगना मे लावण्य का है।[३] जैसे अगना का लावण्य विभिन्न अंगो मे रहता हुआ भी अगों से सर्वथा विलक्षण है।[४]

इस विलक्षण प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति आर्थी व्यञ्जना मे अर्थ की सहायता से ही होती है, परन्तु सभी स्थानो पर यह बात नही हो सकती है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप निरूपण मम्मट के आधार पर ही किया है। जब वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल चेष्टादि की विशेषता के कारण व्यड्ग्यार्थ का बोध होता है, तब वह आर्थी व्यञ्जना कहलाती है।[५]

---

१ यत् तु वैचित्र्यमर्थस्य व्यञ्जकत्वमुपेयुषः।
व्यड्ग्यार्थप्रत्ययाधायि तदत्रैव प्रतन्यते। अ० महो० ३/५।

२ योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। ध्व०।

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकविनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ ध्व० १/४।

४. लावण्यं हि नाम अवयवसंस्थानाभिव्यग्यमवयव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। लोचन पृ० ४९।

५. वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्॥
मुख्योपचरित-व्यंग्याः क्वचिदर्थास्त्रयोऽप्यमी।
बिभ्रति व्यञ्जकीभावं निजप्रागल्भ्यसम्पदा॥ अ० महो० ३/७-८।

हेमचन्द्र ने भी वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से अर्थ की व्यञ्जकता स्वीकार की है।[१]

वक्ता के वैशिष्ट्य मे व्यञ्जना का उदाहरण—वक्ता के वेशिष्ट्य के कारण जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीत होती है, वहाँ वक्तृवैशिष्ट्य आर्थी व्यञ्जना होती है। जैसे—

मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति कथितं त्वया।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरस्तिष्ठति। *(सं० रूपान्तर)*

बोद्धव्य वैशिष्ट्य—जहाँ श्रोता की विशिष्टता के कारण व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ बोद्धव्य विशिष्ट आर्थी व्यञ्जना होती है। जैसे—

औन्निद्यं दौर्वल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिःश्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः सखि ! त्वामप्यहह ! परिभवति॥ *(सं० रूपान्तर)*

काकु वैशिष्ट्य—जहाँ काकु अथवा कण्ठ ध्वनि की विशेषता के कारण वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ काकु वैशिष्ट्य आर्थी व्यञ्जना होती है। जैसे—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु॥

वाक्य वैशिष्ट्य-जहाँ वाक्य की विशेषता के कारण व्यग्यार्थ का बोध होता है, वहाँ वाक्य वैशिष्ट्य आर्थी व्यञ्जना होती है। जैसे—

"प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्यात् निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।

सेतु बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातस्त्वय्यायाते विकल्पानिति दधत इवाभाति कम्प. पयोधेः॥

इसी प्रकार जहाँ 'वाच्य की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीत हो, वहाँ **वाच्यवैशिष्ट्य** आर्थी व्यञ्जना होती है।

जहाँ विशेष प्रकरण या प्रसग के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीत हो, वहाँ **प्रस्ताववैशिष्ट्य** आर्थी व्यञ्जना होती है।

जहाँ वक्ता तथा श्रोता के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति के ससर्ग के कारण व्यग्यार्थ ज्ञात होता है, वहाँ **अन्यसन्निधि** वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ होता है।

देश या स्थान की विशेषता के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीत हो, वहाँ **देश वैशिष्ट्य** आर्थी व्यञ्जना होती है।

---

१ वक्त्रादिवैशिष्ट्यादर्थस्यापि व्यञ्जकत्वम्। काव्यानुशासन, १/२९।

जहाँ काल या समय की विशेपता के कारण व्यग्य का बोध हो, वहाँ **काल-वैशिष्ट्य जन्य** आर्थी व्यञ्जना होती है।

जहाँ चेष्टा या हावभाव के द्वारा व्यग्यार्थ की प्रतीत होती है, वहाँ चेष्टा-वैशिप्ट्य जन्य आर्थी व्यञ्जना होती है।

इस. प्रसग के अन्त मे नरेन्द्रप्रभसूरि कहते है कि आर्थी व्यञ्जना के दस भेद है, किन्तु एक-दो और दो से अधिक भेदो को एक स्थान पर मिलाकर भी सबकी व्यञ्जकता दिखलायी जा सकती है।

एवं वक्त्रादीनां द्विकादियोगेऽपि व्यञ्जकत्वमवसेयम्।

आर्थी व्यञ्जना के निरूपण मे नरेन्द्रप्रभ ने मम्मट का ही अनुकरण किया है। मम्मट भी वक्ता तथा बोधव्य आदि के वैलक्षण्य के कारण प्रतिभावान् सहृदयजनो को वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीत कराने वाले अर्थव्यापार को व्यञ्जना कहते है[१] आचार्य मम्मट ने व्यजना के दो मुख्य सहकारितत्त्वो अथवा प्रयोजको का स्पष्ट निर्देश किया है। वे दो सहकारी है, विषय की दृष्टि से, वक्ता आदि का वैशिष्ट्य तथा प्रतिपत्ता की दृष्टि से, प्रतिभा की अपेक्षा। व्यग्यार्थ की प्रतीत केवल प्रतिभावान् प्रतिपत्ता को ही होती है , इस विषय मे दो मत नही हो सकते है। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों मे कहते है कि व्यंग्यार्थ तो केवल काव्यतत्तवज्ञ द्वारा ही जाना जा सकता है।[२] आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दो में व्यञ्जना शक्ति प्रतिपत्तृप्रतिभासहाया है।[३] वक्ता आदि की विलक्षणता का ज्ञान भी व्यञ्जना का मुख्य प्रयोजक है।

वक्ता आदि की विलक्षणता का ज्ञान भी व्यञ्जना का मुख्य प्रयोजक है। मम्मट ने केवल आर्थी व्यञ्जना मे ही वक्ता आदि वैशिष्ट्य को सहकारी माना है।

वस्तुंत. आर्थी व्यञ्जना मे जो रमणीयता है, वह विशुद्ध शाब्दी व्यञ्जना मे नही मिलती।

सहृदय से जितना गहन सम्बन्ध आर्थी व्यञ्जना का है उतना शाब्दी का नही। इन्ही सब कारणों से आर्थी व्यञ्जना मे जितना चमत्कार है, उतना शाब्दी व्यञ्जना मे नही। शाब्दी व्यञ्जना मे वक्ता तथा श्रोता के व्युत्पत्ति पक्ष की प्रौढि अपेक्षित है, क्योकि नानार्थक कोशो के ज्ञान के बिना शाब्दी व्यञ्जना की अवगति असम्भव है, किन्तु आर्थी व्यञ्जना मे शक्तिपक्ष की प्रधानता अपेक्षित है।

अलंकार महोदधिकार ने लक्षणामूल व्यग्य को भी शब्द शक्तिमूल के अन्तर्गत गिनाया है। इसका कारण यह है कि लक्षणामूला व्यञ्जना शाब्दी व्यञ्जना ही होती है।

---

१. वक्तृबोधत्वकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधे.।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात प्रतिभाजुषाम्॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ का० प्र० २/२२।

२. 'वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्'। १/७ ध्वन्यालोक।

३. तच्छक्तित्रयोपजनि तार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्रतृ प्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापार.।' लोचन पृ० ६२-६३।

ध्वनि-भेद

सारा ध्वनि सिद्धान्त व्यंग्यार्थ और व्यञ्जना वृत्ति पर आधारित सिद्धान्त है, व्यञ्जना-व्यापार ध्वनि सिद्धान्त का प्राणतत्त्व है। इसी की प्रतिष्ठा करना ध्वनिवादियो का प्रधान लक्ष्य रहा है। अलकार शास्त्र के प्रारम्भिक काल मे ध्वनिसिद्धान्त को मान्यता प्राप्त नही, अत· उसकी प्राण प्रतिष्ठा आचार्य आनन्दवर्धन ने की। ध्वनि को काव्य का विशिष्ट या असाधारण तत्त्व माना जाता है तथा वह उसके साधारण धर्म से सर्वथा भिन्न होती है। सामान्य रूप से संकेतित अर्थ वाले शब्दो से विशेष अर्थ की प्रतीति ही ध्वनि है। व्यजना, ध्वनि की आधारभूत शक्ति है। अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति व्यंजना शक्ति से होती है, यह विलक्षण एव अपूर्व अर्थ ही ध्वनि है। अर्थात् व्यग्य जब प्रधानता को प्राप्त करता है तभी ध्वनि का आविर्भाव होता है। अर्थात् जब व्यग्यार्थ काव्य मे उच्च पद पर प्रतिष्ठित होता है तो उसे ध्वनि कहते हैं।

शब्द और अर्थ से नि:सृत ध्वनि को सर्वथा पृथक् सिद्ध करते हुये आनन्दवर्धन ने रमणी के अवयवो के अतिरिक्त उनसे प्रस्फुटित होने वाले लावण्य की भॉति ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ की महत्ता प्रदर्शित की है।[१] जिस प्रकार ललना के शरीर के अवयव एवं उसके फूटने वाला लावण्य एक नही है तथा दीपक एव उससे निकलने वाला प्रकाश एक पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ से व्यक्त होने वाली ध्वनि को भी एक पदार्थ नही कहा जा सकता है। ध्वनि तो शब्द और अर्थ से सर्वथा भिन्न अवर्णनीय पदार्थ है।

आनन्दवर्धन के अनुसार, जब शब्द अपने अर्थ को या अर्थ स्वयं अपने को गुणीभूत करके विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करे तो उस अर्थ को विद्वान् ध्वनि कहते हैं।[२] इस प्रकार ध्वनि उस विशिष्ट काव्य को कहते है जिसमे वाच्य अर्थ अपने को तथा वाचक शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना कराते हैं जो कि काव्य का ललनालावण्यप्रख्य सारभूत सहृदयश्लाध्य चमत्काकारी अर्थतत्त्व है। वाच्यार्थ को गौण बनाकर व्यञ्जना कराने का तात्पर्य हुआ, वाच्यार्थ का प्राधन्येन व्यञ्जक बनना, अत: निर्गलितार्थ हुआ-जिस काव्य मे व्यंग्य अर्थ प्रधान है वही काव्य ध्वनिकाव्य है।

जब व्यग्यार्थ को ध्वनि कहा गया तो उस अर्थ तक पहुँचने के साधनरूप व्यञ्जना-व्यापार को भी केवल उपचारत: ध्वनि कहा जा सकता है। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

ध्वनिवादियों ने ध्वनिशब्द वैयाकरणो से ग्रहण किया है। ध्वनिवादी अभिनवगुप्त के अनुसार ध्वनि के पॉच अर्थ हैं—

(१, २) ध्वनतीति ध्वनि:—व्यंजक शब्द और व्यंजक अर्थ, क्योकि ये दोनो उसी प्रतीयमान अर्थ का ध्वनन (व्यञ्जन) करते हैं।

(३) ध्वन्यते इति ध्वनि:—व्यंग्य अर्थ।

---

१. ध्वन्यालोक १/१४।

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि· कथितः। ध्व० १/१३।

(४) ध्वनन ध्वनि· = ध्वनन-व्यापार (व्यञ्जना-व्यापार)

(५) इन चारो अर्थात् व्यजक शब्द, व्यजक अर्थ, व्यग्य अर्थ और व्यजना-व्यापार से युक्त काव्य।

उक्त पॉचो अर्थो मे ध्वनिकार ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है—ऐसा आचार्य अभिनव गुप्त का स्पष्ट मत है। उनका कहना है कि वैयाकरणो ने भी व्यग्य तथा व्यजक के लिये तो ध्वनि का व्यवहार किया ही है, व्यञ्जना-व्यापार के लिये भी उपचारत· किया है।

इस प्रकार अभिनव गुप्त ने ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर पॉचो अर्थ निकाले। व्यञ्जक शब्दार्थ को ध्वनि नाम देना वैयाकरणो का सच्चे अर्थो मे अनुसरण करना है।

आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास मे ही ध्वनि पद का प्रयोग दो अर्थो मे किया है—व्यजक शब्द तथा व्यंग्य अर्थ और वाच्यातिशायी से युक्त काव्य।[१]

पञ्चम उल्लास मे व्यञ्जना व्यापार प्रसंग मे मम्मट ने व्यंजना-व्यापार के लिए लोचनकार के अनुकरण पर ध्वनन-व्यापार का भी प्रयोग किया है—

"...अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव।"

हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' मे ध्वनि पद का प्रयोग केवल व्यंग्य अर्थ के लिए किया है।[२] तथा वृत्ति मे भी ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति केवल एक ही प्रकार से की गयी है। व्यंजना शक्ति और व्यापार के लिए ध्वन्यालोक के ही अनुकरण पर 'व्यञ्जकत्वम्' पद का प्रयोग किया गया है।[३]

हेमचन्द्र ने ध्वनि को व्यापारवाची नही माना, यद्यपि उन्होने पूर्व आचार्यो की अभ्यस्त पदावली का प्रयोग करने मे 'ध्वननम्' शब्द का भी प्रयोग किया है। किन्तु फिर भी जब वे व्यंजना-व्यापार के प्रसग मे मम्मट की पदावली का प्रयोग करते है तो 'ध्वनन' शब्द को हटा देते है। उसके स्थान पर 'व्यंजन' शब्द को रख कर मम्मट के वाक्य की पुनरावृत्ति करते हैं।[४]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने ध्वनिकार के ही अनुकरण पर ध्वनि का प्रयोग काव्य की आत्मा के लिए[५] तथा व्यंग्य प्रधान उत्तम काव्य के लिए[६] किया किन्तु लोचनकार के आधार पर ध्वनि को व्यञ्जनाव्यापारवाची भी माना है।[७]

---

१ "इदमुत्तममतिशयिनि व्यग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै. कथितः।" का० प्र० १/४।

२. 'मुख्याद्यतिरिक्त. प्रतीयमानो व्यग्यो ध्वनिः।" काव्यानुशासन १/१९—'ध्वन्यते द्योतते इति ध्वनि'।

३. मुख्याद्यास्तच्छक्तय·। 'मुख्या गौणीलक्षणा व्यंजकत्वरूपा. शक्तयोर्व्यापारा। मुख्यादीना शब्दानाम्।" काव्यानुशासन १/२०।

४. काव्यानुशासन, पृ० २२।

५. शब्दार्थ सौन्दर्यतनोः काव्यस्यात्माध्वनिर्मत.। अ० महो० पृ० १२२।

६. वाच्यवाचकयोरन्यद् विचित्रत्वं तिरोदधत्।
व्यंजकत्वम् स्फुरेद् यत्र तत् काव्यं ध्वनिरूत्तमम्॥ अ० महो० १/१५।

७. ... अत्र प्रकरणादिनियमिता राजशब्दा ध्वनिनैव चन्द्राद्यर्थान्तरं प्रतिपादयन्ति। अ० महो० पृ० २२५।

उन पदार्थो की स्वतत्र प्रतीति एव वाक्यार्थ निष्पत्ति का क्रम उस व्यक्ति के ध्यान मे नही आता है। नौसिखिया शब्द ज्ञानी एव कुशल शब्द ज्ञानी दोनो की प्रतीति का क्रम तो वही रहता है—पहले शब्द, फिर शब्दार्थ, उसके बाद परस्पर सम्बन्ध और अन्त मे वाक्यार्थ। किन्तु नौसिखिया क्रमश वाक्यार्थ तक पहुँचता है, पर कुशल व्यक्ति को शब्द सुनने के साथ ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है—शब्द और वाक्यार्थ के मध्य का क्रम उसे स्वतत्र रूप से भान नही होता है। सहृदय रसिक को भी ऐसा ही अनुभव होता है। काव्य पढ़ने के समकाल ही उसे रस प्रतीति होती है, यही 'झटिति प्रत्यय' है। अतएव इसकी असंलक्ष्यक्रमता का विवेचन करते हुये आनन्दवर्धन ने कहा है कि, 'रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येन अवभासते।'

इसके विपरीत, वस्तु ध्वनि अथवा अलकार ध्वनि मे वाच्यार्थ एव ध्वन्यर्थ के बीच जो क्रम है, उसका पता चल जाता है, अत उसे 'सलक्ष्यक्रमध्वनि' कहा जाता है।

रसादि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता का उपलक्षण है।[१] इस ध्वनि के अन्तर्गत केवल नौ रसो की ही गणना नही होती है, अपितु भाव, भावाभास, रसाभास, भावसंधि, भावशान्ति, भावोदय एव भावशबलता का भी समावेश होता है।

रस भाव आदि की स्थिति अग रूप से भी हो सकती है, किन्तु तब वे रसवदादि के विषय बनेगे, ध्वनि के नही। रसादि अर्थ सदैव अक्रम होता है ऐसी बात नही, कभी-कभी रसादि मे विभावादि तथा रसादि के मध्य क्रम परिलक्षित होता है। जब क्रम लक्षित होगा तब उनकी गणना संलक्ष्यक्रमव्यग्य के अर्थशक्तिमूलक भेद के अन्तर्गत होगी।[२] तथा उनका रसादि रूप से अभिधान न होकर वस्तुध्वनि रूप से ही होगा। लोचनकार के अनुसार भावध्वनि आदि रसध्वनि के निष्यन्दरूप है अत. अश रूप ही है किन्तु वे भी कभी आस्वाद कराने मे प्रधान रूप से प्रयोजक रहते हैं। अत· उनकी पृथक् व्यवस्था की गयी है।[३] जब व्यभिचारि भाव प्रधान रूप से चर्वणा का विषय बनता है तब उसे भाव ध्वनि कहा जाता है किन्तु जब विभावमुखेन अथवा अनुभावमुखेन अधिक चमत्कार दिखायी दे तो उसे विभावध्वनि या अनुभावध्वनि क्यो नही कहा जाता ? इस शका के समाधान मे कहा जा सकता है कि विभाव और अनुभाव स्वशब्द वाच्य ही होते है, उनकी व्यग्य दशा नही रहती। यदि विभाव अनुभाव भी व्यग्य होने लगे तो फिर रस प्रकरण मे व्यजक क्या होगा ? विभावादि तो ही रस प्रकरण मे वाच्यार्थरूप रहते है, और यदि विभाव, अनुभाव की चर्वणा मान ली जाये तो उस चर्वणा का पर्यवसान भी किसी चित्तवृत्ति विशेष मे ही होगा।[४] इस प्रकार उसमे रसभावादि से अधिक कुछ भी चर्वणीय नही होता है।

---

१. तयोराद्यो रसा भावाः स्थायि-सञ्चारिमूर्तय।
तदाभासास्तथाभावस्थिति-शान्त्युदयादयः॥ अ० महो० ३/११।

२ 'यो रसादिरर्थस एवाक्रयो ध्वनेरात्मा न त्वक्रम एव स.। क्रमत्वमवि तस्य कदाचिद् भवति। तदा चार्थशक्त्युद्‌भवानुस्वानरूपभेदता।' लोचन, पृ० १७४।

३ 'एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनि प्रभृतयो निष्यन्दा आस्वादे प्रधान प्रयोजक्रमेवमशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते।' लोचन, पृ० १७९।

४ 'चित्तवृत्ति विशेषा हि रसादय।' ध्व० पृ० ४९५।

रसो के स्वगत भेदो तथा उनके अगरूप अलङ्कारो से सम्बद्ध होने पर भेदो की अनन्तता के कारण रसादि की असख्यता सिद्ध होती है।[१] सभी की गणना सर्वथा असम्भव होने के कारण रसादि ध्वनि का एक ही भेद माना है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—इसमे वाच्य और व्यग्य का क्रम उसी प्रकार लक्षित होता है जिस प्रकार घण्टा रणन के बाद होने वाले अनुरण (गूज) का। इसीलिये सलक्ष्यक्रमव्यग्य को ध्वनिकार 'अनुस्वानसन्निभ' कहते है, इसके दो भेद होते है—शब्दशक्ति मूल और अर्थशक्ति मूल।

सामान्यत: सलक्ष्यक्रमव्यंग्य के तीन भेद माने जाते है—शब्द शक्ति मूलक व्यग्य, अर्थ शक्ति मूलक व्यग्य और उभय शक्ति मूलक व्यग्य।[२] आचार्य हेमचन्द्र को प्रथम दो भेद ही मान्य है।[३] आचार्य मम्मट के अनुसार सलक्ष्यक्रमव्यग्य या अनुस्वानाभध्वनि के मुख्य तीन भेद होते है।[४]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने शब्द शक्तिमूलक व्यग्य के सर्वप्रथम दो भेद किये—वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि। पुन: दोनो मे अर्थान्तरसक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य—ये दो-दो भेद किये। ये चारो पद और वाक्यगत भी होते है।[५] इनका विस्तारपूर्वक विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

हेमचन्द्र ने शब्द शक्तिमूलक व्यग्य के सर्वप्रथम तीन भेद किये—मुख्य, गौण और लक्षक। पुन: मुख्य शब्द शक्ति मूलक व्यग्य के वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि—ये दो भेद करके दोनो के अलग-अलग पदगत और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किये है। शेष दो गौण शब्द शक्तिमूलक व्यंग्य और लक्षक शब्द शक्तिमूलक व्यग्य भेदो के प्रभेद, वस्तुध्वनि के पद तथा वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किये।[६]

सलक्ष्यक्रम व्यंग्य का दूसरा उपभेद अर्थ शक्तिमूल ध्वनि वह है, जहाँ पर अर्थ-सामर्थ्य से अन्य वस्तु अथवा अलंकार व्यग्य होता है। इस वस्तु एवं अलकार का तात्पर्य से प्रकाशन होता है। यदि तात्पर्य से प्रकाशन न होगा तो गुणीभूत व्यंग्यता हो जायेगी।[७]

ध्वनि में व्यंग्यार्थ की गोप्यमानता के कारण ही चारुता आती है। यही गोप्यमानता उसका प्राणतत्त्व है।

अर्थशक्ति मूलक अनुरणनरूप व्यग्य मे व्यजक अर्थ दो प्रकार का होता है—(१) कवि-

---

१. तस्यांगानां प्रभेदा. स्वगताश्च ये।

२. 'शब्दार्थोभयमूलत्वात् स च त्रैविध्यमश्नुते।' अ० महो०, ३/५७।

३. 'व्यंग्य: शब्दार्थशक्ति मूल:।' काव्यानुशासन १/२२।

४. अनुस्वानमसंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यस्थितिस्तु य·।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनि·। का० प्र०, ४/३७-३८।

५. अलङ्कार-महोदधि, २/३९।

६. काव्यानु० पृ० ६७-७२।

७. अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थ: स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वत.॥ ध्व० २/२२।

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर[१] अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर[२]

२. स्वतः सम्भवी[३]

लोचनकार 'कविनिबद्धप्रौढोक्ति' को 'कविप्रौढोक्ति' का आवान्तर भेद स्वीकार करते हुय कुल तीन प्रकार मान लेते हैं।[४] अलङ्कार-महोदधिकार कविवक्तृप्रौढोक्ति को कविप्रौढोक्ति से भिन्न नही मानते है।[५] नरेन्द्रप्रभसूरि ने अर्थ शक्तिमूलक व्यग्य के सर्वप्रथम स्वतः सिद्ध और कविप्रौढोक्तिसिद्ध ये दो भेद किये। पुनः प्रत्येक के वस्तु और अलंकार ये दो-दो भेद किये। तत्पश्चात् वस्तु के वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलकार तथा अलकार के अलंकार से वस्तु, और अलकार से अलंकार नामक दो-दो भेद किये।[६]

उनके अनुसार ये आठो भेद पद, वाक्य और प्रबन्ध मे समान रूप से पाये जाते है।[७]

हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलक व्यग्य के सर्वप्रथम दो भेद किये हैं—वस्तु और अलंकार। पुनः वस्तु के वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलंकार तथा अलकार के अलंकार से वस्तु और अलकार से अलंकार नामक दो-दो भेद किये। उनके अनुसार भी ये चारो भेद पद, वाक्य और प्रबन्धगत भी होते है।[८] हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलक व्यग्य के स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न—इन तीनो भेदो का कथन न्यायोचित नही माना है, क्योकि प्रौढोक्तिनिष्पन्न मात्र से साध्य की सिद्धि हो जाती है। प्रौढोक्ति के अतिरिक्त स्वतः सम्भवी अकिंचित्कर (अर्थहीन) और कवि प्रौढोक्ति ही कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति है, अतः उन्हे अधिक प्रपञ्च अभीष्ट नही है।[९]

मम्मट ने अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के बारह भेद किये हैं। पहले स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्ति सिद्ध और कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद किये। इन तीनों भेदो में वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि दो भेद होकर ३ × २ = ६ भेद हो जाते हैं। ये छह भेद व्यग्य और व्यञ्जक दोनो होने से द्विगुण होकर १२ हो जाते हैं।[१०]

---

१. कविप्रौढोक्ति का अर्थ है कवि की अपनी दिमागी सूझ जो कि वाह्य जगत् में असम्भव है।—कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः। का०प्र०पृ० १५२।

२. कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति वह है जहाँ पर कवि ने किसी वक्ता के द्वारा अलौकिक सूझ दिखायी हो॥

३. स्वतः सम्भवी में ऐसा अर्थ वर्णित होता है जो कवि प्रतिभा की उपज तो है किन्तु वाह्य जगत में भी सम्भव रहता है। स्वतः सम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो भावद्बहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमानः। का०प्र०, पृ० १५२।

४. 'तेनैते त्रयो भेदाः भवन्ति' लोचन पृ० २५४।

५ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिर्मितस्तु कवि प्रौढोक्तिनिर्मितान्नातिरिच्यत इति पृथग् नोक्तः। अलं० महो० पृ० १०३।

६. स्वतः सिद्धः कविप्रौढिनिर्मितस्तावपि द्विधा।
वस्त्वलंकाररूपत्वात् तदेष स्याच्चतुर्विधः॥
व्यनक्ति वस्त्वलंकारौ स च तेनायमष्टधा। अ० महो० ३/५९-६०।

७. अन्ये तु पदवाक्ययोः। अ० महो० ३/६१।

८. काव्यानुशासन, १/२४ सवृत्ति।

९. काव्यानुशासन, १/२४ सवृत्ति

१०. अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः।
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेः तेनोम्भितस्यवा।
वस्तु वाऽलंकृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत्।
वस्त्वलङ्कारमथवा तेनायं द्वादशात्मक.। का० प्र०, ४/३९-४१।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट की भाँति उभयशक्तिमूलक व्यग्य का एक भेद ही माना है।[१] आचार्य मम्मट ने भी केवल वाक्यगत भेद ही स्वीकार किया है।[२]

हेमचन्द्र ने उभयशक्तिमूलक व्यग्य को शब्द शक्तिमूलक व्यग्य से अतिरिक्त नही माना है क्योकि वहाँ प्रधान रूप से शब्द की ही व्यजकता होती है।[३]

असलक्ष्यक्रमव्यग्य के विषय मे पहले ही बताया जा चुका है कि जिस व्यग्य के क्रम की सम्यक् प्रकारेण प्रतीति न हो वह असंलक्ष्यक्रम व्यग्य कहलाता है। इसमे रसादि ही व्यग्य होते है, अत इसे रसध्वनि के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इसको स्पष्ट रूप से समझने के लिए काव्यशास्त्रियो ने 'उत्पलशतपत्रभेद न्याय' का आश्रय लिया है अर्थात् जिस प्रकार सौ कमल पत्रो के समूह मे एक साथ सुई चुभाने से कमल पत्रो का क्रमेण ही भेदन होता है, किन्तु शीघ्रता के कारण पूर्वापर की प्रतीति नही होती है। उसी प्रकार असलक्ष्यक्रम व्यंग्य मे भी क्रम होने पर भी भेद की प्रतीति नही होती है।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के रस, भाव आदि के भेद से अनेक भेद सम्भव है, किन्तु आचार्यो ने अगणनीय होने से प्रायः एक ही भेद माना है।[४] नरेन्द्रप्रभसूरि ने रसादि असलक्ष्यक्रमव्यग्य का अगणनीय एक ही भेद स्वीकार किया है।[५] पुनः यह पद, वाक्य, प्रबन्ध, पदान्त, रचना और वर्ण के भेद से छह प्रकार का होता है।[६]

ध्वनि के मुख्य रूप से तीन भेद आचार्यों ने माने हैं—वस्तु ध्वनि, अलकार ध्वनि, रसादि ध्वनि।[७] प्रथम दो भेद सलक्ष्यक्रम व्यग्य है और अन्तिम रसादि ध्वनि भेद असंलक्ष्यक्रम व्यग्य। जैनाचार्य हेमचन्द्र[८] और नरेन्द्रप्रभ ने भी ध्वनि के मुख्यतया ३ भेद ही स्वीकार किये है।[९] नरेन्द्रप्रभसूरि ने ध्वनि की सिद्धि के लिये विधि से निषेध, निषेध से विधि, विधि से विध्यन्तर, निषेध से निषेधान्तर, विधि से अनुभय, निषेध से अनुभय, संशय से निश्चय, निन्दा से स्तुति और वाच्य से विभिन्न विषय रूप अनेक भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है।[१०] इनके अधिकाँश उदाहारण हेमचन्द्र का अनुगमन करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने भी ध्वनि के प्रथम भेद ; वस्तु ध्वनि के पृथक्-पृथक् तेरह भेदो को सोदाहरण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया कि प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ से भिन्न और विविध

---

१. वाक्य एवोभयोत्थः स्याद्_।
उभयशक्तिमूलो वाक्य एव स्यान्न पदादिषु। अ० महो० पृ० १०४।

२. का० प्रकाश पृ० १६१।

३. उभयशक्तिमूलस्तु शब्द शक्तिमूलान्नातिरिच्यते शब्दस्यैव प्राधान्येन व्यञ्जकत्वात्। काव्यानुशासन, १/२२ वृत्ति पृ० ६३।

४. रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते। का० प्र०, पृ० १६२।

५. एकैव हि रसादीनामगण्यत्वाद् भिदा भवेत्। अ० महो०, ३/६१ पृ० १०३।

६ रसादयः पदे वाक्ये प्रबन्धेऽन्त. पदस्य च।
रचनासु च वर्णेष्वप्यभिव्यञ्जनगोचरः। अ० महो० ३/६२-६३।

७. ध्वन्यालोक, पृ० २०।

८. अयं च वस्त्वलंकाररसादिभेदात्त्रेधा। काव्यानुशासन पृ० ४७।

९ यद्यप्यनेकधा व्यंग्यं व्यञ्जकादिविभेदतः।
तथापि वस्त्वलंकार-रसात्मत्वात् त्रिधैव तत्॥ अ० महो०, ३/६।

१०. अलंकार-महोदधि, पृ० ११६, ११७।

प्रकार का हो सकता है।[१]

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने वाच्य से भिन्न स्वरूप वाली वस्तु ध्वनि के १३ तथा नरेन्द्रप्रभ ने नौ पृथक्-पृथक् उदाहरणो को प्रस्तुत कर ध्वनि का प्रवल समर्थन किया है।

इसके प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने केवल विधि से निषेध, निषेध से विधि, विधि से अनुभय, निषेध से अनुभय और वाच्य से विभिन्न विषय रूप पॉच भेदो का ही सोदाहरण विवेचन किया है।[२] इसी प्रकार मम्मट ने भी इसके कुछ भेदो का ही निरूपण किया है।[३]

जहॉ पर अर्थशक्ति के द्वारा अलकार व्यग्य हो वह अलंकार ध्वनि का विषय है।[४] अलकार ध्वनि तभी होगी जब व्यंग्य अलंकार ही तात्पर्यभूत (प्रधान) रहे क्योकि वैसे तो रूपक, अपह्नुति आदि सादृश्यमूलक अलकारो मे भी उपमा अलंकार व्यग्य रहता है, किन्तु फिर भी वहॉ उपमा प्रधान न होकर वाच्य रूपक अलकारो का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत है। व्यग्य अलकार यदि वाच्य अलकार अथवा वस्तु के अग के रूप से रहेगा तो उसकी गुणीभूत व्यग्यता ही मानी जायेगी। अतः जब व्यग्य अलंकार के प्रतिपादन मे वाच्य का औन्मुख्य या तत्परता न दिखायी पड़े तो वहॉ अलंकार ध्वनि व्यवहार कदापि नही करना चाहिए।[५] प्राधान्येन व्यंग्य अलंकारो की स्थिति रहने पर अलकारध्वनि होती है। यह अलकार व्यग्यता वस्तु द्वारा भी हो सकती है और अलकार द्वारा भी।

इस प्रकार अलकार व्यग्य रहने पर भी सर्वत्र अलकारध्वनि नही मान लेनी चाहिए। व्यग्य अलकार को ध्वनि कोटि मे रखने से पहले उसे प्राधान्याप्राधान्य का भली-भॉति विचार कर लेना चाहिए।

विभाव अनुभाव तथा संचारी भावो के उचित सयोजन द्वारा व्यक्त हुये रति आदि स्थायि भाव की चर्वणा से प्रयुक्त आस्वादप्रकर्ष को रस ध्वनि कहा जाता है।[६] स्थायिभाव अन्य सभी भावों मे प्रधान होता है। अन्य व्यभिचारी भाव उसका अभिभव नही कर सकते।[७] इसलिए स्थायी की प्रधानता के कारण तच्चर्वणारूप रसध्वनि का भी अन्य भावध्वनि आदि की अपेक्षा प्राधान्य सिद्ध होता है। इस कारण लोचनकार भावध्वनि आदि को रसध्वनि का निष्यन्दरूप कहते हैं।[८]

ध्वनिकार ने उक्त तीनो प्रकारो मे रसादि ध्वनि को मुख्य बताया है। उनके अधोलिखित वाक्य इस बात

---

१. काव्यानुशासन, पृ० ४७-५६।
२. ध्वन्यालोक, पृ० २०-२५।
३. काव्यप्रकाश, पृ० २४३-२४४।
४. अर्थशक्तेरलकारो यत्राप्यान्यः प्रतीयते।
अनुस्वानोपमव्यंग्य स प्रकारोऽपरो ध्वनेः। ध्व० २/२५।
५. अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः। ध्व०, २/२६।
६ लोचन, पृ० १७९।
७. 'परानभिभाव्यो मनोविकारो वा सकलप्रधानो विकारो वा स्थायिभावः', रसतरं० पृ० ११।
८. रसध्वनेरमी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दा आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमश विभज्य पृथग् व्यवस्थाप्यते।' लोचन, पृ० १७९।

को प्रमाणित करते है—

१. *'प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणम् प्राधान्यात्।'—ध्व०पृ० ८९*
२. *'रसबन्ध एव कवे· प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धं युक्तम्। इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एव।'*
—ध्व०पृ ३६३
३. *'परिपाकवतां कविनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।'—ध्व० ४९७*
४. *व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।*
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्।—ध्व० ४/५
५. *'अतएव च रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धमलंकारान्तरविरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते।'*
—ध्व०पृ० ५३४

रसध्वनि का प्राधान्य स्थापित करने मे लोचनकार ध्वनिकार से भी एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। लोचनकार के अनुसार रस ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है, वस्तुध्वनि एवं अलकारध्वनि का पर्यवसान भी रसध्वनि मे ही होता है।

ध्वनिकार रसध्वनि का प्राधान्य स्वीकार करते हुये भी वस्तु ध्वनि एवं अलंकारध्वनि की मर्यादाओ को सुरक्षित रखते हैं। रसध्वनि की श्रेष्ठता दो कारणो से सिद्ध होती है। प्रथम प्रधान कारण तो यह है कि रस की प्रतीति मे सहृदय को जो अलौकिक आनन्द मिलता है, वह वस्तु एवं अलङ्कार रूप व्यग्य की प्रतीति मे नही। वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि मे व्यग्य की प्रतीति ताटस्थ भाव से होती है। सुन्दर वस्तु व्यंग्य तथा अलंकार व्यंग्य की योजना विशेषरूप से कवि के बौद्धिकविलास की परिचायक है। इसके विपरीत रस की प्रतीति मे सहृदय की तन्मयता ही मुख्य हेतु है। इसका हृदय की अनुभूति से सम्बन्ध है, बौद्धिक विलास से नही।[१] रति आदि भावो की चर्वणा में सहृदय को कोई प्रयास नही करना पड़ता। विभावादि रूप वाच्यार्थ ज्ञान के समय ही रसादि व्यग्य की प्रतीति हो जाती है। यही उसकी अलक्ष्यक्रमता का रहस्य है। रसादि सर्वदा ध्वन्यमान रूप से ही प्रतीति का विषय बनता है। उसकी स्वशब्दवाच्यता नही हो सकती है, क्योंकि वह सदा अर्थसामर्थ्याक्षिप्त होता है।[२] वह कविव्यापारैकगोचर है। यही उसकी अलौकिकता है।[३] इसके विपरीत वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि कदाचित् वाच्यत्व की अवस्था में भी रह सकती है।[४] विधिरूप वाच्य से प्रतीत होने वाले निषेधरूप वस्तुव्यंग्य को निषेधमुखेन ही कहकर वाच्य रूप से भी रखा जा सकता है। रूपक, उपमा आदि व्यंग्य अलंकारो को वाच्यरूप से भी अभिहित किया जा सकता है। यह स्वशब्दवाच्यता ही वस्तु तथा अलंकार रूप ध्वनियों की लौकिकता को प्रकट करती है।

रसादि ध्वनि की मुख्यता मानने का दूसरा कारण उसकी व्यापकता है। रसादि का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के शुद्ध भेदो की परस्पर, गुणीभूत व्यग्य के भेदो के साथ, अलंकार के साथ तथा

---

१. लोचन, पृ० ७९-८०।
२. 'तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथंचित्, ध्व० पृ० ८३।
३. लोचन, पृ० ५१-५२।
४. 'लौकिको यः स्वशब्दवाच्यता कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेक प्रकारो वस्तु शब्देनोच्यते।' लोचन, पृ० ५०।

त्रिविध सकर और ससृष्टि के साथ योजना करके ध्वनि के बहुत भेद माने है।[१] इन भेदो की गणना लोचनकार करते है। लोचनकार जितने ध्वनिभेद (३५) मानते है उतने ही गुणीभूत व्यग्य के भी (३५)। अलकारो के अनन्त होने के कारण अलकारत्वावच्छिन्न ध्वनि का एक ही भेद मानते है। इस प्रकार कुल ७१ भेद हुये। अब इनकी त्रिविध सकर तथा एक प्रकार के ससृष्टि के साथ योजना होने से ४ से गुणा करने पर २८४ भेद निकलते है। इन २८४ सकीर्ण भेदो की शुद्ध ३५ भेदो के साथ भी योजना करने से गुणनफल २८४ × ३५ = ९९४० आता है।[२]

उक्त गणना को निम्नाकित रूप से बताया जा सकता है।

ध्वनि—	संसृष्टि सकर—	अनुग्राह्यानुग्राहक एकाश्रयानुप्रवेश सदेह	४ × ३५ (ध्वनि भेद) = १४०
गुणीभूतव्यग्य	संसृष्टि संकर—	अनुग्राह्यानुग्राहक एकाश्रयानुप्रवेश संदेह	४ × ३५ (गुणीभूत व्यग्यभेद) = १४०
अलकार —	संसृष्टि संकर—	अनुग्राह्यानुग्राहक एकाश्रयानुप्रवेश सदेह	४ × १ (अलंकार रूप) = ४

३५ ध्वनि + ३५ गुणीभूत व्यग्य + १ अलंकार = ७१ × ४ (सकर संसृष्टि) = २८४

इन २८४ सकीर्ण भेदो की शुद्ध ध्वनि (३५) के साथ योजना करने पर २८४ × ३५ = ९९४० भेद होते है। यह आनन्दवर्धन और लोचनकार के अनुसार ध्वनि भेद निरूपण था।

मम्मट ने ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद माने है।[३] इस तरह लोचनकार से मम्मट ने १६ भेद अधिक बताये है। अविवक्षितवाच्य के भेदो मे तो आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट मे समानता है। केवल विवक्षितवाच्य के भेदो की गणना मे अन्तर पड़ता है। मम्मट ने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के ६ भेद माने हैं—पद, वाक्य, पदैकदेश, रचना, वर्ण तथा प्रबन्ध, जबकि लोचनकार पैदकदेश को भिन्न न मानने के कारण ५ भेद ही स्वीकार करते है।

मम्मट ने 'पद' से 'पदैकदेश' को सर्वथा पृथक करके अलक्ष्यक्रम व्यंग्य मे एक भेद की वृद्धि कर ली। मम्मट ने शब्दशक्ति मूल मे वस्तुव्यग्यता को माना है और उसके भी पद प्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य होने से दो भेद अधिक माने हैं। इस प्रकार मम्मट ने शब्द शक्तिमूल के ४ भेद माने।

---

१. सगुणीभूतव्यंग्यै· सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः। सकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा॥ ध्व० ३/४३।

२. लोचन-पृ० ५०१-५०२

३ भेदास्तदेक पंचाशत्—का० प्र० १८५

लोचनकार तथा आनन्दवर्धन की तुलना मे मम्मट के शब्द शक्तिमूल मे २ भेद अधिक हुये। अर्थशक्तिमूल मे पद प्रकाश्यता तथा वाक्यप्रकाश्यता के अतिरिक्त प्रबन्ध प्रकाश्यता को मान कर मम्मट ने १२ भेदो की वृद्धि की है। प्रबन्ध प्रकाश्यता मानने के नाते मम्मट आनन्दवर्धन के ही अनुयायी है, लोचनकार के नही, क्योकि लोचनकार अर्थशक्तिमूल के उपभेदो मे प्रबन्ध प्रकाश्यता को स्वीकार नही करते है। किन्तु आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूल मे भी प्रबन्ध प्रकाश्यता को स्वीकार करते है। जबकि मम्मट शब्दशक्तिमूल मे केवल वाक्य तथा पदप्रकाश्यता को ही स्वीकार करते है। मम्मट ने शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल सलक्ष्यक्रमव्यग्य के अतिरिक्त शब्दार्थोभयशक्तिमूल नाम का एक नया भेद गिना कर एक भेद की वृद्धि कर ली। इस प्रकार मम्मट ने लोचनकार से कुल १६ भेद अधिक मानकर ध्वनि के ५१ भेद बताये है।

इन ५१ भेदो के परस्पर मिश्रित होने से ५१ × ५१ = २६०१भेद होते है। तदनन्तर इनकी योजना त्रिविध संकर तथा एक प्रकार की ससृष्टि के साथ होने पर २६०१ × ४ = १०४०४ भेद होते है। अब इन सकर तथा ससृष्टि ध्वनि भेदो के साथ ५१ शुद्ध ध्वनिभेदो को जोड़ने पर १०४५५ ध्वनि भेद हो जाते हैं।[१]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार ध्वनिभेद—आचार्य हेमचन्द्र व्यग्य अर्थ को ही ध्वनि कहते है। व्यंग्यप्रधान काव्य के लिए ध्वनि पद का प्रयोग नही करते। अत: ध्वनि-काव्य के भेदो की इन्होने कोई चर्चा नही की है, केवल व्यग्यभेदो का ही आकलन किया है। अत: अन्य आचार्यों के ध्वनिभेदो को ये व्यग्य का ही भेद मानते हुए व्यंग्यभेदो का निर्देश करते है।[२]

सर्वप्रथम व्यंग्य के दो भेद करते है—शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल। उभयशक्तिमूल को स्वीकार नही करते,[३] क्योकि उनकी दृष्टि से उभयशक्तिमूल शब्दशक्तिमूल से अतिरिक्त नही है। किन्तु उनका यह मत समीचीन नही प्रतीत होता। इसका सन्तोषजनक उत्तर तो पण्डितराज जगन्नाथ ने दिया है। आचार्य अभिनवगुप्त की तरह उभयशक्तिमूल को नही मानना तो उचित भी हो सकता है किन्तु उसका शब्दशक्तिमूल मे ही अन्तर्भाव कर लेना ठीक नही जॅचता, क्योकि यदि वह शब्दशक्तिमूल मे अन्तर्भूत हो सकता है तो अर्थशक्तिमूल में क्यों नही हो सकता। उसमे तो दोनो का ही सहकारित्व रहता है। उभयशक्तिमूल को न स्वीकार करनेवाले इस प्रकार की आलोचना के भागी नही बन सकते, क्योकि वे उसका शक्तिप्राधान्य के अनुसार शब्दशक्तिमूल अथवा अर्थशक्तिमूल मे अन्तर्भाव कर लेते हैं अर्थात् शब्दशक्तिमूल के द्वारा प्राधान्येन व्यंग्य होने पर शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्ति के द्वारा प्राधान्येन व्यंग्य होने पर अर्थशक्तिमूल हो जायगा। किन्तु उभयशक्तिमूल के पक्ष मे पण्डितराज जगन्नाथ का तर्क समीचीन प्रतीत होता है जिसका विवेचन उन्ही के द्वारा स्वीकृत ध्वनिभेद-प्रसंग मे किया गया है। अस्तु, आचार्य हेमचन्द्र शब्दशक्तिमूल के दो भेद करते हैं—

१. मुख्यशब्दशक्तिमूल (अभिधामूलक शब्दशक्तिमूल)

---

१. तेषां चान्योन्ययौजने, सकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया,
वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४) शुद्धभेदैः सह—शरेषुयुगखेन्दव. = (१०४५५)—काव्य प्रकाश

२. व्यग्यस्य भेदानाह-व्यग्य. शब्दार्थशक्तिमूलः। काव्यानु० पृ० ६३

३ उभयशक्तिमूलस्तु शब्दशक्तिमूलान्नातिरिच्यैते शब्दस्यैव प्राधान्येन व्यंजकत्वात्-काव्यानु० पृ० ६३

२. अमुख्यशब्दशक्तिमूल (लक्षणामूलक शब्दशक्तिमूल)

मुख्यशव्दशक्तिमूल के पुन दो भेद करते है—

१. वस्तुव्यंग्य, २. अलंकारव्यंग्य। और इनमे से प्रत्येक के पदगत तथा वाक्यगत होने से दो-दो भेद करते है।

अमुख्यशब्दशक्तिमूल के दो भेद करते है—

१. गौण शब्दशक्तिव्यंग्य
२. लक्षक शब्दशक्तिव्यंग्य

और उक्त दोनो भेदो मे से प्रत्येक के पदगत तथा वाक्यगत दो-दो भेद करते हैं। मीमांसको की तरह हेमचन्द्र भी गौणीवृत्ति को लक्षणा से भिन्न मानते है, क्योकि वे चार प्रकार के अर्थो (मुख्य, गौण, लक्ष्य तथा व्यग्य) के देनेवाले चार शब्दो (मुख्य, गौण, लक्षक तथा व्यजक) की सत्ता स्वीकार करते है।[१] **इसी कारण उन्होंने गौण शब्द को लक्षक शब्द से भिन्न करके अमुख्यशब्दमूल व्यंग्य के दो भेद किए है। इस प्रकार का भेद अन्य आचार्यों के द्वारा नही किया गया है। अन्य आचार्यों ने लक्षणामूलध्वनि के अन्त्यन्ततिरस्कृतवाच्य तथा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य इस रूप में दो भेद किए हैं, किन्तु हेमचंद्र ने इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया। अमुख्यशब्दमूल व्यंग्य वस्तुरूप ही होगा अलंकार रूप नहीं।**

अर्थशक्तिमूल के अन्तर्गत ही रसादि व्यग्य को भी माना है।[२] अन्य आचार्यों ने रसादि को असलक्ष्यक्रमव्यग्य के अन्तर्गत माना है, किन्तु हेमचन्द्र ने इस प्रकार से वर्गीकरण नही किया। रसादि के अन्तर्गत 'भावस्थिति' नामक एक नया रसादि व्यग्य-प्रकार भी माना है किन्तु उसका कोई विवेचन नही किया।

रसादि की पद-व्यग्यता, वाक्य-व्यग्यता तथा प्रबन्ध-व्यग्यता मानी है। पदैकदेश का पद मे ही अन्तर्भाव किया है।[३] रचना को, साक्षात् सम्बन्ध से गुण का तथा परम्परया रसादि का व्यजक माना है। अत: रसादि व्यंग्य के प्रसंग मे रचना का व्यजक रूप से भी विवेचन नही किया।[४] अर्थशक्तिमूलक के दूसरे पक्ष (सलक्ष्यक्रमव्यग्य) मे वस्तु तथा अलकार की व्यजकता मे प्रत्येक के वस्तुव्यग्य तथा अलकारव्यंग्य रूप मे दो भेद किये हैं, पुनश्च वस्तुव्यग्य तथा अलंकारव्यग्य के पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत होने के कारण तीन-तीन भेद किये हैं। हेमचन्द्र के विषय मे एक अवधेय बात यह है कि वे अन्य आचार्यों की तरह स्वत:सम्भवी कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर रूप से अर्थ में भेद नही करते, केवल प्रौढोक्ति को ही व्यंजक अर्थ का गुण मानते है। स्वत.सम्भवी का भी प्रौढोक्ति मे अन्तर्भाव कर लेते हैं।[५]

---

१ 'मुख्यगौणलक्ष्यव्यग्यार्थभेदात् मुख्यगौणलक्षकव्यंजका: शब्दा:।'—काव्यानु० १।१५

२. रसभावतदाभासभावशान्तिभावोदयभावस्थितिभावसन्धिभावशबलत्वानि अर्थशक्तिमूलानि व्यग्यानि।—काव्यानु० १|२५

३. पदैकदेशोऽपि पदम्।—काव्यानु० पृ० ८४

४ वर्णरचनायास्तु साक्षान्माधुर्यादिगुणव्यजकत्वमेव। तद् द्वारेण तु रसे उपयोग इति गुण प्रकरण एव वक्ष्येते इतीह नोक्ते।—काव्यानु० पृ० ८७

५ काव्यानु० पृ० ७२-७३

नरेन्द्रप्रभसूरिकृत ध्वनि-विभाजन

नरेन्द्रप्रभसूरि ने लक्षणामूल ध्वनि को भी शब्दशक्तिमूल के अन्तर्गत गिनाया है। इसका कारण ये है कि लक्षणामूला व्यजना शाब्दी व्यजना ही होती है। अभिधामूलक शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के अन्तर्गत वस्तुव्यग्यता तथा अलकारव्यग्यता को स्वीकार कर मम्मट का अनुसरण किया है तथा अर्थशक्तिमूल ध्वनि मे कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति को कवि प्रोढोक्ति से अभिन्न बताकर २४ भेद करके आनन्दवर्धन के अनुयायी बन गये, रसादि ध्वनि के प्रसग मे आनन्दवर्धन से १ भेद वृद्धि की तथा उभयशक्तिमूल ध्वनि को भी स्वीकार किया। इस प्रकार उन्होने ध्वनि के ३९ भेद माने[1] जो इस रूप मे है।—

शब्दशक्तिमूल व्यग्य = ८ भेद (४ लक्षणामूल + ४ अभिधामूलशब्दशक्ति मूल)

अर्थशक्तिमूलक व्यग्य = २४ भेद (आनन्दवर्धन की भाँति)

रसादि = ६ भेद (पद, वाक्य, प्रबन्ध, पदमध्य, रचना और वर्ण की व्यग्यता के कारण)

उभयशक्तिमूलक व्यंग्य = १ (वाक्यगत)

कुल—३९ भेद

इन ३९ भेदो की ३९ के साथ संसृष्टि होकर १५२१ भेद होते हैं। पुनः तीनो प्रकार का सकर होकर ४५६३ भेद होते है। इस प्रकार १५२१ ससृष्टि के और ४५६३ संकर के मिलाने पर ६०८४ मिश्रित भेद हुये। इनमे ३९ शुद्ध भेद मिला देने पर ध्वनि के कुल ६१२३ भेद होते है।[2]

अवबोधसौकर्य के लिये आनन्दवर्धन, मम्मट, हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा सम्मत ध्वनि के भेदों का संक्षिप्त आकलन तालिका द्वारा किया गया है।

आनन्दवर्धन-सम्मत ध्वनिभेद
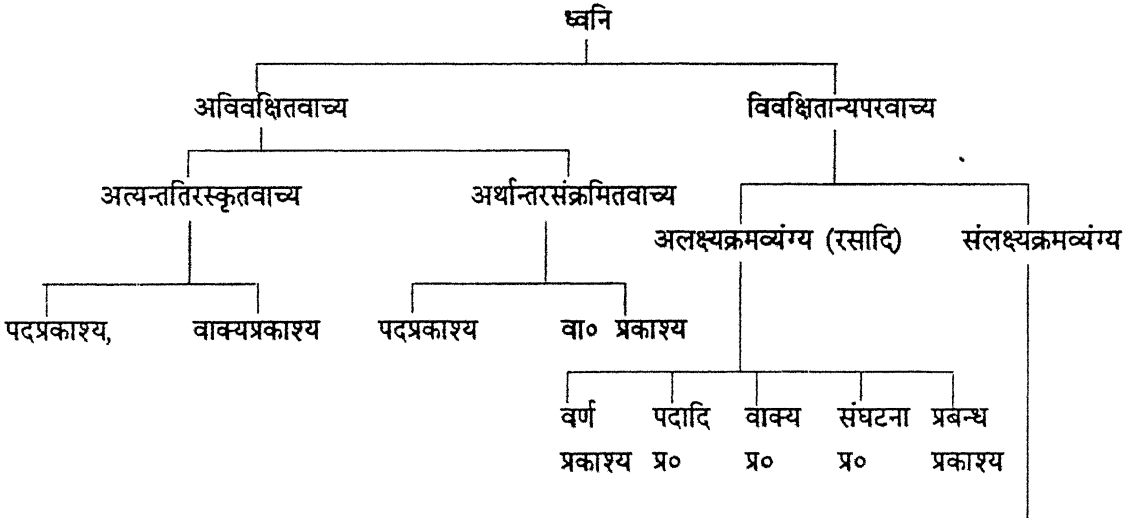
१. 'व्यंयार्थस्य तदेकोनचत्वारिंशद् भिदाः स्मृताः।'—अलं० महो० ३/६३

२. संसृष्टेरेकरूपायास्त्रिरूपात् सङ्करादपि।
सिद्धभिन्मीलनाच्च स्युस्ता विश्वार्क-रसौर्मिताः॥ वही-३/६४

सलक्ष्यक्रमव्यग्य

शब्दशक्तिमूल अर्थशक्तिमूल

पदप्रकाश्य वाक्यप्रकाश्य प्रबन्ध प्रकाश्य

कविप्रौढोक्तिनिरुपन्न शरीर
तथा
कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर

स्वत.सम्भवी

वस्तुरूप अलकाररूप वस्तुरूप अलंकाररूप

अल० व्यग्य | वस्तु व्यग्य | अल० व्यग्य | वस्तु व्यग्य | अलं० व्यग्य | वस्तु व्यग्य | अलं० व्यंग्य | वस्तु व्यंग्य

प्रत्येक के तीन भेद-पदप्रकाश्य वाक्यप्रकाश्य प्रबन्ध प्रकाश्य
= ३६ भेद।
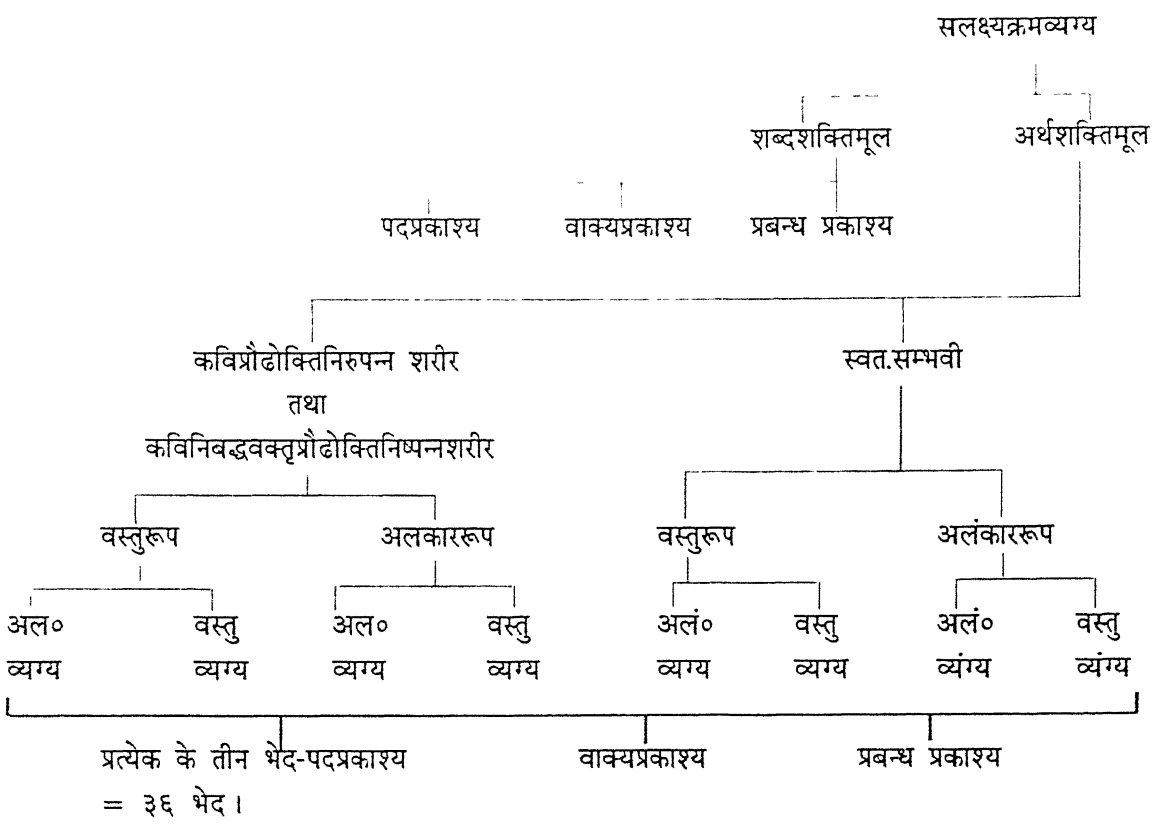
अभिनवगुप्त के अनुसार ध्वनि-भेद—अभिनवगुप्त ध्वनिभेदो का आकलन करते हुए कहते है—

अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति दौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च द्वितीयस्य द्वौ भेदौ-अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः-शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः—कविप्रौढोक्तिकृतशरीर., कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतस्सम्भवी च। ते च प्रत्येक व्यग्यव्यजकयोरुक्तभेदनयेन (वस्तुनालंकारो वस्तु च अलङ्कारेणालंकारो वस्तुचेति) चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूल·। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्य प्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसंघटनाप्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पंञ्चत्रिंशद् भेदाः।—लोचन पृ० २८१

इन भेदो की स्पष्टता के लिए चित्राकित किया जा रहा है—

- सलक्ष्यक्रमव्यग्य
  - शब्दशक्तिमूल
    - पदप्रकाश्य (१०)
    - वाक्यप्रकाश्य (११)
  - अर्थशक्तिमूल
    - कविप्रौढोक्तिकृतशरीर
      - वस्तु
        - अलं० व्यग्य
        - वस्तु व्यग्य
      - अलकार
        - अल० व्यंग्य
        - वस्तु व्यग्य
    - कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीर
      - वस्तु
        - अल० व्यग्य
        - वस्तु व्यग्य
      - अलकार
        - अलंकार व्यग्य
        - वस्तु व्यग्य
    - स्वत.सम्भवी
      - वस्तु
        - अलं० व्यंग्य
        - वस्तु व्यंग्य
      - अलकार
        - अल० व्यंग्य
        - वस्तु व्यंग्य
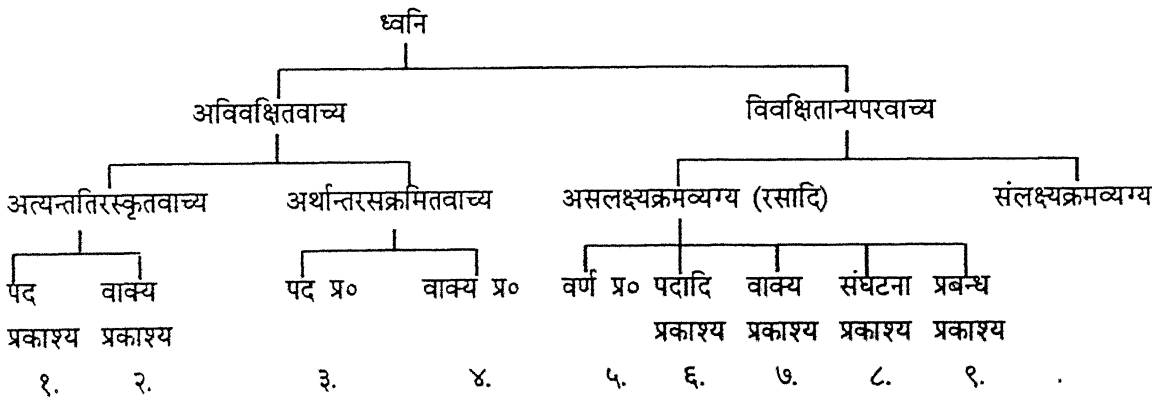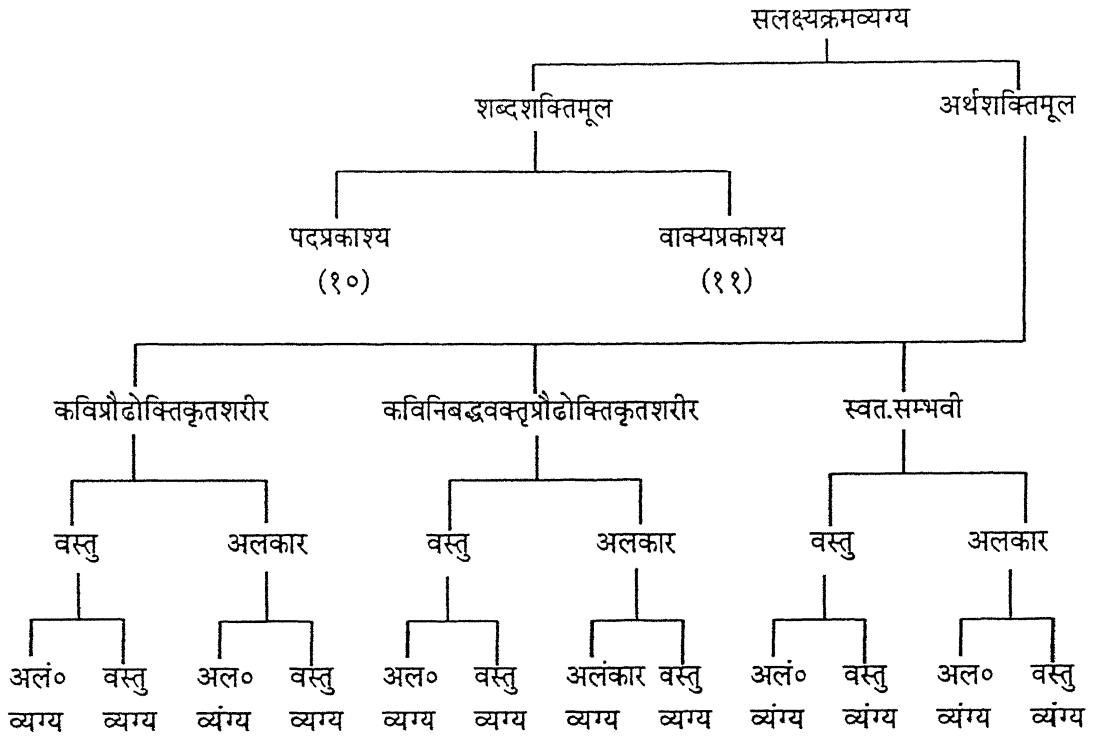
प्रत्येक के दो-दो भेद—पदप्रकाश्य, वाक्यप्रकाश्य (१२)—(३५)

मम्मटानुसार शुद्ध ध्वनि-भेद का चित्रांकन

- ध्वनि
  - अविवक्षितवाच्य
    - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
      - पदगत (१)
      - वाक्यगत (२)
    - अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य
      - पदगत (३)
      - वाक्यगत (४)
  - विवक्षितान्यपरवाच्य
    - असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य
      - पद (५)
      - वाक्य (६)
      - पदैकदेश (७)
      - रचना (८)
      - वर्ण (९)
      - प्रबन्ध (१०)
    - संलक्ष्यक्रमव्यंग्य
      - शब्दशक्ति मूल
        - वस्तु ध्वनि
        - अलंकार ध्वनि
      - अर्थशक्ति मूल
        - पदगत (१२)
        - वाक्यगत (१३)
        - पदगत (१४)
        - वाक्यगत (१५)
      - उभयशक्ति मूल
        - वाक्यगत (११)

- अर्थशक्तिमूल
  - कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर
    - वस्तु
      - वस्तु० — प० वा० प्र — १६ १७ १८
      - अल० — प० वा० प्र० — १९ २० २१
    - अल०
      - वस्तु — प० वा० प्र० — २२ २३ २४
      - अल० — प० वा० प्र० — २५ २६ २७
  - कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पननशरीर
    - वस्तु
      - वस्तु — प० वा० प्र० — २८ २९ ३०
      - अल० — प० वा० प्र० — ३१ ३२ ३३
    - अल०
      - वस्तु — प० वा० प्र० — ३४ ३५ ३६
      - अलं० — प० वा० प्र० — ३७ ३८ ३९
  - स्वत सम्भवी
    - वस्तु
      - वस्तु — प० वा० प्र० — ४० ४१ ४२
      - अल० — प० वा० प्र० — ४३ ४४ ४५
    - अल०
      - वस्तु — प० वा० प्र० — ४६ ४७ ४८
      - अल० — प० वा० प्र० — ४९ ५० ५१

(काव्यनुशासनकार के अनुसार व्यंगयभेद)

- व्यग्य
  - शब्दशक्तिमूल
    - मुख्यशब्दशक्तिमूल
      - वस्तुव्यग्य
        - पदगत
        - वाक्यगत
      - अलकारव्यग्य
        - पदगत
        - वाक्यगत
    - अमुख्यशब्दशक्तिमूल
      - गौणाशब्दशक्तिमूल
        - पदगत
        - वाक्यगत
      - लक्षकशब्दशक्तिमूल
        - पदगत
        - वाक्यगत
  - अर्थशक्तिमूल
    - रसादि
      - पदगत
      - वाक्यगत
      - प्रबन्धगत
    - प्रौढोक्तिरूप
      - वस्तु से
        - वस्तुव्यंग्य
        - अलंकारव्यंग्य
      - अलंकार से
        - वस्तुव्यंग्य
        - अलं० व्यंग्य

प्रत्येक के (१) पदगत (२) वाक्यगत (३) प्रबन्धगत, तीन-तीन भेद

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यभेद—३३ (शब्दशक्तिमूल ८ + अर्थशक्तिमूल २४ + उभयशक्तिमूल १ = ३३ भेद)

+ असंलक्ष्यक्रव्यंग्यभेद—$\frac{६}{३९}$ भेद

संसृष्टि—३९ के साथ ३९ की, ३९ × ३९ = १५२१

संकर—तीन प्रकार का, १५२१ × ३ = $\frac{४५६३}{६०८४}$ मिश्रित भेद

+३९ शुद्ध भेद

६१२३ कुल ध्वनि के भेद

इस प्रकार ध्वनि भेद निरूपण यहाँ समाप्त होता है।

ध्वनि सम्प्रदाय का उदय भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास मे युगान्तरकारी है। आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनि सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। आचार्य ने व्यंग्यप्रधान काव्य को ध्वनि नाम देने का प्रामाणिक आधार भी बताया है—

"वैयाकरणो ने सुनाई पड़ने वाले स्फोट व्यंजक वर्णों को 'ध्वनि' कहा है, तो उन्ही के अनुयायी

काव्यतत्त्वार्थवेदी अन्य मनीषियो ने शब्दार्थ युगल मिश्रित शब्दस्वभाव वाले काव्य को भी (व्यञ्जकत्व-सादृश्य के कारण) ध्वनि नाम दिया।"

'ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवा—

न्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्योव्यञ्जकत्व साम्याद् ध्वनिरित्युक्तः' (ध्व)

ध्वनि सम्प्रदाय में ध्वनि काव्य की आत्मा है।

□□□

चतुर्थ अध्याय

रस-स्वरूप एवं रस-भेद

भारतीय काव्यशास्त्र मे रस सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है। वास्तव मे भारतीय काव्यशास्त्र की आधारशिला यही है। 'सौन्दर्य के आस्वाद्य मे निहित प्रीति तत्त्व का प्राधान्य रस सिद्धान्त मे प्रस्फुटित और विकसित हुआ।'

भारतीय काव्यशास्त्रियो ने रस को वेद्यान्तर स्पर्शशून्य, ब्रह्मा स्वाद सहोदर, अखण्ड चिन्मय, स्वयं प्रकाश तथा अलौकिक कहा है।[१]

रसवादी आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते है। वैदिक श्रुति 'रसो वै रसः' के आधार पर रस को आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही मानते है। भारतीय समीक्षा शास्त्र मे रस को आलोचना का मानदण्ड स्वीकार किया गया है। जीवन की गति यह निश्चित कर देती है कि रस जीवन का सार है, और मानव मात्र का जीवन रस के लिये है। यह निर्विवाद सत्य है कि रस जीवन के लिये आवश्यक तत्त्व है। रस की इसी महत्ता को लक्षित कर ही भरत ने लिखा था—'नहि रसादृते कश्चिदर्थ. प्रवर्त्तते'।[२]

रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो मे किया जाता है, जैसे पदार्थ रस, षड् रस, तिक्त, कषाय, कटु, लवण, अम्ल तथा मधुर। आयुर्वेद मे रसायन या भस्म को भी रस कहते हैं, वहाँ पारद को रस कहा जाता है। रस शब्द भक्ति रस के लिये भी प्रयुक्त होता है। साहित्य में रस शब्द का प्रयोग काव्यानन्द या सौन्दर्यानुभूति के लिये होता है। भारतीय काव्यशास्त्र मे रस सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है। रस काव्य का प्राण तत्त्व है काव्य का उद्‌भव ही रस दशा में हुआ। काव्य मे रस आस्वादनीयता को अक्षुण्ण रखता है, यद्यपि उसका आस्वादन इन्द्रियों से न होकर सहृदय के हृदय से ही होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की विशाल परम्परा मे रस के स्वरूप का ही अधिकता से विवेचन और विश्लेषण हुआ है।

रस शब्द 'रस' धातु और 'अ' (अच् अथवा घञ्) प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है, अतएव रस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात् वह जो आस्वादित किया जाये अथवा रस इति रसः अर्थात् वह जो प्रवाहित हो। इस प्रकार रस में विशेषताएँ अन्तर्निहित हैं—आस्वाद्यत्व एव द्रवत्व।[३]

---

१ साहित्य दर्पण—३।२-३।

२. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, डॉ॰ राजकिशोर सिंह एवं डॉ॰ दुर्गाशंकर मिश्र

३ काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृष्ठ ९३।

प्रस्तुत पृष्ठभूमि के साथ यदि हम रस के स्वरूप और उसकी परिभाषा पर विचार करे तो आचार्य भरत के अनुसार 'विभाव, अनुभाव और सचारी भाव' के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है और रस की निष्पत्ति नाना भावो के समागम से होती है।[१]

रस मे भावो का आस्वादन होता है क्योकि भावो की परिपक्वावस्था का ही नाम रस है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' मे यह प्रश्न उठाकर कि रस क्या है ? इसका उत्तर स्वय दिया है। रस का नाम रस क्यो है ? इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि आस्वाद्य होने के कारण ही इसे रस कहते हैं। जिस प्रकार नाना भाँति के व्यजनो से सुसस्कृत अन्न को ग्रहण कर पुरुष रसास्वादन करता हुआ प्रसन्नचित्त होता है, उसी प्रकार प्रेक्षक या दर्शक भावो तथा अभिनयो द्वारा व्यजित, वाचिक, आगिक एव सात्विक भावो से युक्त स्थायी भाव का आस्वादन कर हर्षोत्फुल्ल हो जाता है।

आचार्य मम्मट के अनुसार लोक मे रति आदि चित्तवृत्तियों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे ही काव्य या नाटक मे विभाव, अनुभाव एव सचारी भाव कहे जाते हैं तथा उन विभावादि के द्वारा व्यक्त होकर स्थायी भाव रस कहा जाता है।[२] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विभाव, अनुभाव एव संचारी भावो के द्वारा व्यक्त या प्रगट होकर जब स्थायी भाव पूर्ण परिपक्वावस्था को पहुँच जाता है तो उसे रस कहते हैं।[३]

अन्य परवर्ती आचार्यों की भाँति जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी भरत रस सूत्र को आधार बनाकर अपनी रस सम्बन्धी मान्यता को स्थापित करते है। आचार्य ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो से अभिव्यक्त होने वाले रत्यादि स्थायी भाव को रस कहा।[४] पुनः भरत रस सूत्र को प्रस्तुत करते हुये आचार्य मम्मट की भाँति भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के रस विषयक मतों का प्रतिपादन किया है।[५]

रस सिद्धान्त के व्याख्याताओ में अभिनवगुप्त का मूर्धन्य स्थान है, इन्होने शैव दर्शन के आधार पर इस सिद्धान्त की व्याख्या की है और बताया है कि रस का अर्थ है आनन्द, और आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है जिसके द्वारा प्रमाता संविद-विश्रांति लाभ करता है। यह सविद-विश्रान्ति ही आनन्द है।

आचार्य विश्वनाथ ने रस स्वरूप की व्याख्या न करके, इनके समय तक जो रस का स्वरूप स्थिर हुआ था, उसी का संग्रह कर दिया है। आचार्य लिखते हैं चित्त मे सत्त्वगुण के उद्रेक की स्थिति मे विशिष्ट संस्कारवान्,

---

१. विभांवानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति.। नाना भावोपागमाद्रस निष्पत्तिः। (नाट्यशास्त्र ६। ३१-३२)

२. कारणान्यथ कार्याणि सहाकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो·॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रस स्मृतः॥—काव्य प्रकाश-४/२७-२८।

३. विभावेनानुभावेन व्यक्त. संचारिणा तथा।
रसातामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥—साहित्य दर्पण—३/१।

४. विभावैरनुभावैश्च व्यक्तोऽथ व्यभिचारिभिः।
स्थायी रत्यादिको भावो रसत्वं प्रतिपद्यते॥—अ० महा० ३/१२।

५. अलंकार महोदधि, ३/१२ वृत्ति।

सहृदयजन अखड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से मुक्त, ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार प्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नत आस्वादन करते है।[१] आचार्य विश्वनाथ का आशय यह है कि रस का आस्वादन होता है। अतः रस आस्वाद रूप है और इस रस के आस्वादकर्त्ता सहृदय ही होते है।

इसीं भाव को आचार्य मम्मट अभिव्यक्त करते हुये लिखते है रस का आस्वादन सहृदय को ही सम्भव है अर्थात् रस सहृदय सवेद्य है। उनका "सवासनाना सभ्याना" कथन सहृदय, हृदय का ही बोधक है।[२] रस की एक विशेषता यह है कि रस का आनन्द चमत्कार प्राण है। रस की इन्ही विशेषताओ के कारण आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश मे रस का विवेचन करते हुये लिखा है कि रस न ज्ञाप्य है न कार्य और न ज्ञाप्य और कार्य हो सकता है। न साक्षात् अनुभव है और न परोक्ष, न निर्विकल्पक ज्ञान है और न सविकल्पक। अतएव किसी लौकिक परिभाषा मे आबद्ध न हो सकने के कारण अनिर्वचनीय है, अलौकिक है एव ब्रह्मानन्द सहोदर है। निर्विकल्पक समाधि का विषय भी नही, क्योकि उसमे तो अहकार मे भी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है; परन्तु रस मे ऐसा नही होता है।[३] रस की अनुभूति इन तीनो प्रकारो की अनुभूतियों से विलक्षण है।

रस काव्य का आस्वाद्य है। यह आस्वाद आनन्दमय है। रस पूर्ण तन्मयीभाव की स्थिति है, तन्मयीभाव की स्थिति मे स्वभाव से ही अन्य ज्ञान की सम्भावना नही रहती है। क्या रसास्वादन सचमुच आनन्दमयी अनुभूति ही है अर्थात् क्या यह अनिवार्यतः आनन्दमय होता है। इस विषय मे पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। शृगार, वीर, हास्य, अद्‌भुत और शान्त रस का आस्वाद तो निश्चय ही आनन्दमय होता है पर करुण, भयानक, वीभत्स आदि का आस्वाद भी आनन्दमय होता है; यह विवाद का विषय है। इस विषय को लेकर आचार्यों के दो वर्ग बन गये, एक वर्ग तो वह है जो रस को सर्वथा सुखात्मक ही मानता है, दूसरा वर्ग रस को एकांत सुखात्मक नही मानता है।

मम्मट ने रस को सकल प्रयोजन मौलिभूत एव रसास्वाद को आनन्दरूप माना है।[४] रसवादी विश्वनाथ का मत तो और भी निर्भ्रान्त एवं सुस्पष्ट है—करुण आदि रसो मे भी जो परम आनन्द होता है, उसमे केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। यदि उसमे दुःख होता तो कोई भी उनके प्रेक्षण-अध्ययन आदि में प्रवृत्त न होता; वैसा होने पर रामायण आदि महाकाव्य दुःख के कारण बन जायेगे।[५]

---

१. सत्वोद्रेकादखण्डस्वाप्रकाशानन्द-चिन्मय.।
वेद्यात्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मा स्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभि.।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते-रसः॥ (साहित्य दर्पण ३/२-३)।

२. सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।—का० प्र०

३. काव्य प्रकाश-४-२७-२८ की व्याख्या।

४ सकल प्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादन समुद्‌भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम् (१२ वृत्ति)।—का० प्र०

५ करुणादावपि रसे जायते यत्परंसुखं।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवल॥
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुखहेतुता॥—सा० द० ३/४-५

रस की आनन्दरूपता के दो प्रमाण हैं—एक, वेद के ये वाक्य, "आत्मारस रूप है, रस को प्राप्त कर ही यह आनन्दरूप होता है और दूसरा, सम्पूर्ण सहृदय समाज का प्रत्यक्ष अनुभव। इसके पूर्व रस की आनन्दरूपता को स्थापित करते हुये पडितराज जगन्नाथ अपना मतव्य देते है—रति आदि स्थायी भाव ही सत्य तथा विज्ञान रूप होने से स्वत. प्रकाशमान् आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर रस मे परिणत हो जाते है।[१]

इस प्रकार सस्कृत के प्राय सभी आचार्य रस को अनिवार्यत आनन्दरूप ही मानते है।

विरोधी पक्ष मे जैनाचार्यद्वय रामचन्द्र, गुणचन्द्र का स्वर सबसे मुखर और स्पष्ट है, वे रस को सुखात्मक और दु खात्मक दोनो प्रकार का मानते है।[२]

जी०टी० देशपाण्डेय जी ने भी रस को सुखात्मक माना है उनका अपना मत है—जहॉ तक हमारी सम्मति का प्रश्न है हमे अभिनवगुप्त का ही मत अनेक कारणो से स्वीकार्य प्रतीत होता है क्योकि इस सिद्धान्त से सम्पूर्ण काव्याङ्गो की उपपत्ति हो पाती है। फलत· इससे अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध आनन्दवाद ही हमें ग्राह्य प्रतीत होता है।[३]

रस की सुखदु.खात्मकता के विषय मे डॉ० नगेन्द्र ने ऐतिहासिक क्रम से यानि भरत से लेकर अब तक हिन्दी, मराठी, बगला आदि के उद्‌भट विद्वानो के अभिमतो को विस्तारपूर्वक मथन करके उनका सार प्रस्तुत करते हैं कि—

(१) "रस आनन्दरूप है। आनन्द के दो रूप है उदात्त आत्मविश्रान्ति और मनःप्रीति (सहृदयमन प्रीतये)[४] एक तीसरा रूप भी है मनोरजन जो आजकल हीनतर अर्थ का वाचक बन गया है। इन तीनो ही स्थिति मे रस प्रीतिकर या सुखात्मक है।

(२) रस सुखात्मक भी है और दु.खात्मक भी। अर्थात् प्रीतिकर स्थायी भावो पर आश्रित श्रृगार, वीर, शान्त आदि का स्वरूप सुखात्मक और अप्रीतिकर स्थायी भावो पर आश्रित करुण, भयानक, वीभत्स आदि दु खात्मक स्वरूप वाला है।

(३) रस उभयात्मक है यानि सुखदुःखमयी मिश्र अनुभूति है।

(४) रस न सुखात्मक है और न दुःखात्मक। रस दशा हृदय ही मुक्तावस्था का नाम। रस की अनुभूति चित्त के वैशद्य की, : एक प्रकार से शान्त की अनुभूति है।

(५) रस सरल अनुभूति नही है, उसमे अनेक, प्रायः परस्पर विरोधी, अन्तःवृत्तियो का सूक्ष्म सतुलन

---

१ स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सहगोचरीक्रियमाण·—रत्यादिरेव रसः। रसो वै स·, रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इत्यादि श्रुतिः, सकल सहृदय प्रत्यक्ष चेति प्रमाणद्वयम् (रसगंगाधर, प्रथम आनन ८०)।

२ सुख दु खात्मको रसः (ना०द० ३, १०९)।

३ भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० २९१।

४ ध्वन्यालोक १/१।

रहता है, अत. यह अत्यन्त वैविध्यपूर्ण अनुभव है।"[1] रस की अनुभूति अन्तत प्रीतिकर ही सिद्ध होती है—वह आनन्दमयी चेतना ही है , विवाद शाब्दिक है, तात्विक नही।[2]

अन्त मे यह कहना पर्याप्त होगा कि काव्यगत भाव अलौकिक होते है अत· वे आनन्द का कारण बनते है।

रस का आनन्द अलौकिक होता है, लौकिक आनन्द सीमित होता है, अलौकिक अपरिमित होता है। उसका आस्वाद 'प्रपाणकरस' के समान होता है जिस प्रकार 'प्रपाणक' मे विभिन्न मिश्रण से एक अभिनवस्वाद की सृष्टि होती है जिसमे प्रत्येक वस्तु के आस्वाद से एक भिन्न प्रकार का आस्वाद उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रस के आनन्द मे भी विभाव आदि के आस्वादो से भिन्न आस्वाद उत्पन्न होता है। रस के अलौकिकत्व का यह रहस्य है कि जो वस्तु ससार मे भय या शोक उत्पन्न करती है, वही वस्तु काव्य मे वर्णित होने पर केवल आनन्द ही उत्पन्न करती है, इसलिए क्रोध स्थायी भाववाला रौद्र रस भी आनन्द का ही उत्पादक होता है। घृणाजनक वीभत्स भी आनन्द रूप होता है। अत· रस 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहलाता है। यही अभिनव गुप्त के सिद्धान्त का सक्षेप रूप है।[3]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का रस स्वरूप विवेचन आचार्य हेमचन्द्र और मम्मट के ही अनुसार वर्णित है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट की ही भाँति भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त के रस विषयक मतो का प्रतिपादन किया। रसोन्मीलन के विषय में विभिन्न मत दिये गये है।

भरतमुनि ने रसोन्मीलन के विषय मे अपना मत दिया कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, टीकाकारो ने इसके व्याख्यान मे अपनी प्रतिभा तथा विशिष्ट मत का पूरा उपयोग किया है। विभिन्न मतो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध लोल्लट का उत्पत्तिवाद, शकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद, अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद है। अर्वाचीन आचार्यों ने अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को समवेत स्वर मे मान्यता प्रदान की है। अभिनवगुप्त साहित्यशास्त्र में एक महनीय ध्वनिवादी आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

उत्पत्तिवाद के उद्‌भावक मीमांसक भट्टलोल्लट संयोग शब्द का अर्थ सम्बन्ध तथा निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति कहते हैं। यह सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है—उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध से विभावों द्वारा दर्शक में रस उत्पन्न होता है। गम्य गयक सम्बन्ध से अनुभावो द्वारा पात्र दर्शक के समक्ष रस को अभिव्यक्त करते हैं। पोष्य-पोषक सम्बन्ध से व्यभिचारिभाव रस को पुष्ट करते हैं। अनुमितिवाद के उद्‌भावक आचार्य शंकुक ने भरत की निष्पत्ति को अनुमिति तथा संयोग को अनुमाप्य-अनुमापक मानकर विभावादि को अनुमापक तथा रस को अनुमाप्य माना है।

सांख्यमतानुयायी भुक्तिवाद के उद्‌भावक भट्टनायक ने सयोग का अर्थ भोज्यभोजक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति

---

१. रस सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १०५-१०६।

२. रस सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १११।

३. संस्कृत आलोचना, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २५३।

का अर्थ भुक्ति लिया है। भट्टनायक ने रस की स्थिति प्रेक्षक के हृदय मे स्वीकार की है।

वेदान्तमतानुयायी अभिव्यक्तिवाद के प्रतिष्ठाता अभिनवगुप्त के अनुसार 'सयोग' का अर्थ व्यग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है। अभिनवगुप्त ने सामाजिक के हृदयस्थित स्थायी भाव को रसानुभूति का निमित्तकारण माना है, जो कि बीज रूप मे मन मे प्रसुप्तावस्था मे विद्यमान रहते है। ये स्थायी भाव ही साधारणीकृत होकर प्रेक्षक को ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्द रस मे निमग्न कर देते है। अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद के द्वारा समस्या का समाधान किया और सामाजिक के हृदयस्थित वासनात्मक रति आदि स्थायी भावों से रस निष्पत्ति स्वीकार की है।[१]

अधिकाश आधुनिक काव्यशास्त्री रसनिष्पत्ति के प्रसग मे अभिनवगुप्त की मान्यताओं से सहमत है।

रसभेद एवं शृंगारादि रसों में अन्य रसों का अन्तर्भाव—

जिस प्रकार रस स्वरूप निर्धारण में विद्वानो मे मत वैभिन्न्य था, उसी प्रकार रस के भेद के विषय मे अनेक मत हैं। विभिन्न मतों के अनुसार रस भेद एक, आठ, नौ, दस, बारह अथवा असख्य हैं। रस भेद के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की मान्यताएँ युक्तियुक्त हैं अभिनवगुप्त के मतानुसार वस्तुतः आनन्द ही रस है ; रस एक है, अनेक नही। रस रस ही है उसके लिये पर्यायवाची शब्द की आवश्यकता नही। रस ब्रह्म के समान है, जिस प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और नानात्मक विकृतियाँ असत्य हैं, उसी प्रकार शृंगार, हास्य आदि रस की अनेकता तथा पार्थक्य वस्तुतः असत्य है। रस ही एकमात्र सत्य है। रस अशी है, शृंगारादि रस उसके अंशमात्र हैं अभिनवगुप्त ने मूलस्थानीय रस के लिये 'महारस' शब्द का प्रयोग किया है तथा अशभूत रसों को केवल रस कहा है।

रस की एकरूपता सिद्धि के लिये आचार्य भरत ने 'न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' इस वाक्य में एकवचन का ही प्रयोग किया है। आचार्यों ने आनन्दमय रस मात्र को ही महारस माना है, अन्य रस मूल महारस के विकार मात्र हैं।[२]

भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धान्त है—एकोरसः।

'एक रस की कल्पना का आरम्भ वास्तव में रस के दार्शनिक विवेचन के साथ होता है। आचार्य भरत का एकवचनान्त 'रस' का प्रयोग सामान्य व्याकरणिक प्रयोग है, दार्शनिक प्रतिपत्ति नही है। आस्वाद रूप एक ही 'महारस' के ये भिन्न-भिन्न रूप किस प्रकार होते हैं ? अभिनवगुप्त का कथन है कि विभावादि भेद से ये भेद होते हैं।[३] रसास्वाद में विभावादि की ही चर्वणा रहती है। काव्य या नाट्य मे विभावादि का ही वक्रोक्ति अथवा अभिनय द्वारा साक्षात्करण किया जाता है। विभावादि की चर्वणीयता के कारण ही रसिको का तन्मयीभाव होकर वासना संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं, एवम् इसी से चर्वणा में विशिष्टरूपता आती है।[४]

---

१. सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितो रत्यादि भावो रसः। हिन्दी अभिनव भारती।
२. आचार्य बलदेव प्रसाद उपाध्याय—संस्कृत आलोचना पृ० २५७।
३. अनेन विभावादि भेदं रस भेदे हेतुत्वेन सूचयति 'स च विभाव साक्षात्कारात्मक एव'।—अभिनव भारती
४. भारतीय साहित्यशास्त्र—पृ० ३३५ जी०टी० देशपाण्डे।

भरत को नाना रसत्व ही अभीष्ट था, एक रसत्व नही क्योकि वह उनकी व्यावहारिक दृष्टि के विपरीत पड़ता है। किन्तु आगे चलकर जब अभिनव के सर्वव्यापी प्रभाव के फलस्वरूप शैवाद्वैत के आधार पर रस सिद्धान्त की व्याख्या से तो रस की अद्वैतता अनिवार्य हो गयी। रस का अर्थ आत्मास्वाद सिद्ध हो जाने पर तो इसके अतिरिक्त कोई विकल्प ही नही रह गया कि रस को एक, अखण्ड तथा वेद्यान्तरस्पर्शशून्य माना जाये। अभिनव ने बड़े प्रामाणिक शब्दो मे अतर्क्य आत्मविश्वास के साथ घोषणा की है कि 'हमारे मत मे तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही आस्वादन (रस रूप) होता है। केवल उस (आनन्दमय विज्ञान स्वरूप) की विचित्रता के सम्पादन के लिये रति, शोक आदि सस्कारो (स्थायी भावों) का व्यापार होता है और उनके उद्बोधन के लिये अभिनयादि का व्यापार होता है' (हिन्दी अभिनव भारती ५०७)। वीतराग अभिनव ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार आत्मज्ञान को महत्त्व देते हुए इसे शान्त नाम दिया और रागी भोजराज ने आत्मरति या आत्मरमण का प्राधान्य स्वीकार करते हुए इसे शृंगार कहा। किन्तु यह भेद केवल नाम का है, स्वरूप का नही। शैवागम के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादियो ने शान्त और शृगार के विवाद को मिटाने के लिये 'आनन्द रस' नाम अधिक व्यापक और उपयुक्त समझा। इनके अतिरिक्त एकरस की सिद्धि के लिये दो अन्य प्रयास किये गये, उनका आधार दार्शनिक की अपेक्षा साहित्यिक ही अधिक था। भवभूति का दृष्टिकोण रागात्मक था, रस एक रागात्मक अनुभव है और राग का मूलरूप है सवेदना या सहृदयता, अत: मूलरस वह है जो सर्वाधिक संवेदनात्मक हो यानि करुण, नारायण पंडित और उनका अनुसरण करने वाले धर्मदत्त ने अद्भुत को आधारभूत रस माना है। उन्होने चमत्कार का आनन्द वाचक अर्थ ग्रहण न कर वैचित्र्यपरक अर्थ ही ग्रहण किया और यह वैचित्र्यपरक चमत्कार कल्पना का ही चमत्कार है जो अलंकारवाद का प्राणतत्त्व है। रसास्वाद का मूलाधार विस्मय है, जो कि अद्भुत रस का स्थायी भाव है अत: अद्भुत ही मूलरस है।[१]

वैष्णव आचार्यों ने भक्ति रस को मूलरस माना और इसे ही एकमात्र रस घोषित किया।

अनेकता में एकता, इस रूप का दर्शन हमे रस सम्प्रदाय में भी परिलक्षित है किन्ही ने आनन्द को रस का प्राण मानकर शम या आत्मभोग रूप शृंगार को मूलरस घोषित किया। भावुकों ने राग या संवेदना को रस की आत्मा माना जिसके फलस्वरूप करुण की मूलरस रूप में प्रतिष्ठा हुई। और विदग्धों या आलंकारिकों ने कल्पनातत्त्व को रस का सार मानते हुये अद्भुत का अभिषेक किया।[२]

वैष्णवों ने भगवद् रति को भक्ति रस मे परिणत किया।

प्रत्यभिज्ञावादीशैव दार्शनिक भी अभिनवगुप्त की भाँति शान्त को मूलरस मानते हैं तथा अन्य रसो को उसकी विकृतियाँ।

वे हृदय की उपमा अष्टदल कमल से देते हैं। कमल मे आठ दल होते हैं और बीच मे होती है कर्णिका। उसी प्रकार रति, शोक, हास आदि आठ स्थायी भावों का उदय हृदय में होता है और हृदय के केन्द्र या कर्णिका में विद्यमान रहता है—शान्त रस जिसमें रति आदि भावों की साम्यावस्था रहती है। अपने विशिष्ट निमित्त को

---

१. रस सिद्धान्त—पृ० २६३-२६४।

२. रस सिद्धान्त—पृ० २६४।

लेकर ये श्रृंगारादि रस उसी मूलभूत रस से उत्पन्न हुआ करते है। भरत मुनि के एक प्रसिद्ध श्लोक की व्याख्या करते समय अभिनवगुप्त ने इस मत का उत्थान दिखलाया है।[१]

विशेष दार्शनिक युक्तियो से मण्डित तथा तर्क से समर्थित होने के कारण इस विषय मे यही अन्तिम मत प्रामाणिक माना जा सकता है। अनेक आचार्यो की यही सम्मति है।

रसो की सख्या निर्धारण मे ऐतिहासिक कालक्रम से पर्यालोचन आवश्यक है।

आचार्य भरत ने शृंगार, हास्य आदि आठ रसो को नाट्य मे स्वीकार किया है। ये आठ रस उन्हे ब्रह्मा द्वारा परम्परा से प्राप्त हुये।[२] दण्डी को भी रसो की उक्त संख्या अभीष्ट है।[३] किन्तु आनन्दवर्धन ने शान्तरस का समावेश करते हुये नौ रसो को स्वीकार किया।[४] आचार्य मम्मट भरतमुनि के अनुगामी है, अतः उन्होने सर्वप्रथम आठ रसो का ही उल्लेख किया है।[५] पुनः आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की मान्यताओ के आधार पर 'शान्तोऽपि नवमोरसः'[६] इस प्रकार कहकर निर्वेद स्थायी वाले शान्त रस को भी स्वीकार किया है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य मे शान्त रस की स्थिति स्वीकार करते हुये कहा, 'एवं ते नवैव रसाः'[७] इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि कतिपय विद्वान् इन नौ प्रतिष्ठित रसो के अतिरिक्त और भी तीन रसो की स्थिति मानते हैं—जैसे १. आर्द्रता-स्थायिक स्नेह रस, २. लौल्य रस, ३. भक्ति रस। किन्तु इनकी पृथक् सत्ता अन्ततः सिद्ध नही होती है। आर्द्रता रूप स्थायीभाव से युक्त स्नेह रस होता है, यह कहना उचित नही है, क्योकि स्नेह एक प्रकार से आकर्षण का नाम है। वह सब [ही प्रकार का आकर्षण या स्नेह] रति या उत्साहादि में समा जाता है। जैसे कि बालक का माता-पित्रा आदि के प्रति, युवको का मित्रो के प्रति और लक्ष्मण आदि जैसे भाइयों के प्रति स्नेह का उदय रति में समाविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वृद्धजनो का पुत्रादि के प्रति स्नेह (जिनको अन्य रसों के मानने वाले वात्सल्य रस नाम से कहते हैं।) उसके विषय में समझना चाहिये। गर्ध रूप स्थायी भाव वाले लौल्य रस के खण्डन मे यही पद्धति समझनी चाहिये, क्योकि हास में, या रति में अथवा अन्य किसी रस मे उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार भक्ति रस के विषय मे समझना चाहिये। यानि भक्ति रस अलग नहीं है। उसका भी रति में अथवा भाव मे अन्तर्भाव हो सकता है।[८]

---

१. स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥ (नाट्यशास्त्र, अध्याय ६)।

२. शृंगारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुत संज्ञौ-चेत्त्याष्टौ नाट्योरसाः स्मृता॥
एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना॥—नाट्यशास्त्र, ६/१५/१६/

३. इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृतागिराम्।—काव्यादर्श, २/२९२

४ आनन्दवर्धन, पृ० १६४-१६५

५. काव्यप्रकाश ४/२९

६. वही, ४/३५

७. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ६४०

८. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ६४१

हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन मे अभिनव के ही शब्दो का अनुवाद सा करते हुये स्नेह, लौल्य और भक्ति रसो का उल्लेख एव खण्डन किया है।[१]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने शृगारादि नौ रसो को स्वीकार किया है।[२] इन्होने भी आर्द्रता रूप स्थायी भाव वाले स्नेह आदि सभी रसो का रत्यादि रसो मे ही अन्तर्भाव किया है।[३]

इस प्रकार जैन आचार्यों द्वारा किया गया रस भेद विवेचन भरत परम्परा का निर्वाह है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस विस्तार प्रवृत्ति का खण्डन कर परम्परा की पुन· प्रतिष्ठा पर बल दिया।

भक्ति आदि रसो का समावेश करने से मुनि द्वारा निर्धारित सख्या भंग हो जायेगी। अत. शास्त्र का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है।[४]

रस संख्या का विस्तार सबसे अधिक भोज ने किया। उन्होंने प्रसिद्ध नव रस के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त और उद्धत रसो का तो स्पष्ट वर्णन किया ही है।[५] डॉ० राघवन के अनुसार—ये नवीन रस नायक भेदो के अनुसार उद्‌भावित किये गये हैं।

इनके अतिरिक्त भोज ने एक ओर 'स्वातन्त्र्य', 'आनन्द', 'प्रशम' और 'पारवश्य' और दूसरी ओर 'साध्वस', 'विलास', 'अनुराग' और 'संगम' रसो का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः भोज रसो की अनन्तता मे विश्वास रखते हैं।[६] रुद्रट की भाँति भोज मानते थे कि सभी भाव, स्थायी, संचारी और सात्विक भी रसत्व को प्राप्त हो सकते हैं।[७]

कविराज विश्वनाथ ने नव रस को स्वीकार कर लेने के बाद, प्रायः स्पष्ट शब्दो में ही वात्सल्य रस को भी मान लिया है।[८]

रस प्रसंग के आरम्भ में भानुदत्त ने वात्सल्य, लौल्य और भक्ति के साथ एक नवीन रस का भी उल्लेख किया। **कार्पण्य** जिसका स्थायी भाव है स्पृहा (ननु वात्सल्यं, लौल्यं, भक्तिः, कार्पण्यं वा कथं न रसः।[९]

वस्तुतः आचार्यों ने रस नौ ही माने, अन्य रसों का अन्तर्भाव इन्हीं नौ रसो मे किया।

---

१. काव्यानुशासन पृ० १०६-२१२ वृत्ति

२. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका·।
वीभत्साद्‌भुत शान्तश्च नव नाट्ये रसा अमी॥ अलंकार महोदधि-३। १३

३. ये तु कैश्चिदार्द्रतादि स्थायिनः स्नेहादयो रसाः प्रोक्तास्ते सर्वेऽपिरत्यादिष्वेवान्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिता। अलंकार महोदधि, ३। १३

४. रसानां नवत्व गणना च मुनिवचन नियन्त्रिता भज्यते, इति यथा शास्त्रमेवज्यायः (हि० रस गं० पृ० १७६)

५. प्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः। स० कण्ठाभरण ५-१६४॥

६. स० कण्ठाभरण, पृ० ७१८

७. दि नम्बर ऑफ रसज्ञ, पृ० १२४, १२५

८. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। साहित्य दर्पण ३, २५१

९. दि नम्बर आफ़ रसज्ञ, पृ० १४१

इस प्रकार प्रायः सर्वस्वीकृत रस ९ ही है—शृंगार, हास्य, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत और शान्त।

येन-केन प्रकारेण अन्य रसो का अन्तर्भाव शृगारादि रस मे ही कर लिया गया।

१. शृंगार रस—इसका स्थायी भाव रति है। भरतमुनि के अनुसार उत्तम प्रकृति वाले नायक-नायिका मे होता है। इन्होने इसके दो भेद किये है—संयोग शृगार और विप्रलम्भ शृंगार। सयोग शृंगार ऋतु, माला, अनुलेपन, अलकार धारण इष्ट जन सामीप्य, विषय, सुन्दर भवन का उपभोग, वनगमन तथा अनुभव करने, सुनने प्रिय के देखने, क्रीड़ा तथा लीलादि विभावो से उत्पन्न होता है।[१] किन्तु जब नायक-नायिका एक-दूसरे से बिछुड़ कर दुःखानुभूति करते हैं, तब विप्रलम्भ-शृंगार की उत्पत्ति होती है।

मम्मट ने शृंगार के भरत सम्मत दो ही भेद किये। सयोग शृगार के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, चुम्बनादि अनन्त भेद होने से अगणनीय एक ही भेद माना तथा विप्रलम्भ-शृगार के अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास शाप पॉच भेद स्वीकार किये।[२]

हेमचन्द्र के अनुसार सुखमय धृति आदि व्यभिचारी भावो और रोमाच आदि अनुभावो वाला सयोग शृंगार है। यह परस्पर अवलोकन आदि के भेद से अनन्त प्रकार का है, तथा शंकादि व्यभिचारी भावो, संताप आदि अनुभावों वाला विप्रलम्भ-शृंगार है। यह अभिलाष, मान और प्रवास के भेद से तीन प्रकार का होता है। पुनः अभिलाष के दैववशाद् और परतंत्रतावशाद् ये दो भेद मान के, प्रणय और ईर्ष्या मे दो भेद तथा प्रवास के कार्य हेतुक, शाप हेतुक तथा संभ्रम ये तीन भेद किये हैं।[३]

हेमचन्द्र ने करुण विप्रलम्भ को करुण रस ही माना है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्वप्रथम शृगार के दो भेद किये—[४] संभोग और विप्रलम्भ-शृंगार। पुनः संभोग के परस्पर अवलोकन आदि अनन्त भेद माने हैं। विप्रलम्भ के पॉच भेद किये हैं। स्पृहा, शाप, वियोग, ईर्ष्या और प्रवासजन्य।[५]

यद्यपि नरेन्द्रप्रभसूरि ने संभोग-शृंगार के अनन्त भेद स्वीकार किये हैं तथापि पॉच प्रकार के विप्रलम्भ के पश्चात् होने वाले संभोग के कारण सभोग-शृंगार भी पाँच प्रकार का माना है। स्पृहानन्तर, शापानन्तर, वियोगानन्तर, ईर्ष्यानन्तर और प्रवासानन्तर।[६]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने करुण विप्रलम्भ को हेमचन्द्र की भॉति करुण रस ही माना है।[७] हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा करुण विप्रलम्भ को करुण रस मानना नवीनता का परिचायक है।

---

१. नाट्यशास्त्र, ६। ४५

२. काव्य प्रकाश, पृ० १२१, १२३।

३. काव्यानुशासन, २। ४-८

४. करुण विप्रलम्भस्तु करुण एव २। ५ वृत्ति काव्यानु०

५ अलंकार महोदधि—३। १५-१६

६. अलंकार महोदधि ?३। १६—एवं च यद्यपि चुम्बनालिंगनदिभि. संभोगस्यानन्त्यमुक्तम्, तथापि पंचप्रकार विप्रलम्भानन्तरभावित्वात् तस्यापि पंचविधत्वमेव।

७. अलंकार महोदधि, ३। १६, करुण विप्रलम्भस्तु करुण एव।

इस प्रकार शृगार रस का रति स्थायी भाव, आलम्बन विभाव नायक तथा नायिका है। उद्दीपन चन्द्र, चॉदनी, वन-उपवन, पुष्प, शीतल मन्द सुगन्ध समीर, बसन्त आदि ऋतु, एकान्त स्थल, कमनीय केलि कुञ्ज, सखा-सखी दूती आदि। 'अनुभाव' अनुरागपूर्ण एक-दूसरे को देखना कटाक्ष करना, भृकुटि भग आदि है।

व्यभिचारी भाव है, उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा इन चार व्यभिचारि भावो को छोड़कर शेष २९ भाव।[१]

२. हास्य रस—इसका स्थायी भाव हास है। भरतमुनि ने इसकी उत्पत्ति विकृत आकार, वेष अलकारादि विभावो से मानी है।[२] उनके अनुसार हास छ: प्रकार का होता है—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। इनमे से प्रथम दो उत्तम प्रकृति वाले पुरुषो मे, मध्यम दो मध्यम प्रकृति वाले व्यक्तियो मे तथा अन्तिम दोनो अधम प्रकृति के व्यक्तियो मे होता है।[३] हास की न्यूनाधिक मात्रा होने से ही इनमे विलक्षणता है।

यह आत्मस्थ और परस्थ के भेद से भी दो प्रकार का होता है। जब किसी वस्तु के दर्शनादि से स्वय हॅसता है तो आत्मस्थ होता है, जब वह दूसरे को हॅसाता है तो परस्थ कहलाता है।[४]

अभिनव के अनुसार आत्मस्थ का अर्थ है ऐसा हास्य जो स्वयं प्रमाता के चित्त मे उद्भूत होता है अर्थात् स्वगत हास्य और परस्थ का अर्थ है वह हास्य जो दूसरो को हॅसते देखकर उत्पन्न हो जाता है अर्थात् अन्यत्रसक्रान्त हास्य। **हिन्दी अभिनव भारती**।

डॉ० राघवन ने 'स्वयं हसति' और 'परं हासयति' का अर्थ क्रमशः किया है—दूसरों के साथ हॅसता है और दूसरो पर हँसता है—किन्तु यह पाश्चात्य हास्य भेदो का आरोपण मात्र है, उपर्युक्त शब्दावली का उचित अर्थ नहीं है। (राघवन-दि नम्बर आफ़ रसाज़)।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि स्मित, विहसित और अपहसित के भेद से आत्मस्थ हास्य तीन प्रकार का होता है तथा क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति में पाया जाता है। इसी प्रकार हसित, उपहसित तथा अतिहसित के भेद से 'परस्थ भी तीन प्रकार का होता है, जो क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति में पाया जाता है।[५] नरेन्द्रप्रभसूरि ने आत्मस्थ और परस्थ के भेद से हास्य दो प्रकार का माना है।[६] हास्य रस का स्थायी भाव हास है। आलम्बन है विकृत वेष तथा विकृत वचन वाला व्यक्ति। उद्दीपन है, अनुपयुक्त वचन, वेष-भूषा आदि। अनुभाव है मुख का फैल जाना, ऑखो का मींचना आदि। संचारी भाव है निद्रा, आलस्य, चपलता अवहित्था आदि।

---

१. व्यक्ता स्त्री-पुंस-माल्यदिविभावैराश्रिता रतिः।
व्यभिचारिभिरालस्य जुगुप्सौग्र्यविवर्जितैः। ३। १४ अलंकार महोदधि

२. नाट्यशास्त्र, ६। ४८

३. वही, ६। ५२-५३

४. वही, ६। ४८

५. काव्यानुशासन, २। १०-११

६. अलंकार महोदधि ३। १७ वृत्ति (स चात्मस्थः परस्थश्च।)

३. करुण रस—इष्ट के विनाश और अनिष्ट के सयोग से उत्पन्न होने वाला करुण रस कहलाता है। इसका स्थायी भाव शोक है। भरतमुनि ने शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजन वियोग, विभाव नाश, वध, बन्ध, विद्रव, उपधात और व्यसन आदि विभावो से करुण रस की उत्पत्ति मानी है।[१]

करुंण के भरत ने तीन भेदो का उल्लेख किया है—१. धर्मोपधातज—धर्म हानि से उत्पन्न, २. अर्थापचयोद्भव—अर्थ हानि से उत्पन्न और ३. शोककृत—स्वजनो के मृत्यु शोक से उत्पन्न। इसमें अग्नि-पुराणकार ने एक भेद और जोड़ दिया—चित्तग्लानिजन्य। ('अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग'।)

हेमचन्द्र के अनुसार इष्ट विनाश आदि विभाव, देवोपलम्भ आदि अनुभाव, निर्वेद ग्लानि आदि दुःखमय व्यभिचारी-भाव और शोक रूप स्थायी-भाव वाला करुण रस है।[२] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने उपरोक्त कथनो के साथ ही करुण रस के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो का उल्लेख करते हुये पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण मात्र किया है।[३]

आचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि ने '**करुण विप्रलम्भ**' को करुण रस माना है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय इसके विरोध मे कहते हैं कि '**करुण विप्रलम्भ**' से यह नितान्त भिन्न है, वहाँ तो पुनः समागम की आशा रहने से '**रति**' स्थायी होती है, परन्तु यहाँ तो '**शोक**' स्थायी रहता है।[४]

४. रौद्र रस—शत्रु के असह्य अपराध या अपकार के कारण क्रोध भाव की पुष्टि से रौद्र रस उत्पन्न होता है; क्रोध इसका स्थायीभाव है। भरत मुनि ने इसे राक्षस, दानव और उद्धत पुरुषो के आश्रित माना है। यह रौद्र रस घर्षण अधिक्षेप, अपमान, झूठ वचन, कठोर वाणी, द्रोह और मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है।[५] हेमचन्द्र ने स्त्रियो का अपमान आदि विभाव, नेत्रों की लालिमा आदि अनुभाव और उग्रता आदि व्यभिचारी भाव से युक्त क्रोध रूप स्थायी भाव वाला रौद्र रस कहा है।[६] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्र का अनुकरण मात्र किया है।[७]

५. वीर रस—जब उत्साह के भाव का परिपोषण होता है तो वीर रस की उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने उत्साह नामक स्थायीभाव को उत्तम प्रकृतिस्थ माना है। उनके अनुसार वीर रस की उत्पत्ति असंमोह अध्यवसाय, नीति, विनय, अत्यधिक पराक्रम, शक्ति, प्रताप और प्रभाव आदि विभावों से होती है।[८]

---

१. नाट्यशास्त्र, ६ । ६१ पृष्ठ ७५

२. काव्यानुशासन, २ । १२

३. इष्ट नाशादिभूर्देवोपालम्भाद्यनुभावभाक्।
दुःखैकमयसञ्चारी शोकः करुणतां भजेत्॥ ३ । १८, अलंकार महोदधि

४. संस्कृत आलोचना—आचार्य बलदेव उपाध्याय

५. नाट्यशास्त्र, ६ । ६३ पृ० ७५

६. काव्यानुशासन, २ । १३

७. स्म (स्मे) रन् दारापहाराद्यैर्नेत्ररागादिकारणम्। औग्र्यादिव्यभिचारी च क्रोधो रौद्र रसोभवेत्॥ ३ । १९, अलंकार महोदधि

८. नाट्यशास्त्र, ६ । ६६

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार नीति आदि विभाव, स्थिरता आदि अनुभाव और धृति आदि व्यभिचारीभावो से युक्त उत्साह नामक स्थायीभाव वाला वीर रस है। इसके धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर ये तीन भेद हैं।[१] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का वीर रस का विवेचन भी पूर्णतया हेमचन्द्र पर ही आधारित है।[२]

६. **भयानक रस**—भयंकर परिस्थिति ही भयानक रस की उत्पत्ति का कारण है। भयदायक पदार्थो के दर्शन, श्रवण अथवा प्रबल शत्रु के विरोध के कारण भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इसका स्थायी भाव भय है। आचार्य भरत ने विकृत ध्वनि, भयानक प्राणियो के दर्शन, सियार, उल्लू के द्वारा त्रास, उद्वेग शून्यगृह, अरण्य प्रवेश, मरण, स्वजनो के वध या बन्धन के देखने-सुनने या कथन करने आदि विभावो से उसकी उत्पत्ति मानी है।[३] भरत ने भयानक रस के भी तीन भेद किये हैं— १. व्याज-जन्य अर्थात् कृत्रिम, २. अपराधजन्य वित्रासितक अर्थात् खतरे की शका आदि से उत्पन्न (नाट्यशास्त्र ६, ८१) इस प्रसग मे किसी परवर्ती आचार्य ने भेद वृद्धि नहीं की।

हेमचन्द्र के अनुसार विकृत स्वर श्रवण आदि विभावो, कर कम्पन आदि अनुभावो और शका आदि व्यभिचारि व्यभिचारी भावो से युक्त भय नामक स्थायीभाव वाला रस भयानक रस है।[४] हेमचन्द्र का यह कथन आचार्य भरत से प्रभावित है; और आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन हेमचन्द्राचार्य से प्रभावित है।[५]

७. **वीभत्स रस**—घृणोत्पादक पदार्थो के देखने-सुनने से घृणा या जुगुप्सा के भाव की परिपुष्टि होने पर वीभत्स रस होता है। इसका स्थायीभाव जुगुप्सा है। आचार्य भरत ने अहृद्य और अप्रिय पदार्थों को देखने, अनिष्ट वस्तु के श्रवण दर्शन और परिकीर्तन आदि विभावो से इसकी उत्पत्ति मानी है।[६] हेमचन्द्राचार्य ने अप्रिय वस्तु के दर्शन आदि विभावों, अंग संकोचन आदि अनुभावों और अपस्मार आदि व्यभिचारी भावों से युक्त जुगुप्सा नामक स्थायीभाव को वीभत्स रस कहा है।[७] नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन हेमचन्द्र के ही अनुसार है।[८]

८. **अद्भुत रस**—दिव्यदर्शन, इद्रजाल या विस्मयजनक कर्म एवं पदार्थों के देखने से आश्चर्य का परिपोष हो, तो अद्भुत रस होता है। इसका स्थायीभाव आश्चर्य है। आचार्य भरत ने इसकी उत्पत्ति दिव्य वस्तुओं के दर्शन, इच्छित वस्तु की प्राप्ति उत्तमभवन या देवालय में आने, सभाभवन, विमान, माया तथा इन्द्रजाल के दर्शन

---

१. काव्यनुशासन, २। १४।
२. न्यायादि बोध्यः स्थैर्यादिहेतुर्धृत्याद्युपस्कृतः।
उत्साहोदान-युध-धर्मभेदो वीर रसः स्मृतः॥ ३, २०। अलंकार महोदधि।
३. नाट्यशास्त्र ६। ६८
४. काव्यानुशासन २। १५
५ कम्पादिकारणं, क्रूरस्वरश्रुत्याद्युदञ्चितम्।
भयं भवति शङ्कादिव्यभिचारि भयानकः॥ ३। २१ अलंकार महोदधि।
६. नाट्यशास्त्र, ६। ७२।
७. काव्यानुशासन, २। १५।
८. अरम्यालोकनाद्युत्था संकोचादिनिबन्धनम्।
वीभत्सः स्याज्जुगुप्साऽपस्मारादिव्यभिचारिणी। ३। २२, अलंकार महोदधि।

आदि विभावो से मानी है।[१] भरत के अनुसार अद्भुत रस दो प्रकार का होता है— १ दिव्य अर्थात् दैविक चमत्कार से उत्पन्न और २. आनन्दज अर्थात् मनोरथ की सिद्धि करने वाली अप्रत्याशित घटनाओ से उत्पन्न। (नाट्यशास्त्र ६, ८३)

हेमचन्द्र के अनुसार दिव्य दर्शन आदि विभावो नयन विस्तार आदि अनुभावो और हर्षादि व्यभिचारी भावो से युक्त विस्मय नामक स्थायी भाव वाला अद्भुत रस कहलाता है।[२]

नरेन्द्रप्रभसूरि का अद्भुत रस विवेचन भी हेमचन्द्राचार्य के समान है।[३]

९. शान्त रस—तत्वज्ञान एव वैराग्य से शांत रस उत्पन्न होता है। निर्वेद या शम इसके स्थायी भाव हैं। आचार्य भरत ने तो शान्त रस स्वीकार नही किया। तथापि विद्वानों ने यह सिद्ध करने का उत्कट प्रयास किया है कि भरत ने रस की सख्या नौ मानी है। पर कही स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। अत: यह निश्चित है कि भरत ने रस की संख्या आठ ही मानी है। आचार्य हेमचन्द्र ने वैराग्य आदि विभावो, यम आदि अनुभावों और धृति आदि व्यभिचारीभावों से युक्त शम नामक स्थायीभाव वाला शान्त रस कहा है।[४] नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन तो हेमचन्द्र आचार्य का अनुसरण ही है।[५]

रस भेद विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नरेन्द्रप्रभसूरि, आचार्य हेमचन्द्र से पूर्णतया प्रभावित है और आचार्य हेमचन्द्र का विवेचन भरतमुनि का अनुगमन करता है।

सम्पूर्ण रस विवेचन में अर्वाचीन और प्राचीन, सभी आचार्य, भरत मुनि के ही ऋणी हैं। सभी ने बहुमान्य परम्परा का निर्वाह किया है।

भाव—रस की उत्पत्ति भावों से होती है और भावो की परिपक्वावस्था का ही नाम रस है। आचार्य भरत ने भावित करने वाले को भाव कहा है।

मन मे उठने वाले विभिन्न विकारो को भाव कहते हैं। भरत मुनि ने भाव की परिभाषा करते हुये लिखा है कि जो वाणी, अंग और सत्त्व से युक्त काव्यार्थों का भावन कराते हैं, वे भाव कहलाते हैं।[६]

भाव दो प्रकार के होते हैं— एक वे जो देर तक टिकने की योग्यता रखते हैं वे 'स्थायी भाव' कहलाते हैं। दूसरे वे जो कई एक क्षणों तक ही टिकते हैं। इसी अस्थायिता के कारण वे 'संचारीभाव' कहलाते हैं। संचरणशील होने के कारण ही ये भाव 'संचारीभाव' कहलाते हैं। इस प्रकार भाव का प्रयोग सामान्यत: स्थायी

---

१. नाट्यशास्त्र, ६।७४

२. काव्यानुशासन, २। १६

३. दिव्यरूपावलोकादिस्मेरो हर्षाद्यलङ्कृतः।
दूरं नेत्रविकासादिकारणं विस्मयोऽद्भुतः। ३। २३ अलंकार महोदधि।

४. काव्यानुशासन, २। १७

५. वैराग्यादिविभावोत्थो यमप्रभृतिकार्यकृत्।
निर्वेदप्रमुखोर्जस्वी शमः शान्तत्वमश्नुते॥ ३। २४ अलंकार महोदधि।

६. नाट्यशास्त्र, पृष्ठ ७९

तथा सचारी के लिये ही होता रहा,[1] विविध रूप से (वि) स्थायी के अनुकूल (अभि) संचरण करने के कारण इनकी दूसरी संज्ञा है व्यभिचारी भाव। इन दोनो की सख्या नियत सी ही है। सचारी भाव सख्या मे तैतीस ही माने जाते है। अभिनवगुप्त के मतानुसार स्थायिनो की सख्या ९ है और यह पहले ही विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जा चुका है कि रसो की सख्या भी ९ ही मानी है।

स्थायी भावो की संख्या के विषय मे विद्वानो मे मत वैभिन्न्य तो रहा है, पर अन्ततः उनकी संख्या बहुमत के आधार पर ९ ही मानी गयी।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा अभिव्यजित होने पर स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है और अलौकिक आनन्द का कारण बनता है। अन्य भावों से स्थायी भावों की ही यह विशिष्टता है कि अन्य सभी भाव उदित होते हैं और निश्चित समय तक उपस्थित रहकर पुनः विलीन हो जाते हैं, किन्तु स्थायीभाव सदैव सहृदय के हृदय मे विद्यमान रहते हैं। उनका यह स्थायित्व ही उन्हे स्थायीभाव की संज्ञा प्रदान करता है। आचार्य भरत के अनुसार मनुष्यों मे राजा और शिष्यों में गुरु श्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार समस्त भावों में स्थायीभाव महान् होता है।[2] उनके अनुसार स्थायीभावो की संख्या आठ है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय।[3]

आचार्य हेमचन्द्र[4] और नरेन्द्रप्रभसूरि[5] ने अभिनवगुप्त का अनुकरण करते हुये स्थायीभावों की संख्या ९ ही मानी है, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने रति के नैसर्गिकी-सांसर्गिकी, औपमानिकी, आध्यात्मिकी, आभियोगिकी, साम्प्रयोगिकी, अभिमानिकी तथा शब्द स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पाँच भेदों वाली वैषयिकी रति का सोदाहरण उल्लेख किया है।[6] रति का इस प्रकार का सभेद विवेचन अन्यत्र दृष्टिगोचर नही होता है। इसी प्रकार उन्होंने हास आदि स्थायीभावों के स्मित, विहसित, अपहसित आदि भेदों की संभावना अभिव्यक्त की है।[7]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्थायीभाव और व्यभिचारीभाव के अन्तर को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'अपने-अपने रस से अन्यत्र (दूसरे रस में) न जाने से तथा प्रत्येक समय अपने में रहने से और अव्यभिचारी होने से रत्यादि भाव स्थायित्व की संज्ञा को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थायीभाव कहलाते हैं तथा हर्षादि भाव इस विपरीत स्वभाव वाले होने से व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।[8]

---

१. ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः (दशरूपकावलोक, धनिक पृ० १२४)
२. नाट्यशास्त्र—७/८
३. वही—६/१७
४. काव्यानुशासन—२। १८
५. अलंकार महोदधि—३। २५—रतिर्हासश्चशोकश्च क्रोधोत्साह भयानि च,
   जुगुप्सा-विस्मय शमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।
६. वही—३। २५ वृत्ति
७. एवं हासादीनामपि स्मित-विहसितापहसितादयः कतिचिद् भेदाः सम्भवन्ति। अलंकार महोदधि ३। २५, वृत्ति
८. वही—३। २५, वृत्ति।

'नरेम्द्रप्रभसूरि ने रति के जिन नैसर्गिक आदि बारह भेदो को स्वीकार किया है, वे अन्यत्र अनुपलब्ध हैं, अत· उनका विशेष महत्त्व बढ़ जाता है। नरेन्द्रप्रभसूरि के स्थायी भाव का स्वरूप धनजय के सदृश है।[१]

जैनाचार्यो द्वारा किया गया स्थायीभाव का प्रस्तुत विवेचन महत्वपूर्ण है, क्योकि उन्होने शान्तरस, का स्थायीभाव निर्वेद को स्वीकार न कर शम को माना है जो यथार्थता के सन्निकट है।[२]

आचार्य मम्मट ने शान्त का स्थायीभाव निर्वेद ही माना है।[३]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस भाव को विरोधी भाव न तो अपने में मिला सके और न अविरोधी भाव दबा सकें जो रस में प्रारम्भ से अंत तक विद्यमान रहें उसे स्थायी भाव कहते हैं।[४]

विभाव को रस का कारण कहा गया है। इनके द्वारा रति आदि स्थायीभावो की उत्पत्ति होती है या ये उनके उद्बोधक होते हैं।[५] कायिक, वाचिक एवं सात्त्विक अभिनयों का विन्भावन या विशेष ज्ञान कराने के कारण ही इन्हें विभाव कहा जाता है।[६] विभाव वासनारूप में अतिसूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायी भावों को आस्वादनीय बनाते हैं।

विभाव दो प्रकार का होता है—आलम्बन और उद्दीपन। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य या नाट्य में वर्णित नायकादि को आलम्बन कहा है।[७] आलम्बन के सहारे ही सहृदयों के हृदय में रस का संचार होता है, रस को उद्दीप्त करने वाली सामग्री को उद्दीपन कहा जाता है।[८]

जैनाचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वाचिक, कायिक और सात्त्विक अभिनय के द्वारा जो स्थायी और व्यभिचारी चित्तवृत्तियों को विशेष रूप से ज्ञापित करते हैं वे विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। ललना आदि आलम्बन विभाव हैं और उद्यान आदि उद्दीपन विभाव हैं।[९]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने पृथक् रूप से विभाव की कोई परिभाषा न देकर आलम्बन और उद्दीपन; दो भेद कर दोनों का लक्षण किया है। उनके अनुसार युवक और युवती के सामने उपस्थित होने पर जिसको आलम्बन करके स्थायी और व्यभिचारी रूप भावों को जो क्षणभर में अनुभव कराते हैं वे आलम्बन विभाव कहलाते हैं।[१०] इसी प्रकार ज्योत्सना उद्यान आदि समृद्धि को आश्रय करते हुये स्थायी और व्यभिचारी रूप भावों को जो अत्यधिक

---

१. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान, पृष्ठ १३९
२. वही—डॉ० कमलेश कुमार जैन, पृष्ठ १३८
३. निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमोरसः—काव्यप्रकाश
४. साहित्य दर्पण, ३/१७४
५. वही, ३/२९
६. नाट्यशास्त्र, ७/४
७. साहित्य दर्पण, ३/२९
८. वही, ३/१३१
९. काव्यानुशासन, २/१, वृत्ति।
१०. आलम्बन विभावाः स्युः पुंस्युरन्धिपुरः सराः।
यानालम्ब्य क्षणाद् बद्धस्फातिर्भावो विभाव्यते॥ ३/२६ अलंकार महोदधि

उद्दीप्त करते है वे उद्दीपन विभाव कहलाते है।[1]

भाव के सूचक या बोधक विकार को अनुभाव कहते है। विभाव के पीछे होने के कारण ये अनुभाव कहे जाते है। विभाव के द्वारा उद्बुद्ध स्थायीभाव को अनुभव का विषय बनाना ही अनुभाव का कार्य है। इन्हे रस का कार्य कहा जाता है।

आचार्य भरत ने लिखा है 'ये अभिनय को वाणी, अग और सात्त्विक भावो के द्वारा अनुभूति योग्य बनाते है, अतः अनुभाव कहलाते हैं।[2]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि स्थायीभाव और व्यभिचारीभावरूप सामाजिक सहृदय की चित्तवृत्ति-विशेष का अनुभव करते हुये, जिनके द्वारा साक्षात्कार किया जाता है, वे कटाक्षपात और भुजाक्षेपादि अनुभाव कहलाते हैं।[3]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनुभावो की गणना करते हुये कहा है—जो कटाक्षपात, भुजाक्षेप, भ्रूभ्रमण, मुखभ्रमण आदि घोर भावलीला आदि रूप जो स्तम्भादि सात्त्विक भाव है तथा जिनके द्वारा सामाजिक स्थायीभाव और संचारी भावो का अनुभव करते हैं, वे सभी अनुभाव हैं।[4]

इस प्रसग में नरेन्द्रप्रभसूरि ने आठ सात्त्विक भावों को गिनाया है।[5]

संचारी भाव मन की अस्थिर चित्तवृत्तियों को कहते हैं। इसका दूसरा नाम व्यभिचारी भी है। विविध रूपो मे रसो के अनुकूल होकर संचरण करने के कारण इन्हें संचारी कहा जाता है। स्थायी भाव के सहायक के रूप में ही इनकी गणना होती है। विशेष उत्कटता एवं अनुकूलता से ये स्थायी भावो को रसास्वादन में परिणत करते हैं। स्थायी भाव का उपकार पोषण करना ही संचारियों का उद्देश्य है।

आचार्य भरत ने व्यभिचारी भाव की व्याख्या करते हुये लिखा है कि जो विशेष रूप से रसों के चारों ओर उन्मुख होकर गतिशील होते हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।[6] इनका संचरण वाणी, अंग और सत्त्वादि के द्वारा होता है। उनके अनुसार व्यभिचारियों की संख्या ३३ है। निर्वेद ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निन्द्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[7]

---

१. उद्दीपन विभावस्तु कौमुदी काननादयः॥
   समृद्धिं संश्रयन् भावः काममुद्दीप्यते हि तैः॥ ३/२७ अलंकार महोदधि
२. अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्ग सत्त्वकृतोऽभिनय इति। नाट्यशास्त्र पृ० ३७४
३. काव्यानुशासन—२/१ वृत्ति।
४. अलंकार महोदधि।—३/२८-२९
५. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपुथः।
   वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥ ३/३० अलंकार महोदधि।
६. नाट्यशास्त्र—२/२६/
७. वही—६/१८-२१

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार विविध धर्मों की ओर उन्मुख होकर सचरणशील होने के कारण तथा अपने धर्म का अर्पण करके स्थायी भावों का उपकार करने वाले व्यभिचारी भाव कहलाते है।[१] हेमचन्द्राचार्य ने मूल मे तैंतीस व्यभिचारीभावो का उल्लेख किया है, किन्तु उन्हें व्यभिचारीभावो की संख्या ३३ से ज्यादा अभीष्ट है। उन्होने मुनिवचनो को प्रमाण मानकर अन्य व्यभिचारीभावो का अन्तर्भाव भरतमुनि सम्मत उक्त तैंतीस व्यभिचारीभावो में ही कर दिया है।[२] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी ३३ व्यभिचारीभाव ही माने हैं। उन्होंने तैतीस व्यभिचारी भावो को नामोल्लेख करते हुये प्रत्येक का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है।[३]

रसाभास—भावभास रत्यादि स्थायीभावों की अनौचित्येन प्रवृत्ति होने पर रसाभास होता है। मम्मट के अनुसार 'तदाभासा अनौचित्य प्रवर्तिताः। वहाँ वास्तविक रस का अभाव होता है। इसी प्रकार जहाँ भाव का आभास मात्र हो वहाँ भावाभास होता है। आचार्य मम्मट ने देवादि विषयक रति को भाव कहा है[४] तथा कान्ता विषयक रति की अभिव्यक्ति को शृंगार कहा है।[५] पुनः उन रस तथा भावों का अनुचित रूप से वर्णन रसाभास तथा भावाभास है।[६] जैनाचार्य हेमचन्द्र ने इन्द्रिय रहित तथा तिर्यक् आदि में क्रमशः संभोगादि रस तथा भाव का आरोप करना रसाभास तथा भावाभास कहा है।[७] इसी प्रकार अनौचित्य वर्णन से भी रसाभास और भावाभास स्वीकार किया है।[८] नरेन्द्रप्रभसूरि का रसाभास-भावाभास विवेचन हेमचन्द्र के ही समान है।[९]

भरत ने रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नही किया है, किन्तु प्रत्येक रस के विभावादि के विस्तृत व्यंजन से यह अवश्य व्यंजित हो जाता है कि उनमे व्यतिक्रम के लिये अवकाश नही है : आलम्बन आदि के विषय में दोष आ जाने से रस के बाधित होने की आशंका रहती है भरत के परवर्ती आलंकारिकों ने रस को अत्यन्त गौण स्थान दिया था, अतः रसाभास का प्रश्न ही उनके सामने न था, केवल उद्‌भट के उर्जस्वि अलंकार में रसाभास का थोड़ा-सा संकेतमात्र मिलता है। उद्‌भट के पश्चात् ध्वनिप्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने कदाचित् सर्वप्रथम रसाभास के विषय में प्रामाणिक संकेत दिया। उन्होंने अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र कारण माना।[१०]

अभिनवगुप्त के अनुसार औचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायीभाव का आस्वाद 'रस' है और व्यभिचारी भाव का आस्वाद 'भाव' कहलाता है, अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी का आस्वाद 'रसाभास' और व्यभिचारी का

---

१. काव्यानुशासन —२/१९
२. वही—२/१९
३. अलंकार महोदधि, ३/३१-५०
४. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारि तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः। काव्य प्रकाश , ४/३५
५. कान्तादिविषया तु व्यक्ता शृंगारः। काव्य प्रकाश, ४/३५ वृत्ति
६. तदाभासा अनौचित्य प्रवर्तिताः। काव्य प्रकाश ४ /३६
७. निरिन्द्रयेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रस भावाभासो—काव्यानुशासन २/५५
८. काव्यानुशासन—२/५५
९. आभासा रस भावानामनौचित्यप्रवर्त्तनात्।
आरोपात् तिर्यगाद्येषु वर्जितेष्विन्द्रियैरपि॥ अलंकार महोदधि, ३/५३
१०. रसाभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ ध्वन्यालोक २/३

'भावाभास' कहलाता है।[1]

इस प्रकार अनौचित्य के अतिरिक्त रसभग का और कोई कारण नही और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है। रस की अनुचित प्रवृत्ति का नाम ही रसाभास है।

प्रत्येक रस का आभास हो सकता है, अत रसभेदो के अनुसार ही रसाभास के भी भेद आचार्यों ने किये है। ·

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का रस सम्बन्धी विचार-विमर्श पूर्णतया आचार्य मम्मट से अनुप्राणित है। पर आचार्य सूरि रसवदादि अलकारो को सिद्धान्त रूप मे स्वीकार नही करते हैं, कुछ लोगो ने प्रतिपादन किया है अत: उन्होने भी रसवदादि का उल्लेख कर दिया है।

आचार्य मम्मट ने रसवदादि अलंकारो का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट ने रसवद् अलंकारो का विवेचन गुणीभूतव्यग्य पर विचार विमर्श के मध्य किया है। आचार्य मम्मट कहते हैं कि जहॉ रसादिक प्रधानतया स्थित हैं, वहॉ अलकार्य है और अन्यर्थ जहॉ वाक्यार्थ प्रधान है और रसादि उसके अङ्गीभूत है उस गुणीभूतव्यंग्य काव्य मे रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित आदि अलंकार होते है।[2] परन्तु अलंकार प्रकरण मे इनकी पृथक् गणना नही की है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है अत: वह अलकार्य होने के कारण स्वयं ही अलकार नही बन सकती जैसा कि कुछ अलंकार शास्त्रज्ञ कहते है।[3] यहॉ पद आचार्य का कुछ अलकार शास्त्रज्ञ से अभिप्राय प्राचीन आलकारिको भामह दण्डी आदि से है, जिन्होंने अलंकारो मे ही रसों का समावेश किया। प्राचीन आचार्यों ने रस को अलंकार्य न मान कर अलंकार स्वीकार किया अर्थात् उनके अनुसार रस रसवत् अलकार ही है। भामह ने विभाव को ही रस मान कर भरत विरोधी विचार अभिव्यक्त किये।[4] इतना अवश्य है कि महाकाव्य के विवेचन मे उन्होने रस का महत्त्व स्वीकार कर उसमे समस्त रसों के विधान की अनिवार्यता सिद्ध की, फिर भी उनका दृष्टिकोण रस के प्रति अनुकूल नही माना जा सकता।

आचार्य दण्डी भी रस को स्वतंत्रकाव्य तत्त्व स्वीकार न कर उसे रसवत् अलंकार मानते हैं अर्थात् उनके अनुसार रस अलंकार्य न होकर अलकार है।[5] उन्होंने रस विवेचन स्वतंत्र रूप से न करके अलंकार प्रकरण में

---

१. औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो,
व्यभिचारिण्याभावः, अनौचित्येन तदाभास। ध्वन्यालोक प्रथम उ० पृ० १४५

२. प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालंकार्य.। अन्यत्र
तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यंग्ये
रसवत्प्रेय उर्जस्विसमाहितादयोऽलङ्काराः। (का० प्र० ४/२६) की कृति

३. शब्दार्थ सौन्दर्यतनोः काव्यस्यात्मा ध्वनिर्मतः। अलंकार महोदधि
तेनालङ्कार्य एवायं नालङ्कारत्वमर्हति॥ ३/६४।

४. रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादिरसं तथा—३/६/ काव्यालंकार
युक्तंलोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। वही १/१२१
प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्। काव्यालंकार ।३।

५. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
उर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम्। २/२७५ काव्यादर्श

उल्लेख किया है।

अलकारवादी आचार्यो का दृष्टिकोण रसध्वनिवादी आचार्यो के दृष्टिकोण से नितान्त भिन्न है।

रसवद् अलकार का सही स्वरूप तब सामने आया जब ध्वनि और रस का युक्तियुक्त विवेचन प्रस्तुत किया जाने लगा ; आचार्य आनन्दवर्धन कहते है कि यद्यपि दूसरे लोगो ने रसवद् अलंकार के विषय का निदर्शन किया है तथापि जिस काव्य मे अन्य अर्थ प्रधान होकर वाक्यार्थीभूत होता है और रस आदि उस अर्थ के अङ्गभूत होते है, वे काव्य ही रसादि की अलकारता (रसवद्) के विषय है—यह मेरा पक्ष है।[१] यही कारण है कि प्रायः सभी रसवादी आचार्य इन्हे गुणीभूतव्यग्य काव्य के 'अपरस्याग' नाम के भेद के अन्तर्गत निरूपित करते हैं। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी रस की प्रधानता होने पर रस ही मानते है जहॉ पर वे गुणीभूत, हो जाते हैं वहॉ रस रसवद् होते है।[२] ऐसा स्पष्ट करते है। यद्यपि आचार्य सूरि ने रसवद् आदि अलकारो का वर्णन अर्थालकारो के प्रसग मे किया है। ध्वनि के प्रसग मे अलंकारवादी आचार्यों के मत का निराकरण करते हुये उल्लेख मात्र किया है।

इस प्रकार रसवादी आचार्य अलकारवादियो की इस धारणा से किसी भी स्थिति मे सहमत नही हैं कि अगीभूत रसादि को अलकारों के अन्तर्गत माना जाये। इनके मत मे रसादि अलकार्य है न कि अलंकार। अलंकार का कार्य है अलकार्य का चमत्कारोत्पादन। यदि रसादि को ही अलकार मान लिया जाये तो फिर वह किसके चारुत्व को बढ़ाते हैं। भला कोई स्वयं अपना भी चारुत्व हेतु हो सकता है।[३] अतः अलकार तो अलकार्य से सदा भिन्न ही रहेगा।[४]

इस प्रकार जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने रस के प्रत्येक अंग पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। यद्यपि आचार्य पूर्णतया आचार्य मम्मट से प्रभावित है फिर भी उनका वर्णन अपने आप में परिपूर्ण है।

गुणीभूतव्यंग्यार्थ वैचित्र्य

वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ के गौण या अप्रधान होने पर गुणीभूत व्यग्य होता है।[५]

ध्वनि की स्थापना के पश्चात् ध्वनि को आधार मानकर आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेद किये—ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य और चित्रकाव्य। इनमें से जहॉ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी

---

१. यद्यपि रसवदलंकारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापियस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चांगभूता ये रसादयस्ते रसादेरलंकारस्य विषया इति मामकीन पक्षः। ध्वन्यालोक २।५ की वृत्ति

२. स्वस्याङ्गित्वे रसाद्याः स्युर्न तद् रसवदादयः।
यत्रैते तु गुणीभूतास्तत्र तानपि मन्महे। ३/६५ अलंकार महोदधि

३. यत्र च रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलकारत्वम्।
अलकारो हि चारुत्वहेतु प्रसिद्धिः।
न त्वसावात्मैवाऽऽत्मनश्चारुत्वहेतुः (ध्वन्यालोक २/५ वृत्ति)

४. भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्य तथा स्थितः॥ काव्य प्रकाश ४/२६

५. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्य चारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥३। ३५ ध्वन्यालोक

होता है, उसको ध्वनि काव्य कहा जाता है।[1]

आचार्य मम्मट ने भी उपरोक्त काव्य भेदो को स्वीकार करते हुये क्रमश उत्तम, मध्यम और अधम काव्य इन नामो मे अभिहित किया।[2] वाच्य की अपेक्षा व्यग्यार्थ जहाँ अधिक चमत्कारजनक हो वह उत्तम काव्य है वैसा चमत्कारजनक न होने पर गुणीभूतव्यग्य नामक मध्यम काव्य और व्यंग्यार्थ रहित शब्दचित्र और अर्थचित्र इन दो भेदो वाला अधम काव्य है। आचार्य मम्मट ने मध्यम काव्य के आठ भेद किये।[3]

गुणीभूत काव्य में व्यंग्य का अप्रधान्य होने पर इसका महत्त्व है, इसमे व्यंग्य या तो वाच्यार्थ के समान चमत्कारक होता है या उसकी अपेक्षा कम वह व्यंग्यार्थ से अधिक चारुताप्रकर्ष नही होता है। काव्य में चमत्कार को ही महत्ता प्राप्त होती है। यदि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अल्प चमत्कारक हुआ तो उसका प्राधान्य नष्ट हो जाता है।

जैन आचार्य हेमचन्द्र[4] और नरेन्द्रप्रभसूरि[5] भी मम्मट की ही भाँति काव्य के तीन भेद उत्तम, मध्यम और अधम स्वीकार करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र मध्यम काव्य के तीन प्रकार मानते हैं तथा मम्मट द्वारा मान्य आठ भेदों को अस्वीकार करते हैं। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट द्वारा मान्य आठ भेदों को ही मानते हैं।[6]

(१) **अगूढ़ व्यंग्य**—जब व्यग्यार्थ वाच्यार्थ की भाँति ही स्पष्टतः प्रतीत हो तो अगूढ़ व्यंग्य होता है। अगूढ़ अर्थात् जो गूढ़ न हो, स्पष्ट हो। जब व्यग्य असहृदय व्यक्तियों को भी सहजता से समझ में आ जाये तब तो अगूढ़ व्यंग्य होगा।

श्री परिचयाज्जडा अपि ———— ।

यह अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है यहाँ 'उपदिशति' यह पद अगूढ़ व्यंग्य है। यहाँ व्यंग्य इतना स्पष्ट है कि यह सर्वजनसंवेद्य है। अतः यह अगूढ़व्यंग्य का उदाहरण है।

(२) **अस्फुट व्यंग्य**—जब व्यंयार्थ अच्छी तरह से सहृदयों को भी समझ में न आये तो अस्फुट व्यंग्य होगा।

अह्यं उज्जुरूआ ———— ।[7]

---

१. यत्रार्थः शब्दो व तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो
   व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ध्वन्यालोक १/१३
२. काव्य प्रकाश— १-४-५
३. अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्
   संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्। ५-४५ काव्य प्रकाश
४. काव्यानुशासन— ३/५६-५८
५. अलंकार महोदधि— १/१५/१७
६. अगूढत्वास्फुटत्वाभ्यामसुन्दरतया तथा।
   सिद्ध्यङ्गत्वेन वाच्यस्य काक्वाक्षिप्ततयाऽपि च॥
   संदिग्धतुल्य प्राधान्यतयाऽन्याङ्ग तयाऽपि च।
   गुणीभूतमपि व्यंग्यं यत् किञ्चिच्चारिमास्पदम्॥ अलंकार महोदधि ४-१-२
७. अहं ऋजुकरूपा तस्यापि उन्मन्थराणि प्रेमाणिः।
   सखिकाजनश्च निपुणोऽलं किं पादरागेण॥

मेरा स्वभाव सरल है और मेरा प्रेम भी उत्कट है सखियाँ भी निपुण है फिर पादराग से क्या लाभ। अर्थात् यदि मै पैरो मे महावर लगाती हूँ तो प्रात सखीजन यह सोचकर उपहास करेगी कि यह पुरुष को रिझाने मे असमर्थ है यहाँ व्यग्यार्थ कठिनता के साथ प्रकट होता है।

(३) **असुन्दर व्यंग्य**—जब वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ कम चमत्कारक हो तो असुन्दर व्यग्य होता है।

"ग्राम तरुणं ———— ।"

इस श्लोक मे "वञ्जुल लतागृह मे (मिलन का) जिसने सकेत दिया था वह तुम नही आयी" यह व्यंग्यार्थ गौण हो गया पर इसकी अपेक्षा वाच्यार्थ 'मुख की कान्ति का मलिन हो जाना' ही अधिक चमत्कारक है।

(४) **वाच्यसिद्धय व्यंग्य**—जब व्यग्य के द्वारा वाच्यार्थ की सिद्धि हो तो वाच्यसिद्धय व्यंग्य होता है !

"भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छा तमः शरीसादम्
मरणं च जलदभुजगंज प्रसह्य कुरुते विषं —वियोगिनीनाम् ॥

यहाँ पर (विष शब्द का) व्यग्यार्थ गरल भुजनरूप वाच्यार्थ की सिद्धि करता है।

(५) **काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य**—जब काकु के द्वारा व्यंग्य आक्षिप्त हो तो काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है। इसमे कंठ के ध्वनि विकार से वाच्यार्थ से विपरीत व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ॥
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

यहाँ पर 'अवश्य ही मारूँगा' ये व्यंग्यार्थ वाच्यभूत निषेध (न मथ्नामि) के साथ ही विद्यमान है।

(६) **संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य**—जहाँ इस बात का संदेह बना रहे कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में किसका प्राधान्य है तो संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य होता है।

'महिलासहस्स भरिये तुह हियए सुहय। सा अमायंती।
अणुदिणमणन्नकम्मा अंगं तुणुअं पि तणुएइ ॥
('महिला सहस्रभृते तव हृदये सुभग। सा अमान्ती।
अनुदिनमन्य कर्माऽङ्गं तनुकमपि तनयति ॥)

हे सुभग अगणित महिलाओं से भरे हुये तुम्हारे हृदय में न समा सकने के कारण वह तन्वी प्रतिदिन सभी कामो को छोड़कर अपनी कृश काया को और ज्यादा कृश कर रही है यहाँ ये वाच्यार्थ प्राधान्य है अथवा शरीर को कृश करने पर भी तुम्हारे हृदय में नही रह पाती इस व्यंग्यार्थ का प्राधान्य है ये, संदिग्ध होने से संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य का उदाहरण हुआ।

(७) **तुल्य प्राधान्य व्यंग्य**—जब व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों समानरूप हों तो तुल्य प्राधान्य व्यंग्य होता है।

'पङ्क्तौ विशन्तु गणिताः प्रतिलोमवृत्या पूर्वे भवेयुरियताऽप्यथवा त्रपरेन्।
सन्तोऽप्यसन्त इव चेत् प्रतिभान्ति भानोर्भासावृते नभांसि शीतमयूखमुख्याः ॥'

पञ्चम अध्याय

दोष-विवेचन

किसी भी वस्तु का सर्वथा दोषरहित होना असम्भव है यह जीवन का अनुभूतिपरक सत्य है। दोष काव्य-चारुता के अपकर्षक तत्त्व होते है। दोष होने पर काव्य का सौन्दर्य कलुषित हो जाता है।

काव्य में सम्प्रेषणीयता, सहृदयसंवेद्यता तथा प्रभावोत्पादकता के लिये उसे दोष रहित होना आवश्यक है। इसी कारण निर्दोषिता को प्राचीनकाल से ही संस्कृत आचार्यों ने काव्य का महान् गुण माना है। यही नही, प्राय: आचार्यों ने दोषो का वर्णन पहले किया है गुणों का बाद मे, क्योकि छिद्रान्वेषण करना मानव का सहज स्वभाव है।

काव्य सौन्दर्य का विघातक तत्त्व होने के कारण आचार्यों ने निर्दोष काव्य रचना को महत्त्व दिया है। काव्य के स्वरूप निर्धारण मे भी दोषाभाव को स्वीकार किया गया है। अत: काव्य का जितना गुणो से युक्त होना आवश्यक है; उससे अधिक कही निर्दोष होना भी आवश्यक है।

प्राचीन आचार्यों ने निर्दोष काव्य को उत्कृष्ट तो कहा है, पर दोषों की स्पष्ट परिभाषा नही दी।

आचार्य भरत के अनुसार 'काव्य में गुणों के विपरीत जो कुछ भी है, उसे दोष कहा जायेगा।[१]

आचार्य भामह ने सदोष काव्य को कुपुत्र की तरह निन्दनीय कहा है।[२]

काव्यादर्श के रचयिता आचार्य दण्डी ने काव्यों की निर्दोषता को स्वीकार करते हुये गुणों के वर्णन में ही दोषों की चर्चा करते हुये केवल इतना कहा है कि निर्दोष होना काव्य का एक महान् गुण है।[३] दण्डी ने काव्य में अल्पदोष को भी मानव शरीर में कुष्ठदाग के समान बताया है।[४]

सर्वप्रथम दोष को परिभाषित करने का प्रयास 'काव्यालकार सूत्र' के प्रणेता आचार्य वामन ने ही किया। उनके अनुसार गुण के विपर्यय को दोष कहते हैं।[५] यहाँ उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के विघातक तत्त्वों को दोष माना

---

१. "विपर्यस्तो गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।" काव्यशास्त्र, १७/९५।

२. काव्यालंकार, १/११।

३. महान् निर्दोषता गुणाः—काव्यादर्श

४. काव्यादर्श १/६

५. गुणविपर्ययात्मनो दोषाः। काव्यालंकारसूत्र वृत्ति, २/१/१

है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को ही काव्य मे दोष स्वीकार किया है।[१]

आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ के अपकर्ष को दोष माना है।[२] उनके अनुसार मुख्यार्थ रस होता है, किन्तु यदाकदा उसका आश्रित वाच्य अर्थ भी मुख्यार्थ होता है। अत. रस के घातक तत्त्वो को दोष कहते है। यदि नीरस काव्य मे मुख्य अर्थ की प्रतीति मे व्यवधान हो जाये या उसकी हानि हो तो वहाँ भी दोष होगा।

रस को काव्यात्मभूत तत्त्व के रूप में स्थापित करने वाले आचार्य विश्वनाथ ने भी रस के अपकर्षक तत्त्व को दोष कहा है। मूलरूप मे रस और गौण रूप में शब्द और अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य का अपकार करने वाले तत्त्व दोष कहलाते हैं।[३]

आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ दोष-निरूपण के विषय में आचार्य आनन्दवर्धन के ही अनुगामी हैं। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुये आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी काव्यदोषों का विवेचन करते हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि वैचित्र्य के लोप को दोष मानते हैं, यह विशेष रूप से रस की क्षति होने पर होता है और गौण रूप से शब्द और अर्थ की क्षति होने पर।[४] आचार्य हेमचन्द्र ने भी रस के अपकर्षक हेतुओं को दोष कहा है। ये दोष रस के ही आश्रित होते हैं, किन्तु गौण-रूप से वे शब्द और अर्थ के भी अपकर्षक होते हैं।[५] इस प्रकार यह परिलक्षित होता है कि क़ाव्य में रस दोष ही मुख्य दोष है। पर अर्थ के द्वारा रस की प्रतीति होने के कारण एवं अर्थज्ञान शब्दाश्रित होने से शब्द एवं अर्थ-विषयक दोष भी काव्य दोषों मे परिगणित होते हैं। शब्द, पद एवं वाक्य के रूप में प्रस्तुत होकर अर्थ का उपस्कार करता है। पद के किसी अंश अर्थात् विभक्ति मे भी दोष संभव है, जिसे पदांश दोष कहते हैं। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि की दोष संबंधी मान्यता आचार्य हेमचन्द्र और मम्मटाचार्य से काफी साम्य रखती है। आचार्य सूरि का दोष लक्षण अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का ही रूपान्तर है।

पद दोष

आचार्य सूरि सर्वप्रथम मम्मटाचार्य की भाँति पददोषों का ही वर्णन करते हैं।

सुप् अथवा तिङ् प्रत्यय से युक्त शब्द पद कहलाता है।[६] और उसमें रहने वाला दोष पददोष है।

आचार्य सूरि ने मम्मटाचार्य द्वारा मान्य '१६ पद दोषों में ३ पददोषों को ही स्वीकार किया है।[७] आचार्य हेमचन्द्र ने कुल दस पददोष माने हैं, जिनमें आठ दोष ऐसे हैं, जो पद और वाक्य दोनों में रहते हैं तथा दो दोष केवल पद में ही मिलते हैं, वाक्य में नहीं।[८]

नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा मान्य तीनों पददोषों का लक्षण नाम से ही स्पष्ट है; असंस्कार अर्थात् व्याकरण संस्कार-

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्। ध्वन्यालोक
२. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः। उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥—काव्यप्रकाश
३. रसापर्षका दोषास्ते पुनः पञ्चधा मताः। पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत्॥—साहित्यदर्पण
४. वैचित्र्यव्याहतिर्दोषः सा च भूम्ना रसक्षतेः। तद् ध्रुवं रस एवैष भक्त्या शब्दार्थयोः पुनः॥—अलंकारमहोदधि
५. रसस्योत्कर्षापकर्षकहेतु गुणदोषो, भक्त्याशब्दार्थयोः।—काव्यानुशासन
६. सुप्तिङन्तं पदम्
७. दुष्टं पदमसंस्कारम समर्थमनर्थकम्।—अलंकार महोदधि
८. निरर्थकासाधुत्वे पदस्य। दोष इति वर्तते।

रहित पद दोष युक्त कहलाता है। उदाहरणार्थ—

भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एष ते।
तथा न बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधतो॥

यहाँ पर बाधति पद व्याकरण विरुद्ध है, वस्तुतः यहाँ बाधते का प्रयोग होना चाहिये। यही रूप व्याकरणसम्मत है क्योंकि "बाध लोडने" भ्वादिगणीय धातु का प्रयोग आत्मनेपद मे होता है। अतः यहाँ असंस्कार दोष है। जो पद अंगीकृत अर्थ को कहने में समर्थ न हो यथा—'हन्' धातु का गमन अर्थ मे प्रयोग।

पादपूर्ति हेतु 'च', 'वै', 'खलु', 'त', 'हि' आदि निरर्थक पदो का प्रयोग। इस प्रकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि को असंस्कार, असमर्थ और अनर्थक तीन ही पददोष अभिप्रेत हैं। पददोषों के विवेचन के पश्चात् आचार्य सूरि वाक्यदोषों का वर्णन करते हैं।

वाक्य दोष

नरेन्द्रप्रभसूरि ने २३ वाक्यदोषो का उल्लेख किया है (१) जबकि आचार्य हेमचन्द्र को १३ वाक्य दोष अभिप्रेत हैं और मम्मटाचार्य २१ वाक्यदोष स्वीकार करते हैं। आचार्य मम्मट ने जिन २१ वाक्य दोषों को स्वीकार किया है वे इस प्रकार हैं—(१) प्रतिकूलवर्णना, (२) उपहतविसर्गता, (३) लुप्त विसर्गता, (४) विसन्धि, (५) हतवृत्तता, (६) न्यूनपदता, (७) अधिकपदता, (८) कथितपदता, (९) पतत्प्रकर्ष, (१०) समाप्तपुनरात्तता, (११) अर्द्धान्तरैकवाचकता, (१२) अभवनमतसम्बन्ध, (१३) अनभिहितवाच्या, (१४) अस्थानपदता, (१५) अस्थानसमासता, (१६) संकीर्णता, (१७) गर्भितत्ता, (१८) प्रसिद्धिविरोध, (१९) भग्नप्रक्रमता, (२०) अक्रमता, (२१) अमतपरार्थता[१]। आचार्य हेमचन्द्र ने १३ वाक्य दोष माने हैं वे इस प्रकार हैं—(१) विसन्धि, (२) न्यूनपदता, (३) अधिकपदता, (४) उक्तपदता, (५) अस्थानस्थपदता, (६) पतत्-प्रकर्षता, (७) समाप्तपुनरात्तता, (८) अविसर्गता, (९) हतवृत्तता, (१०) संकीर्णता, (११) गर्भितता, (१२) भग्नप्रक्रमता, (१३) अनन्वितता। आचार्य सूरि ने जिन २३ वाक्यदोषों का वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं—(१) रसाधनुचिताक्षर, (२) लुप्तविसर्गान्त, (३) ध्वस्तविसर्गान्त, (४) इष्टसम्बन्धवंचित (अनन्वित या अभवन्मतसबंध), (५) समाप्तपुनरारब्धता, (६) भग्नप्रक्रमता, (७) अक्रमता, (८) न्यूनपदता, (९) अर्द्धान्तरस्थैकपदता, (१०) संकीर्णता, (११) गर्भित्ता, (१२) दुर्वृत्तता, (१३) संधिविश्लेषता, (१४) संधिकष्टता, (१५) सन्धिअश्लीलता, (१६) अनिष्टान्यार्थ (अमत पदार्थ), (१७) अस्थान समास दुःस्थित (अस्थानस्थ समास), (१८) अस्थान पददुःस्थित (अस्थानस्थ पद), (१९) पतत्प्रकर्ष, (२०) अप्रोक्तवाच्य (वाच्यस्थानभिधान), (२१) व्यक्त प्रसिद्धि (प्रसिद्धि विरुद्ध), (२२) पुनरुक्तपदन्यास (कथितपदता) और (२३) अतिरिक्तपदता (अधिक पदता)।[२]

यहाँ नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मटसम्मत २१ वाक्यदोषों को ही स्वीकार किया है। चूँकि नरेन्द्रप्रभसूरि ने विसन्धि के तीन भेदों की पृथक् गणना की है अतः उनके अनुसार वाक्यदोषों की संख्या २३ हो जाती है। वस्तुतः दोनों में अभिन्नता है। आचार्य हेमचन्द्र ने १३ वाक्यदोषों का उल्लेख किया है, लुप्त विसर्ग और ध्वस्त विसर्ग को उन्होंने अविसर्गता के अन्तर्गत ही माना है तथा विसन्धि के ३ भेदों को पृथक्-पृथक् न मानकर केवल एक ही भेद माना है

---

१. काव्य प्रकाश, ७/५३-५५
२. अलंकारमहोदधि—५/२-६

मम्मट ने जिस वाक्यदोष को प्रतिकूलवर्णता नाम से अभिहित किया है उसी को आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने रसाद्यनुचिताक्षर कहा है अर्थात् रस के प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग। इसमे रस के प्रतिकूल वर्णो की वाक्य-रचना होती है। आचार्य सूरि ने इसके उदाहरणस्वरूप उन्ही उदाहरणो को दर्शाया है, जिसे मम्मट ने दिया है।

दूसरा वाक्यदोष जिसे आचार्य मम्मट ने उपहत विसर्गता कहा है आचार्य सूरि ने लुप्तध्वस्तविसर्गान्त कहा है और आचार्य हेमचन्द्र ने अविसर्गता के नाम से अभिहित किया है। यहॉ पर उत्वादि के द्वारा रकार का लोप होने तथा विसर्ग का लोप प्राप्त होने पर विसर्ग का अभाव होने से लुप्तध्वस्तविसर्गान्त दोष होता है। यहॉं पर भी आचार्य सूरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का पूरी तरह अनुसरण करते हुये उदाहरण भी वही दिया है जो आचार्य हेमचन्द्र और मम्मट ने दिया।

आचार्य मम्मट ने तीसरे दोष के रूप मे विसन्धि नामक वाक्य दोष का विवेचन किया है और आचार्य सूरि ने 'इष्ट सबंध वंचित' जिसे आचार्य मम्मट ने 'अभवन्मत सम्बन्ध' कहा है और आचार्य हेमचन्द्र ने 'अनन्वितता' नामक वाक्यदोष कहा है। वाक्य मे अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध विद्यमान न हो तो इष्ट संबन्ध वंचित दोष होता है। दूसरे शब्दों मे कह सकते हैं कि पदार्थों का परस्पर असम्बद्ध होना ही 'इष्ट सम्बन्ध वचित' नामक काव्य दोष हैं। यहाँ पर भी काव्य प्रकाश मे वर्णित उदाहरण ही दिया गया है।

इसके पश्चात् आचार्य सूरि ने 'समाप्तपुनरारब्धता' नामक वाक्यदोष का वर्णन किया है, इसमे आचार्यवर ने मम्मट के वाक्य दोषों की तुलना मे क्रम भिन्नता के साथ-साथ उदाहरण भी भिन्न दिया है परन्तु आचार्य हेमचन्द्र का अनुपालन करते हुये उदाहरण काव्यानुशासन का दिया गया है। यथा—

ज्योत्स्नां लिम्पति चन्दनेन स पुमान् सिञ्चत्यसौ मालतीं।
मालां गन्धजलैर्मधूनि कुरुते स्वादून्यसौ फाणितैः॥
यस्तेस्य प्रथितान् गुणान् प्रथयति श्रीवीरचूडामणे—
स्तारत्वं स च शाणया मृगयते मुक्ताफलानामपि॥

यहॉं 'चूडामणेः' पर वाक्य समाप्त हो जाने पर 'तारत्वम्' इत्यादि का पूँछ की भाँति पुनः ग्रहण चमत्कारोत्पादक नहीं है।

भग्नप्रक्रमता के बाद आचार्य सूरि 'अक्रमता' नामक वाक्यदोष का वर्णन करते हैं। जहाँ क्रम विद्यमान न हो वहाँ अक्रमतादोष होता है। यथा—

तुरङ्गमथ मातंगं प्रयच्छास्मै मदालसम्।
क्रान्ति प्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ॥

यहाँ 'मातंगमथतुरंगम्' और 'क्रान्तिप्रतापौ-भवतः समौ चन्द्रविवस्वतोः' कहना उचित था, किन्तु इसके विपरीत कहने से दोषयुक्त वाक्य है। इसी प्रकार 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्' इत्यादि श्लोक में 'त्वं' शब्द के बाद चकार का प्रयोग होना चाहिये था।

न्यूनपदता—इसके पश्चात् न्यूनपदता नामक वाक्य दोष का वर्णन किया गया है।

न्यूनपदता दोष के बाद “अर्द्धान्तरस्थैकपदता” नामक वाक्यदोष का विवेचन करते है। इसमे प्रथमार्द्ध का एक पद उत्तरार्द्ध मे कथन के लिये शेष रह जाता है। इसका उदाहरण काव्यप्रकाश मे दिये गये उदाहरण से भिन्न है। यथा—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः। विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः॥

यहॉ विराम इस पद को पूर्वार्द्ध मे रखना उचित था।

संकीर्णता—अर्द्धान्तरस्थैकपदता के नाद संकीर्णता नामक वाक्यदोष का वर्णन हुआ है। यहॉ पर एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में प्रवेश कर जाते हैं।

गर्भितता—संकीर्णता के बाद गर्भितता नामक वाक्यदोष का वर्णन हुआ है। गर्भितता दोष वहॉ होता है जहॉ एक वाक्य के मध्य मे अन्य वाक्य प्रविष्ट हो जाता है।

दुर्वृत्तता—गर्भितता वाक्य दोष के बाद दुर्वृत्तता क्षेत्र का वर्णन हुआ है। दुर्वृत्तता दोष के निरूपण में आचार्य सूरि मम्मट की अपेक्षा आचार्य हेमचन्द्र के मत के पोषक हैं क्योकि यहॉ पर आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि हेमचन्द्र की भॉति दुर्वृत्तता के पॉच भेदों का वर्णन करते हैं जबकि आचार्य मम्मट ने ३ भेद स्वीकार किये हैं। (१) छन्दशास्त्र के लक्षण से रहित, (२) यतिभ्रष्ट, (३) लक्षण का अनुसरण करने पर भी आश्रव्य, (४) अंत लघु जिसमें गुरुभाव को प्राप्त नही होता है, (५) रसानुकूल छन्द न होना। प्रथम दो को छोड़कर अंतिम ३ मम्मटाचार्य को भी स्वीकार हैं। छन्दशास्त्र के लक्षण से रहित उदाहरणार्थ—

‘अयि ! पश्यसि सौधमाश्रितामविरलसुमनोमालभारिणीम्’।

यहाँ वैतालीय छंद के युग्म पाद में ६ लघु अक्षरों का निरन्तर प्रयोग निषिद्ध होने से लक्षणहीन दुर्वृत्तता दोष है। उसी प्रकार अन्य चार के भी उदाहरण आचार्य सूरि ने प्रस्तुत किये हैं।

दुर्वृत्तता दोष के पश्चात् सन्धिविश्लेषता दोष का भेद और उदाहरण सहित वर्णन हुआ है।

अनिष्टान्यार्थ—यहाँ अन्यार्थ प्रकृत रस के विरुद्ध हो जाता है। इसी को आचार्य मम्मट ने अमतपरार्थता कहा है। परन्तु उदाहरण काव्य प्रकाश का ही दिया है।

अस्थानसमासदुःस्थित—इस दोष को आचार्य मम्मट ने अस्थानस्थसमासता नाम से अभिहित किया है। यहॉ पर भी उदाहरण काव्य प्रकाश से ही उद्धृत किया गया है। अनुचित स्थान पर समास करना ही अस्थानसमासुदुःस्थित दोष है।

अस्थानपद्दुःस्थित—पद के अयोग्य स्थान पर होने से यह दोष होता है। यहाँ पर भी उदाहरण काव्य प्रकाश से ही लिया गया है।

पतत्प्रकर्ष—किसी पदार्थ की उत्कृष्टता का वर्णन कर पुनः उसका इस प्रकार वर्णन किया गया हो, जिससे उसकी न्यूनता सूचित हो, तो पतत्प्रकर्ष दोष होगा।

अप्रोक्तवाच्य—इसे मम्मट ने अनभिहितवाच्यता नाम से अभिहित किया है। आवश्यक बात का कथन न करना ही अप्रोक्तवाच्य दोष है।

त्यक्त प्रसिद्धि—इसे आचार्य मम्मट ने 'प्रसिद्धविरुद्धता' दोष कहा है। 'कवि समय' या कवि प्रसिद्धि का उल्लघन होने पर 'त्यक्त प्रसिद्धि' दोष होता है। यहाँ पर 'काव्यप्रकाश' से भिन्न उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। यथा—

'रणन्ति पक्षिणः क्ष्वेडं चक्रीवन्तो वितन्वते।
इदं वृंहितमश्वानां ककुद्मानेष हेषते॥

यहाँ मञ्जीर आदि मे रणित, पक्षियो मे कूजित, सुख मे स्वनित-मणित, आदि तथा मेघो मे गर्जित आदि की प्रसिद्धि का अतिक्रमण होने से त्यक्त प्रसिद्धि दोष है।

पुनरुक्तपदन्यास—त्यक्त प्रसिद्धि के बाद पुनरुक्तपदन्यास दोष का वर्णन हुआ है। इसे आचार्य हेमचन्द्र ने 'उक्तपदता' और आचार्य मम्मट ने 'कथित पद' क्षेत्र कहा है। यदि एक बार कहे गये शब्द का पुनः निष्प्रयोजन प्रयोग किया जाये तो पुनरुक्तपदन्यास दोष होगा। इसका उदाहरण काव्य प्रकाश और काव्यानुशासन दोनो मे ही मिलता है।

अतिरिक्तपदता—अधिक या अनावश्यक शब्दो का प्रयोग अतिरिक्त पद-दोष होता है। इसके उदाहरण भी काव्यप्रकाश से ही उद्धृत हैं।

उभय दोष

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने ३ पददोष एवं २३ वाक्य दोषों के निरूपण के पश्चात् १५ 'उभय दोषों' का विवेचन किया। पद और काव्य मे एक साथ रहने वाले दोषों को उभयदोष के नाम से अभिहित किया जाता है।

यद्यपि आचार्य मम्मट ने 'उभय दोष' इस संज्ञा का प्रयोग नही किया है, पर उन्होने पद और वाक्य में समान रूप से रहने वाले १३ उभय दोषो की चर्चा की है।[१] जैनाचार्य हेमचन्द्र ने इसका स्पष्ट रूप से विवेचन किया है। उनके अनुसार ८ प्रकार के उभय दोष हैं—(१) अप्रयुक्त, (२) अश्लील, (३) असमर्थ, (४) अनुचितार्थ, (५) श्रुतिकटु, (६) क्लिष्ट, (७) अविमृष्टविधेयांश और (८) विरुद्धमतिकृत।[२]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने १५ उभयदोषों का सोदाहरण विवेचन किया है।[३]

(१) ग्राम्य, (२) संदिग्ध, (३) दुःश्रव, (४) अप्रतीत, (५) अयोज्ञार्थ, (६) अप्रयुक्त, (७) अवाचक, (८) जुगुप्साजनक अश्लील, (९) अमगलजनक अश्लील, (१०) वीडाजनक अश्लील, (११) नेयार्थ, (१२) निहितार्थ, (१३) तिरुद्धभविकृत, (१४) अविमृष्ट विधेयांश, (१५) संक्लिष्ट।'

नेयार्थ—किसी प्रसिद्ध अर्थ से विपरीत स्वकल्पित अर्थ में किसी पद का प्रयोग करना। यथा—

---

१. अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन। (काव्य प्रकाश, ७)

२. अप्रयुक्ताश्लीलासमर्थानुचितार्थश्रुतिकटु क्लिष्टाविमृष्ट—
विधेयांशविरुद्धबुद्धिकृत्वान्युभयोः। —काव्यानुशासन, ३/७

३. अलंकार महोदधि—५/६/८

तवाननमिदं पूर्ण हरिद्राजीवितेश्वरम्।
किंकरीकुरुते तन्वि। किमन्यद् वर्णयामिते ॥

यहॉ हरिद्रा का प्रयोग रात्रि के अर्थ मे हुआ है तथा 'जीवितेश्वरम्' 'चन्द्र' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है जो कि सर्वप्रसिद्ध नही है।

ये नेयार्थ पद दोष का उदाहरण था इसी तरह नेयार्थ वाक्य दोष भी सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

निहितार्थ दोष—उभयार्थ वाचक शब्द रहने पर भी अप्रसिद्ध अर्थ मे प्रयोग करना निहितार्थ दोष है। यथा—

यातकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकुचेन दयितेन।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ॥

यहॉ शोणित शब्द रुधिर अर्थ मे प्रसिद्ध होने से दोष है।

ग्राम्यत्व दोष—जो शब्द केवल लोक मे प्रयुक्त होता है। इसके पदगत एवं वाक्यगत उभय दोषो के उदाहरण काव्य प्रकाश से ही ग्रहीत है।

सन्दिग्धत्व दोष—जिस पद के प्रयोग से अन्यार्थ भी विवक्षित हो। सदिग्ध दोष पदगत और वाक्यगत दोनो ही हो सकता है। पदगत यथा—

नील लोहितमूर्तियों दहत्यन्ते जगन्त्यपि।
स एष हि महादेवस्त्रिषु लोकेषु पूज्यते ॥

यहॉ पर प्रयुक्त विश्लेषण अग्नि, शिव अथवा सूर्य के अर्थ में है; यह निश्चित नही हो पाता है, अत: यहॉ संदिग्धत्व दोष है। पदगत सन्दिग्धत्व दोष का उदाहरण भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' से ग्रहीत है। वाक्यगत सन्दिग्धत्व दोष का उदाहरण काव्य प्रकाश से उद्धृत है।

दु:श्रव—मम्मटादि आचार्यो ने इसके लिये श्रुतिकटु शब्द का प्रयोग किया है। कठोरवर्णरूप रसापकर्षक पद दु:श्रव होने से पदगत अथवा वाक्यगत दोष होता है। इसके दोनों ही उदाहरण काव्यप्रकाश से गृहीत है।

अप्रतीत—जो शब्द किसी विशेष शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, उसका प्रयोग साधारण रूप से करना अप्रतीत दोष कहलाता है। पदगत अप्रतीत दोष का उदाहरण काव्यप्रकाश से लिया गया है। वाक्यगत अप्रतीत दोष का उदाहरण भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण से ग्रहीत है। काव्यगत यथा—

किं भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणा:।
गुणंनान्तरीयकं च प्रेमेति न तेऽस्त्युपालभ्य: ॥

यहॉ पर प्रयुक्त रूपस्कन्ध तथा नान्तरीयक ये दोनों पद क्रमश: बौद्धदर्शन तथा न्यायदर्शन के पारिभाषिक शब्द है।

अयोग्यार्थ—इसे अनुचितार्थदोष भी कहते हैं। जिस पद का अर्थ अनौचित्यपूर्ण हो वहॉ-वहॉं पदगत और वाक्यगत अयोग्यार्थ दोष होता है।

अप्रयुक्त—शास्त्र में प्रसिद्ध होने पर भी कवियों द्वारा अनाहत पद का प्रयोग अप्रयुक्त दोष होता है।

ये भी पदगत एव वाक्यगत उभयदोष होता है।

अवाचक—जो पद किसी अर्थ-विशेष के लिये प्रयुक्त करने पर भी इष्टार्थ को नही कहता है। ये भी उभयगत अर्थात् वाक्यगत और पदगत दोनो ही अवाचक दोष से युक्त हो सकते है।

जुगुप्साजनक अश्लील—जुगुप्साजनक शब्द को प्रयोग मे जुगुप्साजनक अश्लील दोष होता है। ये दोष भी पदगत एव वाक्यगत हो सकता है।

अमंगलजनक अश्लील—जहाँ अमगलकारी शब्दो का प्रयोग हो वहाँ अमगलजनक अश्लील दोष होता है। अमंगलजनक अश्लीलत्व के भी पद और वाक्यगत भेद है।

व्रीडाजनक अश्लील—व्रीडादायक शब्दो का प्रयोग होने से व्रीडाजनक अश्लील दोष होता है। ये वाक्य और पद दोनो मे ही हो सकता है।

उभयदोष के अन्तर्गत आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने जुगुप्सा, अमंगल और व्रीडाजनक अश्लीलत्व तीनो का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है, जबकि आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र ने एक अश्लील के अन्तर्गत ही तीनों का समावेश किया है अर्थात् अश्लील दोष के तीनो भेद किये है।

विरुद्धमतिकृत्—यदि अभीष्ट अर्थ या प्रकृत विषय के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो तो विरुद्धमतिकृत दोष होगा। विरुद्धमतिकृत दोष पद और वाक्यगत है।

अविमृष्टविधेयांश—जहाँ प्रधान रूप से विधेयांश का कथन न किया गया हो। इसमे प्रधान पदार्थ को अप्रधान या गौण बना दिया जाता है।

संक्लिष्ट—जहाँ व्यवधानपूर्वक अर्थ का बोध हो वहाँ संक्लिष्ट दोष होता है इसके भी पद एवं वाक्यगत दोनो भेद हो सकते हैं।

नरेन्द्रप्रभसूरि कृत उभयदोषो के लक्षणो और उदाहरणों में कोई नवीनता नही है। इस प्रसग मे नरेन्द्रप्रभसूरि आचार्य हेमचन्द्र की अपेक्षा आचार्य मम्मट से ज्यादा प्रभावित है। अधिकतम उदाहरण काव्यप्रकाश से ही सग्रहीत हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने ८ ही उभयदोष माने हैं। उन्होंने अप्रयुक्त के अन्तर्गत नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा मान्य ग्राम्य, अप्रतीत, अप्रयुक्त और निहितार्थ का अन्तर्भाव कर दिया है तथा असमर्थ मे संदिग्ध अवाचक और नेयार्थ को समाहित कर दिया है। तथा अश्लील दोष के अन्तर्गत ही जुगुप्सा, अमंगल और व्रीडाजनक अश्लील को स्वीकार किया है। इसी प्रकार अप्रयुक्त मे ग्राम्य, अप्रतीत, अप्रयुक्त और निहितार्थ और असमर्थ में संदिग्ध, अवाचक और नेयार्थ का अन्तर्भाव किया है।

अर्थ दोष पदगत तथा वाक्यगत, उभय दोषों के बाद अर्थदोषों का विवेचन हुआ है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि में मम्मटोल्लिखित २३ अर्थ दोषों[१] में से २२ का ही विवेचन किया है। उनके

---

१. अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रम ग्राम्याः
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेष परिवृत्ताः।
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतो अश्लीलः॥ (काव्यप्रकाश —६- ५५, ५६, ५७)

उदाहरण भी प्रायः काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से ही अनुग्रहीत है। आचार्य हेमचन्द्र ने २० अर्थ दोषो का ही वर्णन किया है। हेमचन्द्राचार्य ने निर्हेतु, अनवीकृतत्व और अपदयुक्तता इन दोषो को अलग से स्वीकार नही किया है। निर्हेतु का अन्तर्भाव साकाक्ष दोष मे किया है। आचार्य मम्मट ने अनवीकृतत्व का जो उदाहरण दिया है उस उदाहरण को हेमचन्द्र ने 'पुनरुक्त दोष जहाँ गुण हो जाता है' का उदाहरण स्वीकार किया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने जिन अर्थदोषो को स्वीकार किया है वे निम्नलिखित है[1] :—

१. पुष्टता रहित—'अपुष्टत्व' वह अर्थदोष है, जिसे मुख्य अर्थ के अनुपकारक किसी पदार्थ की योजना मे देखा जाया करता है। अर्थात् जब काव्य मे ऐसे पद प्रयुक्त हो जिनके न रहने पर भी अर्थ क्षति न हो तो अपुष्ट दोष होगा। यथा—

'तमालश्यामलं क्षारमत्यच्छमतिफेनिलम्।
फालेन लंघयामास हनूमानेष सागरम्॥

यहाँ 'तमालश्यामल' आदि के ग्रहण न करने पर भी प्रकृत अर्थ की प्रतीति मे कोई बाधा न होने पर उक्त दोष है।

यह उदाहरण काव्यानुशासन से ग्रहीत किया गया है।

२. 'कष्टत्व' वह अर्थ दोष है जिसके कारण कोई अर्थ कष्टपूर्वक अवगत हुआ करता है। 'सदा मध्ये...यान्तु रुपयः। इत्यादि उदाहरण मे अर्थ की प्रतीति कष्टपूर्वक होने से उक्त दोष है। यह उदाहरण काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन में भी मिलता है।

३. 'दुष्क्रमत्व' वह अर्थ दोष है जिसे वस्तुओ के निबन्धन क्रम के अनौचित्य मे देखा जाया करता है अर्थात् प्रधान अर्थ का पूर्व निर्देश करना क्रम है और उसका अभाव दुष्क्रमत्व दोष।[2] यथा—

काराविऊण खरंउ गामउडो मज्जिओ अजिमिऊण।
नक्खतं तिहि वारे जोइसिअं पुच्छिउं चलिओ॥

यहाँ प्रधान अर्थ का पूर्व निर्देश न होने के कारण दुष्क्रमत्व दोष है।

४. 'व्याहतत्व' वह अर्थ दोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है, जहाँ किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष या अपकर्ष दिखा कर बाद में उसके विपरीत अपकर्ष अथवा उत्कर्ष वर्णन होने लगता है। इसका उदाहरण काव्य-प्रकाश से ही लिया गया है।

---

१. पुष्टतारहितः कष्टो दुष्क्रम व्याहतावपि।
सन्दिग्धोऽपदमुक्तश्च पुनरुक्तोऽनवीकृत.॥११॥
विद्यया च प्रसिद्धया च विरुद्धोऽश्लील एव च
प्रकाशितविरुद्धश्च दुष्टविध्यनुवादभाक्॥१२॥
ससमान्यविशेषाच्च नियमानियमद्वयात्
परिवृत्तोऽथ साकांक्ष ग्राम्य निर्हेतवोऽपि च॥ १३॥

२. कारयित्वा क्षौरं ग्रामकूटः स्नातश्च जिमितश्च।
नक्षत्रं तिथि-वारौ ज्योतिषिकं प्रष्टं चलितः॥

५. 'संदिग्धत्व' वह अर्थदोष है, जहाँ सशय का हेतु उपस्थित हो।

६. सदिग्धत्व अर्थदोष के बाद अपदयुक्तता नामक अर्थदोष का वर्णन किया गया है। अपदयुक्तता का अभिप्राय यह है कि जहाँ अपद अर्थात् अस्थान या अनुचित स्थान मे पदो को जोड़ दिया जाये वह अपदयुक्तता दोष होता है।

७. अपदयुक्तता दोष के बाद पुनरुक्तत्व दोष का वर्णन किया गया है; जहाँ पर एक ही अर्थ का भिन्न-भिन्न पदो द्वारा दो बार कथन किया जाये वहाँ पुनरुक्तत्व दोष होता है। इसका उदाहरण भी काव्य प्रकाश से ही लिया गया है।

व्यक्तिविवेककार ने पुनरुक्तत्व का विशद वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में 'अर्थ पौनरुक्तय' एक महादोष है।

८. पुनरुक्तत्व दोष के पश्चात् अलंकार महोदधिकार ने अनवीकृतत्व नामक अर्थ दोष का वर्णन किया है। 'अनवीकृतत्व' वह अर्थ दोष है, जिसे एक ही प्रकार से, बिना किसी विचित्रता और नवीनता के किसी अर्थ के उपन्यास मे देखा जाया करता है। अर्थात् यदि अनेक अर्थ एक ही प्रकार के कहे जायें और उनमे कोई विशेषता न रहे तो अनवीकृतत्व दोष होगा। अलंकार महोदधिकार द्वारा उदाहृत 'अनवीकृतत्व' भी काव्यप्रकाश से ही ग्रहीत है।

अनवीकृतत्व के प्रत्युदाहरण नवीकृतत्व का विवेचन भी मम्मट की भाँति ही किया गया है। नवीनता में चमत्कार है। पिष्टपेषण में चमत्कार कहाँ ? 'प्राप्ताः श्रियः' आदि में तो एक प्रकार के ही अर्थ का एक प्रकार से ही अभिधान है किन्तु 'यदि दहत्यनिलोऽत्र' आदि में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित भिन्न-भिन्न धर्मों में संवलित एक अर्थ का उपन्यास किया हुआ है।

९. 'विद्याविरुद्धत्व' वह अर्थ दोष है जहाँ शास्त्रों के विरुद्ध प्रतीत होने वाले अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है। कला, चतुर्वर्ग और शास्त्र विद्या है। गीत, नृत्य और चित्रकर्म आदि कलाएँ हैं।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने पहले धर्मशास्त्र के विपरीत फिर अर्थशास्त्र के विपरीत और फिर कामशास्त्र के विरुद्ध इस शैली से विद्याविरुद्धता अर्थ दोष के तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

इसी भाँति अन्यान्य शास्त्रो के विपरीत अर्थों के अभिधान में भी 'विद्या विरुद्धत्व' ही माना जायेगा।

१०. 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे लोक प्रसिद्धि अथवा कवि प्रसिद्धि के विरुद्ध किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है। अर्थात् अप्रसिद्ध बात का कथन किया जाता है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी मम्मट की ही भाँति प्रसिद्धिविरुद्धता के भी तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

११. 'अश्लीलत्व' वह अर्थदोष है जिसे व्रीड़ा, जुगुप्सा, अमंगल आदि के अभिव्यञ्जक अर्थ में देखा जाया करता है। इसका उदाहरण काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन दोनों में ही मिलता है।

१२. प्रकाशितविरुद्धत्व वह अर्थदोष है, जिसे ऐसे अभिव्यंग्य अर्थ में देखा जाया करता है जो कि

विवक्षित अर्थ के प्रतिकूल प्रतीत होता है।

अलकार महोदधिकार द्वारा उदाहृत 'प्रकाशित विरुद्धता' काव्यप्रकाश से ग्रहीत है।

१३. 'दुष्टविध्यनुवादभाग्' अर्थात् 'विध्ययुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे विधेय के अयोग्य अर्थ मे विधेय तात्पर्य का समर्पण कहा जाये। इसका उदाहरण भी काव्यप्रकाश से ही लिया गया है।

इसके पश्चात् चार प्रकार के परिवृत्त दोषो का विवेचन किया गया है। इन चार अर्थदोषो की गणना एक साथ की गयी है।

१४ 'सामान्यपरिवृत' वह अर्थदोष है जहाॅ सामान्य की अपेक्षा विशेष वाचक शब्दो का प्रयोग होता है जिससे विवक्षित अर्थ प्रतीति मे विलम्व पड़ता है और रसभाव प्रतीति भी विलम्ब से हो पाती है।

१५. 'परिवृत्तविशेष'—विशेष की अपेक्षा सामान्यवाचक शब्द का जहाॅ प्रयोग हो वहाॅ 'परिवृत्तविशेष' नामक अर्थदोष होता है।

१६ 'परिवृत्त नियम' वह अर्थदोष है, जहाॅ नियम या अवधारण सहित बात कहनी चाहिये वहाॅ बिना नियम या बिना अवधारण के वर्णन किया जाये। इसका उदाहरण भी काव्य-प्रकाश से लिया गया है।

१७: परिवृत्त अनियम वह अर्थ दोष है, जहाॅ अनियम से अर्थात् बिना अवधारण के बात कहनी उचित है, वहाॅ नियम या अवधारण करते हुये वर्णन किया जाये।

सनियमवैपरीत्य और अनियमवैपरीत्य मे दोष एक दूसरे के विरुद्ध है।

१८. 'साकाङ्क्षत्व' वह अर्थदोष है, जिसे ऐसे अर्थ के अभिधान मे देखा जाया करता है जिसकी आकाक्षा तो बनी रहे किन्तु जिसका प्रतिपादन न किया जाये। अर्थात् अर्थ की संगति के लिये किसी पद की आकाक्षा बनी रहे तो साकांक्ष दोष होगा। इसका उदाहरण काव्य प्रकाश और काव्यानुशासन दोनों मे ही मिलता है।

१९ 'ग्राम्यत्व' वह अर्थदोष है, जिसे अविदग्ध मनुष्यों की सी बातचीत मे देखा जाया करता है। अर्थात् ग्रामीण भाषा-भाव के प्रयोग मे ग्राम्यत्व दोष होगा।

२० 'निर्हेतुत्व' वह अर्थ दोष है जिसे बिना किसी हेतु के उपन्यस्य अर्थ मे देखा जाया करता है अर्थात् किसी बात के हेतु के न कहने पर निर्हेतु-दोष होता है।

२१ 'सहचरभिन्नत्व' वह अर्थदोष है जिसे सजातीय अर्थों के मध्य किसी विजातीय अर्थ के उपनिबन्धन मे देखा जाये अर्थात् जब उत्कृष्ट के साथ निकृष्ट और निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का वर्णन हो तो सहचरभिन्नत्व दोष होगा। उचित सहचर की भिन्नता ही सहचरभिन्नत्व है।

२२. त्यक्त 'भक्ति पुन: स्वीकृतत्त्व' को 'विमुक्तपुनरादृत.' इस नाम से अभिहित करते हुये आचार्य ने इस अर्थदोष का वर्णन किया है। इसमें पहले समाप्त की हुयी बात का पुन: प्रतिपादन किया जाता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने २२ अर्थदोषों का ही सोदाहरण उल्लेख किया है 'अनुवादायुक्तत्व' अर्थदोष के

वर्णन न करने का कोई विशेष हेतु नही प्रस्तुत किया है अर्थदोषो के विवेचन मे भी प्राय· आचार्य सूरि हेमचन्द्राचार्य और आचार्य मम्मट के ही अनुगामी है।

रस दोष

काव्य का प्रधानतत्त्व रस है, अत: 'रसदोष' काव्य के मुख्य दोष है, रस की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है, अर्थ का ज्ञान शब्दाश्रित है। अत: शब्ददोष और अर्थदोष का स्थान रस दोष के बाद है। रस ही मुख्यार्थ है।

रस का विघात तीन प्रकार से होता है—(१) रस की प्रतीति में विलम्ब, (२) काव्य के आस्वाद में अवरोध होने पर, (३). रस प्रतीति मे पूर्ण विघात होने पर।

रस काव्य की आत्मा है। उस आत्मतत्त्व की निष्पत्ति सर्वथा निर्दोष होनी चाहिये। रस का प्राण एकमात्र आस्वाद ही है और उसकी अवधि विभावादिको पर निर्भर है। रस वाच्य नही, वरन् विभावादि द्वारा प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ वाच्य नही होता, किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। साहित्य में ध्वनि की प्रधानता स्थापित हो जाने पर रस ध्वनि काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। फलस्वरूप रसौचित्य को काव्य की मुख्य कसौटी माना गया और गुण-दोष का विवेचन तदनुसार किया जाने लगा। इस प्रकार रसदोषो का आविर्भाव हुआ। रसौचित्य के आधार पर रसदोष दो प्रकार के माने गये—(१) नित्य और (२) अनित्य। वे दोष जो सभी अवस्थाओं मे काव्य की आत्मा का अपकार करते हैं, नित्य दोष हैं। अनित्य दोषों का सम्बन्ध रूप और आकार से है, इस प्रकार "रसदोष नित्य तथा शब्ददोष और अर्थदोष अनित्य है।"

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने रस दोषों का विवेचन करते समय 'दोष' के स्थान पर 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया है।

आनन्दवर्धन ने कविदृष्टि से रस भंग के पाँच कारण बतलाये हैं।[१]

(१) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण।

(२) रस से सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन।

(३) असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन।

(४) रस का पूर्ण परिपोष हो जाने पर उसका बार-बार उद्दीपन करना।

(५) व्यवहार का अनौचित्य।

आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में ध्वनिवादियों की मान्यताओं को स्वीकार कर मौलिकता के साथ रसदोषों का विस्तार से विवेचन किया है। और मौलिकता का अभिकिञ्चित सन्निवेश करते हुये आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के रस दोष वर्णन का अक्षरक्ष: अनुकरण किया है।

मम्मट के परवर्ती प्राय: सभी आचार्य मम्मट की मान्यता और विचारधारा के ही पोषक हैं। आचार्य मम्मट

---

१. ध्वन्यालोक तीसरी कारिका

ने रस दोषो .की सख्या दस बतायी है[१]—

(१) स्वशब्दवाच्यता, (२) विभावो और अनुभावो की कष्ट कल्पना, (३) परिपन्थि सांगपरिग्रह, (४) रस की पुनः-पुनः दीप्ति, (५) अकाण्ड मे विस्तार, (६) अकाण्डछेदन, (७) अगभूतरस की अतिवृद्धि, (८) अंगी का अननुसन्धान, (अंगी की विस्मृति), (९) प्रकृति विपर्यय एव (१०) अनग वर्णन।

मम्मट के ही क्रम को आत्मसात् करते हुये आचार्य सूरि ने रसदोष विवेचन किया है।[२]

उदाहरण भी लगभग वही दिये है जो कि आचार्य मम्मट द्वारा उदाहत है। रसादि की स्वशब्दवाच्यता अर्थात् रसादि के शब्दतः कथित होने पर स्वशब्दवाच्यता दोष होता है। यथा—

'श्रृंगारी गिरिजानने सकरुणो रत्यां प्रवीरः स्मरे
वीभत्सोऽस्थिभिरुत्फणी च भयकृन्मूर्त्याऽद्भुतस्तुङ्गया
रौद्रो दक्षविमर्दने च हसकृन्नग्नः प्रशान्तश्चिरा
दित्थं सर्वरसात्मकः पशुपतिर्भूयात् सतां भूतये।

यहाँ पर 'रस' शृंगारादि पदो के द्वारा एव शब्दतः भी कथित होने से स्वशब्दवाच्यता दोष रस दोष है। उपरोक्त उदाहरण काव्यानुशासन से उद्धृत है।

इसीं प्रकार स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों का जहाँ स्वशब्द से कथन हो वहाँ स्वशब्दवाच्यतारसदोष होगा। इसके उदाहरण काव्यप्रकाश से गृहीत हैं। परन्तु कहीं-कही व्यभिचारी भावों के शब्दतः कथित होने पर भी उक्तदोष नहीं होता है। यथा—

"औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्त्तमाना ह्रिया।
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताऽभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः।

उपर्युक्त श्लोक में यद्यपि औत्सुक्यादि व्यभिचारि भाव शब्दतः कथित हैं, किन्तु दोष नहीं है, क्योंकि औत्सुक्य नामक व्यभिचारि भाव का कोई ऐसा अनुभाव नहीं है जो असंदिग्ध रूप से उसकी प्रतीति करा दे।

जो 'त्वरा' आदि उसके अनुभाव हैं, वे असाधारण नहीं, क्योंकि वे भय आदि के भी व्यञ्जक होते हैं, अतः औत्सुक्य' को स्वशब्दोपादान दोष नहीं माना जाता क्योंकि वह आस्वाद विघातक नहीं होता।

(२) दूसरा रसदोष है 'विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना' अर्थात् जहाँ विभाव और अनुभाव का

---

१. काव्यप्रकाश ७/६०-६२

२. रसादीनां स्वशब्दोक्तिर्विना सञ्चारिभिः क्वचित्।
या च क्लेशकृता व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः॥ १८ ॥
विभावादि प्रतीपत्वं भूयो भूयश्च दीपनम्।
अप्रस्तावे प्रथा-च्छेदो क्वचिदङ्गातिविस्तृतिः॥ १९ ॥
नाङ्गिनोऽप्यनुसन्धानं प्रकृतिव्यत्ययस्तथा।
अनङ्गोपनिबन्धश्च दोषा इत्यादयो रसे॥ २० ॥ —अ० महो० ५/१८, १९, २०

ज्ञान ठीक-ठीक न हो सके कि यह विभाव है या अनुभाव। इसका उदाहरण भी काव्यप्रकाश से ही गृहीत है।

(३) 'रस के प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना' भी रस दोष है इसका उदाहरण भी काव्यप्रकाश से ही लिया गया है।

(४) रस का पुनः-पुनः दीप्त होना भी एक प्रकार का रस दोष है। इस दोष से मम्मट का अभिप्राय यह है कि किसी रस का परिपाक हो जाने पर अर्थात् उसका अभिप्राय समाप्त हो जाने पर उस रस का फिर से वर्णन करना जैसा कि कुमार संभव के चतुर्थ सर्ग मे प्रथम श्लोक से छब्बीसवें श्लोक तक बार-बार करुण रस को उद्दीप्त किया गया है।

यथा 'कुमार सम्भवे रति प्रलापेषु' इस रस दोष की चर्चा ध्वन्यालोककार ने भी की है।[१]

(५) अनवसर में रस का विस्तार करना पाँचवाँ रस दोष है। आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर मम्मटाचार्य ने इस दोष को 'अनवसर में रस वर्णना' तथा 'अकाण्ड प्रथन' आदि नाम दिये हैं। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि इसे 'अप्रस्तावे प्रथा' (तत्राकाण्डे प्रथा प्रपनम्) इस नाम से अभिहित करते हैं।

उदाहरणार्थ 'वेणी संहार' नाटक के द्वितीय अंक में अनेक वीरों के विनाश के समय बीच में ही रानी भानुमती के साथ दुर्योधन का प्रेम व्यवहार और उसका वर्णन लिया जा सकता है। इस प्रसंग मे शृगार रस का वर्णन असामयिक होने से दोषपूर्ण है।

(६) रस का अनवसर में विच्छेदन करना अर्थात् अनुचित स्थान पर रसभङ्ग 'अकाण्डच्छेदन' रसदोष है। जैसे महावीर चरित के द्वितीय अंक में जहाँ राम और परशुराम का युद्धोत्साह अविच्छिन्न रूप से अभिव्यक्त हो रहा है वहाँ राम का "कंकण मोचन के लिये जा रहा हूँ" यह कहकर युद्धोत्साह से विरत हो जाने से रामगत वीररस के आस्वादन में विघ्न पड़ गया है। अतः यह दोष है।

(७) अप्रधानरस का अत्यधिक विस्तार करना ही 'अंगभूत रस की अतिविस्तृति' दोष है। काव्य या नाटक में एक मुख्य रस होता है, जिसे अंगी रस कहते हैं और उसके सहायक काव्यरस 'अंग' रस कहे जाते हैं। जहाँ अंग या अप्रधान रस वर्णन के उपकरणों का आवश्यकता से अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन हो, वहाँ अंगभूत रस की अतिवृद्धि भी एक रस दोष कहलाता है। यथा हयग्रीव में विष्णु प्रधान नायक है, उनकी अपेक्षा प्रतिनायक दैत्य हयग्रीव का विस्तार से वर्णन किया गया है।

(८) अंगी या प्रधान रस को विस्मृत कर देना (अननुसन्धान) भी एक प्रकार का रस दोष है। उदाहरणार्थ रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वाभ्रव्य के आ जाने पर सागरिका को विस्मृत कर दिया गया है। अतः नाटिका के शृंगार रस में व्याघात उत्पन्न हो जाने से उक्त दोष है।

(९) प्रकृतिविपर्यय अर्थात् प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय कर देना। जिस प्रकृति के लिये जो वर्णन अनुचित हो उसका वहाँ वर्णन 'प्रकृतिविषर्ययरूप' रस दोष है। प्रकृति तीन प्रकार का होता है। दिव्य, अदिव्य

---

१. परिपोषं गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम् रसस्य स्याद्विरोधाय, वृत्त्यनौचित्यमेव च। —ध्वन्यालोक, ३/१९

और दिव्यादिव्य। इस रसदोष का सविस्तार वर्णन काव्य प्रकाश पर ही आधारित है।

(१०) 'अनङ्गवर्णन' अर्थात् अप्रासगिक का वर्णन अन्तिम रस दोष है। अनग अर्थात् अमुख्य अथवा रस के अनुपकारक का वर्णन भी एक रस दोष है। इस प्रकार के वर्णन से प्रधान रस का विशेष उपकार नही होता है।

उपर्युक्त समस्त रसदोष अनौचित्यमूलक है, जैसा कि ध्वनिकार ने लिखा है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभग रसदोष का अन्य दूसरा कोई कारण नही है और औचित्य का वर्णन ही रस का परम रहस्य है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ इति

इस प्रकार औचित्य और अनौचित्य ही काव्य के गुण-दोष के कारण हैं।

दोषो के विवेचन मे आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने समस्त परवर्ती आचार्यों की ही भाँति काव्य प्रकाश को ही उपजीव्य ग्रंथ माना है। दोषो के उदाहरण कुछ काव्यानुशासन से भी उद्धृत हैं। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का दोष विभाजन भी मम्मट से ही प्रभावित है। आचार्य सूरि भी रस दोषों की प्रमुखता को स्वीकार करते हुये शब्द-दोष, अर्थदोष और रस दोष नाम से समस्त दोषों को तीन भागों मे विभाजित करते हैं। उनका विवेचन क्रम अवश्य ही मम्मट से भिन्न है। आचार्य मम्मट के दोष विवेचन क्रम हैं—पद दोष, पदांश दोष और वाक्यदोष, अर्थदोष और रसदोष। परन्तु आचार्य सूरि का दोष विवेचन का क्रम है—पद दोष, वाक्यदोष, उभयदोष, अर्थ दोष और रस दोष।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने आचार्य हेमचन्द्र का अनुसरण करते हुये पदांशगत दोषो को स्पष्ट रूप से पददोष ही माना है।[१] परन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदाशगत दोषों को पदगत दोष मानते हुये भी मम्मट द्वारा मान्य सात पदांशगत दोषों में से अश्लील को छोड़कर छह दोषों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। ये उदाहरण वही हैं जिन्हें मम्मट ने प्रस्तुत किया है।[२] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मटाचार्य से पृथक् उभय दोषो का भी वर्णन किया है।

आचार्य मम्मट एवं नरेन्द्रप्रभसूरि आचार्य के काव्यदोषों की तुलनात्मक समीक्षा—वस्तुतः काव्य के लिये जो अनपेक्षित, हेय तथा वर्ज्य है, उनके लिये दोष शब्द का प्रयोग प्रायः सभी आलंकारिकों ने किया है। काव्य के इस विषय मे कोई विवाद नही है कि जो तत्त्व काव्यापकर्षक होते हैं, वे दोष हैं। सत्काव्य के लिये दोषों का न होना नितान्त आवश्यक है। यदि उत्तम काव्य के लिये गुणों का होना आवश्यक है तो वहाँ दोषाभाव का होना भी आवश्यक है। आचार्य भामह के अनुसार काव्य मे एक दुष्टपद भी नही होना चाहिये, क्योंकि कवि का वह दुष्टपद उस कुपुत्र के समान है जो कि पिता को निन्दाभाजन बना देता है।[३] आचार्य दण्डी कहते हैं कि काव्य मे स्वल्प दोष भी सर्वथा त्याज्य है। जिस प्रकार कुष्ठ का एक धब्बा सुन्दर शरीर को कुरूप बना देता है वैसे ही दोष काव्य को असुन्दर बना देते हैं।[४]

---

१. 'पदैकदेशः पदमेव' काव्यानुशासन, पृ० २०० 'पदैकदेशोऽपि पदमेव' अलंकारमहोदधि, पृ० १५३

२. अलंकारमहोदधि, पृ० १५३-१५४

३. १/११-१२—काव्यालंकार

४. १/७—काव्यादर्श

भामह दण्डी आदि का दोष-निरूपण जहाँ शब्द और अर्थ पर आधारित है, वही ध्वनिकार तथा अन्य ध्वनिवादियो का दोष-निरूपण रस पर आश्रित है। दोष का स्वरूप रस (काव्यानन्द) के व्याघात पर आधारित है। वस्तुतः दोषो का मूल अनौचित्य है। काव्य की चारुता औचित्य के सन्निवेश से होती है। औचित्य रसापेक्ष होता है। अतः औचित्य का अर्थ रसानुगुणता तथा अनौचित्य का अर्थ रसावनुगुणता होता है। आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को ही काव्य मे दोष स्वीकार किया है।[१]

आचार्य मम्मट दोष-निरूपण के विषय मे आनन्दवर्धन के ऋणी है। आनन्दवर्धन ने प्रारम्भ में जो दोषों को रस का विघातक स्वीकार किया है, उसी का मम्मट ने अनुसरण किया है। तदनन्तर हेमचन्द्र ने भी उसे पूर्ववत् स्वीकार किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि यद्यपि वैचित्र्य के लोप को दोष मानते हैं। किन्तु अन्ततः रस की क्षति होने पर ही उन्हे दोषोत्पत्ति माना है। दोष का स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत करने का श्रेय ध्वनिवादी आचार्य मम्मट को ही जाता है।[२]

कवि का प्रयोजनभूत अर्थ ही मुख्यार्थ होता है और चूँकि कवि का प्रायः रस ही प्रयोजनभूत अर्थ होता है, अतः रस ही मुख्यार्थ हुआ। और मम्मट मुख्यार्थ अर्थात् रस के अपकर्षक को दोष कहते हैं। रस का आधार वाच्यार्थ होता है। अतः वाच्यार्थ भी परम्परा या दोष का आधार बनता है और पदादि भी वाच्यार्थ और रसादि के उपायभूत है अतः वे भी परम्परा या दोष के आधार बन जाते हैं। यही दोष स्वरूप परवर्ती आचार्यों के दोष स्वरूपो का प्रायः उपजीव्य रहा है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र भी रस के अपकर्षक हेतुओं को दोष कहते हैं। ये दोष रस के ही आश्रित होते हैं, किन्तु गौण रूप से शब्द और अर्थ के भी अपकर्षक होते हैं।[३] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी अपने पूर्ववर्ती आचार्य हेमचन्द्र और मम्मट के ही अनुगामी हैं।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने दोषों के वर्गीकरण में आचार्य हेमचन्द्र का ही अनुसरण किया है।

आचार्य मम्मट ने शब्ददोष, अर्थदोष और रसदोष भेद से प्रथमतः तीन भेदों का उल्लेख करके शब्द दोषों को पददोष, पदांश दोष, तथा वाक्य दोष के रूप में तीन वर्गों में विभक्त किया है। इस प्रकार मम्मट के समस्त दोषों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) पद दोष, (२) पदांशदोष, (३) वाक्य दोष (४) अर्थदोष, (५) रस दोष।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्राचार्य की भाँति पदांश दोषों को पददोषों से भिन्न न मानकर पदांश दोषों का अलग वर्णन नहीं किया है। तथा पद और वाक्य दोनों में पाये जाने वाले पद-वाक्य (उभय) दोषों के नाम से एक स्वतंत्र वर्ग स्वीकार किया। आचार्य मम्मट ने यद्यपि 'उभय दोष' नाम से किसी पृथक् वर्ग का उल्लेख

---

१. अनौचित्याद्दृते नान्यद् रस भंगस्य कारणम्। —ध्वन्यालोक, पृ० ४१६

२. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥

३. काव्यानुशासन—१/१२

नहीं किया है तथापि पद और वाक्य मे समान रूप से पाये जाने वाले दोषो की चर्चा अवश्य की है। मम्मट के अनुसार श्रुतिकटु आदि सोलह पददोषो मे च्युत, सस्कृति और निरर्थक नामक तीन पददोषो को छोड़कर शेष तेरह दोष वाक्य मे भी होते है। इस प्रकार आचार्य सूरि का दोष विभाजन हेमचन्द्र के समान है।

आचार्य मम्मट १६ पददोषो का वर्णन करते है—(१) श्रुतिकटु, (२) च्युतसस्कृति, (३) अप्रयुक्त, (४) असमर्थ, (५) निहितार्थ, (६) अनुचितार्थ, (७) निरर्थक, (८) अवाचक, (९) अश्लील, (१०) सदिग्ध, (११) अप्रतीत, (१२) ग्राम्य, (१३) नेयार्थ, (१४) क्लिष्ट, (१५) अविमृष्टविधेयांश और (१६) विरुद्धमतिकृत।[१]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने तीन पद-दोषो का ही विवेचन किया है—(१) असंस्कृत, (२) असमर्थ, (३) निरर्थक[२] पददोषो की संख्या के विषय मे आचार्य हेमचन्द्र से भी मतवैभिन्य है।[३] आचार्य हेमचन्द्र ने दो पददोषो का ही उल्लेख किया है।

आचार्य मम्मट ने सात पदांशगत दोषो का वर्णन किया है। श्रुतिकटु, निहितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सदिग्ध और नेयार्थ।[४] आचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि ने इन्हे पददोष ही स्वीकार किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदांशगत दोषों को पदगत दोष मानते हुये भी मम्मट द्वारा मान्य अश्लील को छोड़कर शेष छह का वर्णन किया हैं।[५]

मम्मट ने २१ वाक्य दोषों[६] का विवेचन किया है, जबकि नरेन्द्रप्रभसूरि ने २३ वाक्य दोषों[७] का उल्लेख किया है। यहाँ आचार्य सूरि ने मम्मट सम्मत २१ वाक्य दोषों को ही स्वीकार किया है, चूँकि आचार्य सूरि ने विसन्धि के ३ भेदों की पृथक्-पृथक् गणना की है, अतः उनके अनुसार वाक्य-दोषों की संख्या २३ हो जाती है मूलतः दोनों में अभिन्नता है। हेमचन्द्र ने १३ वाक्यदोषों का ही विवेचन किया है।[८] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के 'अभवन्-मत सम्बन्ध' दोष को 'इष्ट सम्बन्ध वंचित' नाम से अभिहित किया है।

मम्मट ने १३ ऐसे दोषो की चर्चा की है जो पद और वाक्य दोनों में होते हैं।[९] किन्तु उनका अलग वर्ग के रूप में उल्लेख नही किया है। हेमचन्द्र ने ऐसे दोषों के लिये पद-वाक्य दोष नामक अलग वर्ग माना और आठ प्रकार के उभयदोषों की चर्चा की।[१०] नरेन्द्रप्रभसूरि ने १५ उभय दोषों का वर्णन किया है।[११]

---

१. काव्यप्रकाश—७/५०-५१
२. अलंकारमहोदधि—५/२/पूर्वार्द्ध
३. काव्यानुशासन—३/४
४. काव्यप्रकाश—७
५. अलंकारमहोदधि—पृ० १५३-१५४
६. काव्यप्रकाश—७/५३-५४
७. अलंकार महोदधि—५/२-६
८. काव्यानुशासन—३/५
९. काव्यप्रकाश—७/५२
१०. काव्यानुशासन—३/६
११. अलंकार महोदधि—५/६-८

नरेन्द्रप्रभसूरि कृत उभय दोषो के लक्षणो और उदाहरणो मे कोई नवीनता नही है। इस प्रसग मे नरेन्द्रप्रभसूरि के ऊपर हेमचन्द्र की अपेक्षा मम्मट का अधिक प्रभाव है।

अर्थदोषो के प्रसग मे आचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि दोनो ने ही प्राय मम्मट का ही अनुकरण किया है। हेमचन्द्र ने मम्मट द्वारा वर्णित २३ अर्थदोषो[१] मे २० अर्थदोषो[२] को ही स्वीकार किया है और नरेन्द्रप्रभसूरि ने २२ अर्थदोषो को माना है।[३]

मम्मट के निर्हेतु, अनवीकृतत्त्व और अपदयुक्त दोषो को हेमचन्द्र ने नही माना है। मम्मट के अनुवादायुक्त को नरेन्द्रप्रभसूरि ने नहीं माना है। और न मानने का कोई विशेष हेतु नही दिया है।

रस दोषो के वर्णन मे मम्मट द्वारा प्रतिपादित रस दोषो से आचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि के रसदोष पूरी तरह साम्य रखते हैं। मम्मट ने १० रसदोष माने है[४] जो कि आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि को भी मान्य है।[५]

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि नरेन्द्रप्रभसूरि के दोष विवेचन के प्रसग में मौलिकता केवल इतनी है कि इन्होने दोषो की सख्या के विषय मे अपना स्वतंत्र मत प्रस्तुत किया है। शेष सभी प्रकरणो मे आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि अपने पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट और जैनाचार्य हेमचन्द्र से पूर्ण प्रभावित हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोष का स्वरूप रस (काव्यानन्द) के व्याघात अथवा अनौचित्य पर आधारित है। इतर स्थितियो मे वह कही दोष नही रहता और कही गुण भी बन जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र मे दोष को हेय कहा। काव्य के लक्षण मे दोष राहित्य को स्थान मिला। पर फिर भी दोष को हर स्थिति मे त्याज्य और निन्द्य नही माना। आचार्य भरत ने उदारतापूर्वक कहा 'दोषा नात्यर्थतो ग्राह्या:'। भामह ने भी इस ओर संकेत किया कि असाधु पदार्थ भी आश्रय के सौन्दर्य से शोभा को धारण कर लेता है। काला अंजन सुनयना के नयनो के संसर्ग से अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त कर लेता है। (का० अ०) भा० १-५५)

संस्कृत आचार्यों में दण्डी, वामन और रुद्रट ने दोषों के दोषाभावत्व और गुणत्व पर प्रकाश डाला है।

मम्मट पहले आचार्य हैं। जिन्होने दोषो की विपरीत स्थिति तीन रूपों में निर्धारित की है—कही वे दोष नही रहते, तथा कही वे न दोष रहते हैं और न गुण। उन्हीं से प्रेरित विश्वनाथ का यह कथन उद्धरणीय है।

दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभि: ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता॥ (सा० द० ७-३२)

कुरूपता एक दोष है। पर श्यामवर्णता न दोष है और न गुण। इसी प्रसग में ध्वनि पूर्ववर्ती और ध्वनिपरवर्ती सभी आचार्यों ने अनुकरणता के सम्बन्ध में यही माना है कि इसमें सभी दोष गुण बन जाते हैं।

---

१ काव्यप्रकाश—७/५५-५७

२. काव्यानुशासन—३/७

३. अलंकार महोदधि—५/११-१४

४ काव्यप्रकाश—७/१८-२०

५ अलंकार महोदधि—५/६

मम्मट के पश्चात् लगभग सभी आचार्यो ने इस दिशा मे मम्मट का ही अनुकरण किया है।

वस्तुतः दोषो का मूल अनौचित्य है। इसी कारण कोई दोष कही दोष होता है तो कही विशेष परिस्थितियो मे गुण बन जाता है। वस्तुत काव्य की चारुता औचित्य के सन्निवेश से होती है। औचित्य रसापेक्ष होता है। अतः औचित्य का अर्थ रसानुगुणता तथा अनौचित्य का अर्थ रसावनुगुणता होता है। इसी दृष्टि से जो दोष सर्वत्र रसानुगुण होते है वे नित्य दोष हैं, किन्तु जो कही-कही रसानुगुण बन जाते हैं, वे अनित्य दोष हैं।

किन्ही विशेष परिस्थितियो मे दोष जिनके लिये नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुणाभाव शब्द का प्रयोग किया है, दोष न रहकर गुण बन जाते है। काव्य दोष कभी-कभी दोष नही रहते और गुण भी नही होते।[१] उदाहरणार्थ—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्-
क्रोध प्रेरित भीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्ध क्षणाम्।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सुखण्ड परशुर्देवो हरः ख्याप्यते।

समाप्त पुनरारब्धत्व कही न दोष होता है, न गुण जहाँ केवल विश्लेषण मात्र देने के लिये ही समाप्त का दुबारा ग्रहण नही अपितु नया वाक्य ही बनाया जाता है; जैसे 'येनानेन' आदि चतुर्थ चरण में समाप्त अर्थ का पुनरुपादान होने पर भी वह विशेषण मात्र देने के लिये नही अपितु वाक्य के रूप में पुनरुपात्त होने से दोष नही है। इसी के लिये महोदधिकार ने गुणाभाव शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार न्यूनपदता भी कहीं न दोष होता है न गुण। यथा "तिष्ठेत कोपवशात् प्रभावपिहिता' इत्यादि में—पिहिता इसके बाद 'नैतद्यतः' इन (न, एतत् और यतः तीन) न्यून पदो से (जो आवश्यक होने पर भी पढ़े नहीं गये है) कोई विशिष्ट बुद्धि (अर्थात् उक्त वितर्क मे कोई चमत्कार) न करने से गुण नही है। और उसके बाद होने वाली प्रतीति पूर्व प्रतीति को बाधित कर देती है (जो कि कवि को यहाँ अभिप्रेत है) इसलिये (उन पदों की न्यूनता कोई) दोष भी नहीं हैं।

इसी प्रकार नीरस काव्य में भी क्लिष्ट रचना न दोष होती है, न गुण। यथा—

शीर्णघ्राणांहिपाणीन् घृणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्'
दीर्घाघ्रातानघोघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते
दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्।

यह अधम काव्य है। यद्यपि सूर्य के प्रति कवि का भक्ति भाव यहाँ विद्यमान है, तथापि उसकी प्रधानता नही। कवि अनुप्रास साधना में ही तत्पर दृष्टिगोचर होता है। अतएव यह नीरस काव्य है। इसमें कष्टत्व जब मुख्यार्थ का उत्कर्षक या अपकर्षक नही तो न गुण है और न गुणाभाव अर्थात् दोष ही है।

रस दोष भी विभिन्न परिस्थितियों में दोष नही रहते हैं, कभी-कभी वे गुण भी हो जाते हैं। रस दोषों के परिहार सम्बन्धी आचार्य सूरि के विचार भी पूर्णतया मम्मट पर आधारित हैं।

प्रकृत रस के विपरीत सञ्चारीभाव (अनुभाव तथा विभाव) आदि का बाध्यत्व रूप में कथन गुण रूप हो

---

१. न दोषो न गुणः क्वचित्। क्वापि काव्ये पुनरसंस्कारादीनां न दोषत्वं न गुणत्वं। अ० महा० —५/१७ सवृत्ति

जाता है।[१] तथा प्रकृतरस का परिपोषक होता है। यह काव्यप्रकाशकार का अनुवर्तन मात्र है।[२]

उदाहरणार्थ—'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्' इस श्लोक मे प्रत्येक चरण के पूर्वभाग में (विरुद्ध) शान्त रस के व्यभिचारी भाव 'वितर्क' आदि व्यग्य है तथा उत्तरभाग (भूयोऽपि दृश्यते सा इत्यादि) में शृंगार के व्यभिचारी भाव 'औत्सुक्य' आदि व्यग्य हैं। 'औत्सुक्य' आदि के द्वारा पूर्वोक्त 'वितर्क' आदि का बाध हो जाता है तथा शृंगार के सञ्चारी भाव नायिकाविषयक 'चिन्ता' में समस्त भावों की विश्रान्ति हो जाती है, इस प्रकार भावशबलता के पोषक 'वितर्क' आदि गुणरूप हो जाते हैं तथा इससे 'शृगार रस' का ही उत्कर्ष बढ़ता है। इस प्रकार विरुद्ध व्यभिचारी का बाध्यत्व रूप मे ग्रहण दोष नही अपितु प्रकृत रस का परिपोषक होने से गुण हो जाता है। इसी प्रकार साधारण विभाव आदि के ग्रहण मे अदोषता का उदाहरण है—

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितांतं क्षेत्रियरोगं सखि, हृदन्तः॥

यहाँ पाण्डुता आदि (राजयक्ष्मा रूप करुण रसोचित व्याधि मे तथा शृंगाररस) दोनो में समान (रूप से सम्भव हो सकते है) अतः शृंगार रस के योग्य राजयक्ष्माव्याधि के अङ्गरूप में प्रतीत होने वाले पाण्डुता आदि का वर्णन शृंगार के विपरीत नहीं है।

इन्हीं रस दोषो की अदोषता के निरूपण प्रसग में 'ध्वन्यालोककार' ने एक कारिका इस प्रकार लिखी है—

"विनेयानुन्मुखकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति॥"

इस कारिका की व्याख्या करते हुये उन्होंने जो लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि शृंगाररस का अनुभव संसार में प्रत्येक व्यक्ति को अत्यन्त आकर्षकरूप में होता है। इसलिये वह सब रसों में मुख्य या रसराज कहलाता है। इसलिये उसके विरोधी शान्त आदि रसों में भी उसके विभाव आदि अङ्गों का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रयोग के दो प्रयोजन हैं, एक तो शिष्यों को उस शान्त आदि विरोधी रसों के प्रति उन्मुख करना तथा दूसरा काव्य की शोभा। शान्त आदि रसों के वर्णन में शृंगार रस का हल्का-सा पुट दे देने से शक्कर चढ़ी कुनैन की कड़वी गोलियों के समान शान्तरस के उपदेश को भी शिष्य लोग सरलता से ग्रहण कर लेते हैं। इसलिये और उसके सम्पर्क से काव्य में अपूर्व चमत्कार आ जाता है या रमणीयता आ जाती है अतः १ विनेयानुन्मुखीकर्तुम् और 'काव्यशोभार्थमेव वा' उस शृंगार के विभावादिरूप अंगों का 'तद्विरुद्धरसस्पर्शः' इसके विरोधी शान्त आदि रसों का सम्पर्क दोषधायक नहीं होता है। इसी के उदाहरण रूप में ध्वनिकार ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

---

१. विरुद्धस्यापि सञ्चारिप्रमुखस्य क्वचिद् गुणः। बाध्यत्वेनाभिधानं यद् तदत्यन्तमनोहरम्॥ —अ० महो० /५/२१

२. सञ्चार्यादिविरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा। —काव्य प्रकाश ८/६३

इसमे शान्तरस मुख्य है, परन्तु मनोरमाओ की चर्चा करके कवि ने शृगाररस के आलम्बन विभाव रूप अंग का उसमे समावेश कर दिया है, फिर भी इन मनोरमाओ से हृदय मे शृगाररस की अनुभूति नही होती है।

'मताङ्गनापङ्ग' रूप शृगाररस का अनुभव भी शृगार रस की अनुभूति मे समर्थ नही हैं। हाँ, उसमें जीवन की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर ढंग से हो रहा है। इसलिये विषयों से विमुख होने की शिक्षा सरलता से हृदय मे प्रविष्ट हो जाती है। साथ ही कोरी शान्तरस की चर्चा की अपेक्षा शृंगार रस का तनिक सा पुट लग जाने से काव्य मे सौन्दर्य भी आ गया है। अतः यहाँ दोष नही है, यह ध्वनिकार का सिद्धान्त है।

परन्तु काव्य प्रकाशकार एव उनके अनुगामी अलंकार महोदधिकार इससे सहमत नही हैं। ध्वनिकार ने जिन हेतुओ से शान्तरस में शृंगाररस के पुट का समर्थन किया है, उन दोनो को काव्य प्रकाशकार ने अस्वीकार कर उसके तीन प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये हैं।[१]

जिसका सार यह है कि पहिले तो यहाँ शृंगाररस की प्रतीति ही नहीं होती है कि उसके समाधान के लिये अलग नया नियम बनाने की आवश्यकता पड़े और यदि शृगार रस की प्रतीति मानी जाये तो उसका पूर्वार्द्ध में बाध्यत्वेन कथन किया गया है। अतः इस विरोध का परिहार पूर्व नियम से ही हो जाता है। अतः नवीन नियम के प्रयोग की आवश्यकता नहीं।

आचार्य सूरि ने भी ध्वनिकार के मत का खण्डन ही किया है।[२] इसका अभिप्राय यह है कि रसों का परस्पर विरोध तीन प्रकार का होता है— १. किन्हीं का आलम्बन ऐक्य होने से, जैसे वीर और शृंगार का आलम्बन के ऐक्य मे विरोध होता है, २. किन्ही का आश्रय का ऐक्य होने से विरोध होता है, जैसे वीर और भयानक रसों का एक आश्रय में रहना सम्भव न होने से उनका आश्रय ऐक्य में विरोध होता है, और ३. किन्हीं का नैरन्तर्य से वर्णन होने पर विरोध होता है, जैसे शान्त और श्रृंगार का नैरन्तर्येण वर्णन होने से विरोध होता है, यहाँ शान्त और शृंगार रस के विरोध का प्रसंग है,। इन दोनों का विरोध तभी हो सकता है, जब इन दोनों का नैरनतर्य से वर्णन किया जाये। परन्तु यहाँ इन दोनो का नैरन्तर्य से वर्णन नहीं है। इसलिये यहाँ विरोध ही नहीं है, जिसके परिहार के लिये विनेयोन्मुखीकरणरूप युक्ति का आलम्बन किया जाये। ध्वनिकार की दूसरी बात यह कि 'काव्यशोभार्थ' भी विरोधी रस का ग्रहण किया जा सकता है, अतः यह बात भी यहाँ लागू नहीं होती है। इसलिये ध्वनिकार ने इस श्लोक के शान्त तथा शृंगार रस के विरोध के परिहार के लिये जो यत्न किया है, वह सब बिलकुल व्यर्थ है यही ग्रन्थकार का मंतव्य है।

इस प्रकार यहाँ तक विरोधी रस, विभाव, अनुभाव तथ सञ्चारीभाव रूप अंगों का किसी रस के साथ वर्णन किये जा सकने के विषय में यह नियम स्थिर किया था कि विरोधी रस के अंगों का बाध्यतया वर्णन

---

१. इत्याद्यमर्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम्। जीवितादि अधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति न पुनः शृंगारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः। न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्तशृंगारयोर्नैरन्तर्यस्याभावात्। नापि काव्यशोभाकरणम्, रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात्। का० प्र० पृ० ३७०-३७१।

२. अत्राद्यमर्द्धं बाध्यत्वेनैवोक्तं द्वितीयं तु प्रसिद्धास्थिरत्वापाङ्गभङ्गोपमानेनापि जीवितस्यास्थिरत्वं प्रतिपादयद् बाधकत्वेनोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति ; न पुनः शृंगारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गानामप्रतिपत्तेः। —अलंकार महोदधि पृ० १८३

दोषबाधक ही नही अपितु गुणावह हो जाता है। उन रसो के विरोधपरिहार का दूसरा प्रकार अगली कारिका में दिखाते हैं।

यहाँ पर मम्मटादि ने ध्वनिकार[१] के मत का अनुसरण किया है। मम्मट ने ध्वनिकार के आधार पर लिखा है[२] कि 'जो रस आश्रय से ऐक्य मे विरोधी है, उसको भिन्न आश्रय में वर्णित कर देना चाहिये तथा जो नैरन्तर्य के कारण विरुद्ध है, उसको अन्य अविरोधी रस से व्यवहित कर देना चाहियें। ऐसा होने पर रसविरोध का परिहार हो जाता है। यही कथन महोदधिकार का भी है।[३] जैसे-वीर और भय का एक आश्रय में विरोध है, अतः भयानक रस का प्रतिनायक मे वर्णन करना चाहिये। जैसे—

> *"समुत्थिते भयावहे धनुर्ध्वनौ किरीटिनः।*
> *महानुपप्लवोऽभवत् पुरे पुरन्दरद्विषाम्॥*

शान्त तथा शृंगार का नैरन्तर्येण विरोध है। जैसे नागानन्द नाटक में शान्तरस प्रधान जीमूतवाहन का मलयवती के प्रति अनुराग वर्णन 'अहो गीतं अहो वादित्रम्' इत्यादि से अद्भुत रस का सन्निवेश कर रसविरोध का परिहार किया गया है।

केवल प्रबन्धकाव्य में ही नही, अपितु एक वाक्य में भी रसान्तर का व्यवधान करने से रसविरोध समाप्त हो जाता है।

विरोधी रसों के विरोधपरिहार के तीन और मार्ग आचार्य मम्मट ने बताये।[४] इनमें से पहला मार्ग यह है कि यदि विरोधी रस का स्मर्यमाणरूप मे वर्णन किया जाये तो उसमें दोष नहीं होता है। दूसरा मार्ग दोनों की साम्य से विवक्षा हो। साम्य से दो विरोधी रसों के वर्णन में दोष नही होता है। और तीसरा मार्ग यह है कि यदि दोनों विरोधी रस किसी प्रधान रस के अङ्गरूप में एकत्र वर्णित हो, तो उनमें भी परस्पर विरोध नहीं रहता है।

यहाँ पर भी आचार्य सूरि ने मम्मट का ही अनुसरण किया है।[५] उदाहरण भी काव्यप्रकाशोक्त ही दिये हैं।

उदाहरणार्थ—स्मर्यमाण विरोधी रस का अवरोध—

> *'अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तन विमर्दनः।*
> *नाभ्यूरू-जघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥*

---

१. रसान्तरान्तरितयोरेक वाक्यस्थयोरपि।
निवर्तते ही रसयोः समावेशे विरोधिता।

२. आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्न संश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः॥ —का० प्र० ६/६४

३. भिन्नाश्रयत्वं कर्त्तव्यमाश्रयैक्ये विरुद्धयोः।
नैरन्तर्ये तु रसयोरन्तः कार्यं रसान्तरम्॥ —अ० महो० ५/२२

४. स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्॥ —का० प्र० ८/६५

५. विरुद्धोऽपि स्मृतिं प्राप्तो वक्तुं साम्येन वा मतः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमायातौ न विरुद्धौ रसौ मिथः। —अ० महो० ५/२३

यहाँ शृगार करुणरस का उद्दीपन कर रहा है, अत: दोष नही है। युद्धभूमि मे पडे हुये भूरिश्रवा के हाथ को देखकर विलाप करती हुयी उसकी पत्नी का कारुणिक रुदन है, विगत काल के स्मर्यमाण शृगार के अग भी करुण रस के उद्दीपन करने वाले होते है।

साम्यविवक्षा मे विरोधी रसो का अविरोध—

दन्तक्षतानि करैजैश्च विपाटितानि
प्रोद्भिन्नसान्द्र पुलके भवतः शरीरे।
दन्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि॥

इस श्लोक में साम्य की विवक्षा के कारण शान्त या वीभत्स रस के शृंगार के अनुभावों का वर्णन दोषयुक्त नही है।

इसी प्रकार मम्मट के ही अनुसार प्रधानभूत तृतीय रस के अगभूत रसों का विरोध दर्शाया गया है। विरोधी रसों मे से कोई प्रधान रस नही होता है अपितु दो प्रधानभूत रस किसी तीसरे रस के अंगरूप में वर्णित होते हैं। इसका उदाहरण भी काव्यप्रकाश से लिया गया है।

इन रसों के सम्बन्ध मे एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि गुण अर्थात् अप्रधान या अंगभूत रस सुसंस्कृत होकर या पुष्ट होकर प्रधानता प्राप्त करता है और अंगीरस के सस्कारपरिपाक में सहायक भी होता है—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि यथा भूयसि वर्तते॥

□□□

षष्ठ अध्याय

काव्यगुण-विवेचन

काव्यगुणों का विवेचन

भारतीय काव्यशास्त्र मे गुण तथा अलंकार का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य शरीर की चर्चा करते हुये विद्वानो ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर रस को काव्य की आत्मा माधुर्यादि गुणो का रस रूप आत्मतत्व के अपृथक् सिद्ध धर्म श्रुतिदुष्टादि दोषो को रस के सौन्दर्यापकर्षक तथा उपमादि अलकारो को शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्धक तत्व माना है।

काव्यगुणो पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सर्वप्रथम विचार भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरत ने दस काव्यगुणो का वर्णन किया है, दस काव्यदोषो के वर्णनोपरान्त भरत ने उनके विपर्यय को गुण कहा हैं।[1]

आचार्य मम्मट ने काव्य लक्षण प्रस्तुत करते हुये गुण को उसका अनिवार्य तत्व सिद्ध किया है।[2] गुण को वे रस का धर्म तथा उसमे उसकी अचल स्थिति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार गुण रस के धर्म तथा उसके उत्कर्ष के कारण सिद्ध होते हैं। शरीर स्थित आत्मा के शौर्यादि धर्म जिस प्रकार आत्मा के साथ एकाकार होकर शाश्वत रहते हैं तथा आत्मा के शोभावर्द्धक होते हैं उसी प्रकार काव्य के माधुर्यादि गुण रस के साथ नित्य सम्बद्ध होकर काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं।[3]

इस प्रकार मम्मट के अनुसार रसोत्कर्ष तथा रसनिष्ठत्व गुणो का धर्म है। रस काव्य का आत्मतत्व है तथा आत्मतत्व को गौरव प्रदान करने के कारण इनका महत्व स्वयं-सिद्ध है।[4]

मम्मट के विवेचन में वामन तथा आनन्दवर्धन के विचारों की झलक मिलती है। मम्मट ने वामन के अनुसार गुणों को काव्य का नित्य धर्म माना है। वामन गुणों को काव्य का शोभाकारक धर्म स्वीकार कर उसे उसका नित्यधर्म कहते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में गुण के स्वतंत्र अस्तित्व को अमान्य ठहरा कर उसे रसाश्रित सिद्ध किया। उनके अनुसार प्रधानभूत रस के आश्रित रहने को गुण कहते हैं। मम्मट ने आनन्दवर्धन के

---

१. अतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः। —नाट्यशास्त्र ७/९५
२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुन. क्वापि—काव्य प्रकाश
३. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय· इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ —काव्यप्रकाश ८/६६
४. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा:गुण ३ ॥ ११ । —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
पूर्वे गुणाः नित्याः तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते —वही, ३ ॥११ । वृत्ति

मतानुसार गुणो की रसधर्मता को भी स्वीकार किया।

परवर्ती आचार्यों ने गुणो को रस का धर्म एव उसका उपकारक माना।[१]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट से प्रभावित होते हुए कहा—रस का उत्कर्ष करने वाले कारण गुण है। ये गुण उपचार से शब्द और अर्थ के भी उत्कर्षाधायक होते है।[२]

उपचार से वीभत्स आदि रसो मे कष्टात्वादि दोष गुण न हो सकेगे। इसी प्रकार हास्य आदि रसो मे अश्लीलत्व आदि दोष गुण न हो सकेंगे, क्योकि गुणो का आश्रय रस ही है।[३]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारो का अनुकरण करते हुये भी उसमें से उत्कृष्ट तत्वो का समावेश करके गुण का स्वरूप प्रस्तुत किया—जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार जो रस के आश्रित हैं, स्वाभाविक है, नित्य हैं तथा काव्य में वैचित्र्य के जनक हैं, वे गुण हैं।[४] इसी को और स्पष्ट करते हुये लिखा है कि जिस प्रकार प्राणी के शौर्य, स्थैर्य आदि गुण आत्मा के ही आश्रित रहते हैं आकार मे नही, (अर्थात् शरीर रूप आकार में) उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस रूप आत्मतत्व के ही आश्रित रहते हैं। ये गुण रस के ही धर्म हैं, वर्ण समूह के नही। यही अलंकारों से गुणो का भेद है। क्योकि गुणो के अभाव मे अलकारो से युक्त रचना भी काव्य न हो सकेगी।[५]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि गुणो का स्वरूप प्रदर्शन करने के बाद आचार्य मम्मट की ही भाँति गुण और अलंकार का भेद निरूपित करते हैं। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी गुण को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं तथा अलंकार को अनित्य धर्म मानते हैं।[६]

इस विषय में आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के विचार मम्मट के ही समान गम्भीर तथा प्रौढ़ हैं।

अलंकारों का स्वरूप गुणो से नितान्त भिन्न है। रस के उपकारक तो वे भी हैं परन्तु साक्षात् नहीं परम्परया उपकारक हैं। इसके पश्चात् आचार्य मम्मट की ही भाँति अलंकार के गुणभेदक तीन लक्षण दिखाये हैं जिनका क्रमशः उदाहरण सहित आचार्य सूरि वर्णन करते हैं।

"अपसारय घनसारं कुरु हार दूर एव किंकमलैः।
अलमलमालि। मृणालैरिति वदति दिवानिशंबाला॥

---

१. तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणा. स्मृताः । —ध्वन्यालोक, २/६
२. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः। —१/१२ काव्यानुशान
३. यदि हि तयोः (शब्दार्थयोः) स्युस्तर्हि बीभत्सादौ कष्टत्वादयोः।
गुणाः न भवेयुः, हास्यादौ चाश्लीलत्वादय.।—रस स्वाश्रयः—काव्यानुशासन १/१२ वृत्ति।
४. शौर्यादय इवात्मानं रसमेव श्रयन्ति ये।
गुणास्ते सहजाः काव्ये नित्यवैचित्र्यकारिणः॥ —६। १। अलंकार महोदधि
५. अलंकार महोदधि—६/१ वृत्ति।
६. श्रयन्तोऽपि रसं सन्तं जातु तेभ्यो विपर्ययम्।
ये तु विभ्रत्यलङ्कारस्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —६/२ अलंकार महोदधि

यहाँ रेफ की आवृत्ति के कारण अनुप्रास रूप शब्दालङ्कार काव्य मे विद्यमान विप्रलम्भ शृगार रूप अङ्गी रस का उत्कर्षाधायक होता है।

आगे अर्थालकार द्वारा रस के उत्कर्षाधान का उदाहरण देते है

"मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव।
हिनस्ति प्रत्यङ्‌ग ज्वर इव बलीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती।।

यहाँ मालोपमा रूप अर्थालङ्कार काव्य मे विद्यमान विप्रलम्भ शृगार रूप अङ्गी रस का उपकारक है।

इसके विपरीत कही रस होने पर भी शब्दालंकार इसका उपकारक नही होता है। इसका उदाहरण देते हैं—

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गणेसुं।
सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिन्मुहेसुं।
बोलम्भि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे
झाणे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी।।[1]

यहाँ वर्णों की आवृत्ति होने से अनुप्रास रूप शब्दालङ्कार है। परन्तु विप्रलम्भ शृंगार में टवर्ग का प्रयोग रस का उत्कर्षाधायक न होकर अपकर्षक होता है। अतः यहाँ रस तथा अलकार दोनों होने पर भी अलंकार उस रस का उत्कर्षाधायक नही है।

"मित्रे क्वापि गते" इत्यादि मे 'अर्गलेव' यह उपमा अलकार केवल अर्थ का ही उत्कर्ष है, विप्रलम्भ शृंगार रूपी रस का नहीं; क्योकि ऐसी विरहावस्था में बिसलता को प्राणों के निरोध के लिये गले में रखना उचित नही था। क्योकि विरह मे तो विरही जन प्राणों का निकालना चाहता है, रोकना नही। इसलिये यह उपमा प्रकृत रस के प्रतिकूल है 'न जीवं रोद्धुं क्षमा' की टीकाकारों ने विविध व्याख्यायें की हैं। किन्तु 'बालबोधिनी सम्मत उपर्युक्त अर्थ ही उचित होने के कारण आचार्य मम्मट को भी मान्य है, परन्तु आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि को यह अर्थ मान्य नही। आचार्य सूरि कहते हैं कि बिसलता जीवन के अति सूक्ष्म होने से उसको रोक पाने में असमर्थ है, इसी कारण यह उपमा प्रकृत रस के अनुकूल नहीं है। परन्तु बालबोधिनी सम्मत अर्थ जो कि आचार्यवर मम्मट को भी मान्य है अधिक युक्तियुक्त है, क्योकि विरहावस्था मे कोई प्राणों को रोकना नही चाहेगा। अपितु प्राण परित्याग की ही इच्छा स्वाभाविक रूप से होती है। अतः उपमा अलंकार रस का उपकारक नहीं है।

रस के अभाव में भी उक्ति वैचित्र्यमात्र के प्रायोजक अलंकारों की स्थिति काव्य में हो सकती है, इस प्रकार के अलंकारों का उदाहरण आचार्य प्रथम तरङ्ग में ही दे चुके हैं।

---

१. चित्ते विघटते न त्रुट्यति सा गणेषु
शय्यासु लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबन्धे
ध्याने न त्रुट्यति चिरं तरुणी प्रगल्भा॥ इति संस्कृतं

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकार ने आचार्य मम्मट के मतानुसार ही गुणो तथा अलकारो का भेद निरूपण किया। पुनः मम्मट की ही भॉति भट्टोद्‌भट की इस मान्यता का भी खण्डन करते है कि गुण और अलकारो मे कोई भेद नही है।

इसके पश्चात् आचार्य मम्मट ने जिस प्रकार रीतिवादी आचार्य वामन सम्मत गुणालंकार भेद विवेचन को दोषपूर्ण बताकर तथा आनन्दवर्धन के मत का अनुसरण करके गुण और अलकार का भेद निरूपित किया, बिल्कुल इसी तरह से ग्रन्थकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट का ही अनुपालन करते हुये आचार्य वामन के मत का खण्डन कर आचार्य मम्मट के मत को मान्यता प्रदान करते है।

वामन के मतानुसार गुण तथा अलकारो का भेद यह है कि काव्य के शोभाजनक धर्मों को गुण कहते है। तथा उस शोभा के वृद्धिकारक हेतुओं को अलकार कहते है।[१]

आचार्य मम्मट इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि काव्य के शोभाजनक गुण होते हैं, इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं— एक तो यह कि समस्त गुणों के होने से ही रचना काव्य पद की अधिकारिणी होती है। दूसरा यह कि कतिपय गुणों के होने से भी किसी रचना को काव्य कहा जा सकता है। यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार करे तो गौड़ी तथा पाञ्चाली रीति को आप काव्य की आत्मा कैसे मानेगे। भाव यह है कि वामन के मतानुसार रीति ही काव्य की आत्मा है।[२]

गुण विशिष्ट पद रचना का नाम ही रीति है। यह तीन प्रकार की है—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। वैदर्भी रीति समस्त गुण विशिष्ट होती है। इसलिये प्रथम विकल्प के अनुसार तो वह काव्य की आत्मा हो सकेगी; किन्तु गौड़ी तथा पाञ्चाली समस्त गुण विशिष्ट नही होती है, अतः उनको काव्य की आत्मा कैसे माना जा सकेगा। यदि द्वितीय विकल्प स्वीकार करे तो जिस काव्य रचना में कोई एक भी गुण होगा तो वह भी काव्य कहलाने लगेगी। इस प्रकार "अद्रावत्र प्रज्वलित्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः" यह वाक्य भी काव्य हो जायेगा। क्योंकि इसमे भी वामनोक्त ओज इत्यादि गुण विद्यमान है। मम्मट के मतानुसार तो काव्य के लिये अलकारों की भी अपेक्षा है। अतः अलंकार के अभाव मे इसे काव्य नही कहा जा सकेगा। किन्तु अग्रिम उदाहरण में गुणों की अपेक्षा के बिना ही अलंकार के कारण काव्य व्यवहार हो जाता है—

स्वर्ग प्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्यारदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्॥

उपरोक्त श्लोक में पूर्वार्ध मे विशेषोक्ति तथा उत्तरार्ध में व्यतिरेक नामक अलंकार गुणों की अपेक्षा किये बिना ही काव्य व्यवहार के प्रवर्तक हैं। वामन के मतानुसार अलंकार गुणजनित शोभा का वर्धन करने वाले होते हैं। पर यहाँ तो गुणजनित शोभा का अभाव है, अतएव अलंकार का लक्षण यहाँ घटित नहीं होता है।

---

१. 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः।
तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः। —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३/१/१-२

२. रीतिरात्मा काव्यस्य —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति

गुणविषयक, आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के विचार मम्मट के ही समान गम्भीर तथा प्रौढ है। जैनाचार्य हेमचन्द्र भी ध्वनि प्रस्थान के आचार्यो के अनुयायी है। स्पष्टत: हेमचन्द्राचार्य ने भी मम्मट की ही चिन्तन पद्धति का अनुगमन किया है। ध्वनि प्रस्थान के सभी आचार्यो ने काव्य मे गुणो का स्थान महत्वपूर्ण माना है। आचार्य हेमचन्द्र भी गुण और अलकार मे गुण को अधिक महत्व प्रदान करते है। काव्य की परिभाषा मे मम्मट के ही काव्यलक्षण को शब्द भेद से उपस्थापित कर हेमचन्द्र ने यह स्पष्ट किया है कि कही-कही अलकार रहित शब्दार्थ भी गुण हो सकते है, किन्तु काव्यत्व के लिये शब्दार्थ का दोषमुक्त एव गुणयुक्त होना आवश्यक है।[१]

इसे स्पष्ट करते हुये काव्यानुशासन व्याख्या मे उन्होने कहा कि काव्य मे गुण की स्थिति अनिवार्य मानी जाती है, क्योकि गुण की सत्ता रहने पर अलकार के अभाव मे भी काव्य रोचक होता है, किन्तु अलकार के सद्‌भाव मे भी गुण के न रहने पर काव्य सुन्दर नही होता।[२]

काव्य मे गुण और अलकार की स्थिति के सम्बन्ध मे अपनी मान्यता को और भी स्पष्ट करते हुये लिखा है कि अलकार के त्याग और ग्रहण पर वाक्य का अपकर्ष और उत्कर्ष निर्भर नही है।[३] अलंकार के न रहने पर भी काव्य मे उत्कर्ष रह सकता है और उसके रहने पर भी काव्य मे सौन्दर्य का अभाव सम्भव है। किन्तु काव्य मे गुण त्याग ग्रहण का प्रश्न ही नही उठता है।[४]

गुण काव्य का आवश्यक लक्षण है। उसके अभाव मे काव्यत्व ही सम्भव नही। काव्य मे गुण की अनिवार्य स्थिति है और अलकार उसका अनित्य धर्म है। यही हेमचन्द्र के गुण सम्बन्धी मान्यताओ का सार है।

हेमचन्द्र ने वामन के गुणालकार विषयक सिद्धान्तों का मम्मट की ही पद्धति पर खण्डन किया है।

इस प्रकार गुणालकार विवेक के पश्चात् गुणो की संख्या पर विद्वानो ने प्रकाश डाला। गुणों की संख्या विवादपूर्ण रही है, विशेषत: प्राचीन आचार्यो के यहाँ गुणों की सख्या निरन्तर घटती-बढ़ती रही। परन्तु आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट से प्रेरित हो तीन गुणो को ही मान्यता प्रदान करते हैं।[५] और आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य, भामह और आनन्दवर्धन से प्रेरणा ग्रहण कर वामन निर्दिष्ट दस शब्द गुणों और दस अर्थ गुणों का माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों मे समाहार किया।[६]

आचार्य मम्मट ने वामन द्वारा वर्णित बीस गुणों में से कतिपय का समावेश माधुर्यादि तीन गुणो में किया

---

१ 'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्'।
वृत्ति चकारो निरलंकारयोरपि शब्दार्थयो क्वचित्काव्यत्व ख्यापनार्थ।—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन १ पृ० १९

२ अनेन काव्ये गुणानामवश्यम्भावमाह-तथा हि अनलंकृतमपिगुणबहुलं (बहव,) स्वदते। यथोदाहरिष्यमाणं 'शून्यं वासगृहम्-' इत्यादि अलंकृतमपि निर्गुण न स्वदते। —काव्यानुशासन व्याख्या १ पृ० १९

३ न चालंकृतीनामपोद्धाराहारभ्यां वाक्य दुष्यति पुष्यति वा —वही व्याख्या, पृ० २०

४. गुणानामपोद्धाराहारौ तु न सम्भवत इति—वही पृ० २०

५ गुणांश्चान्ये जगुः शब्दगतान् दश दशार्थगान्।
माधुर्योजः प्रसादास्तु सम्मतास्त्रय एव नः॥ —अलंकार महोदधि—६-३

६. माधुर्योजप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश —का० प्र० ८/६८

है, वे कुछ को दोषाभाव मात्र कहते हैं और कुछ को दोषमात्र। अत गुण दस या बीस न होकर केवल तीन है।[१]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी केवल तीन गुणो का उल्लेख किया है—माधुर्य, ओज और प्रसाद।[२] इन्होने वामन सम्मत दस गुणो का स्वोपज्ञ विवेक टीका मे विस्तारपूर्वक खण्डन किया है।[३] तथा किन्ही अज्ञातनामा आचार्य सम्मत ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य नामक पॉच गुणो का भी खण्डन किया है।[४]

वामन के दस शब्द गुणो मे से श्लेष, समाधि उदारता और प्रसाद ये चार गुण मम्मट ने ओज गुण के अन्तर्गत कर लिये। माधुर्य गुण आचार्य मम्मट ने भी उसी नाम से माना है। अर्थव्यक्ति रूप गुण मम्मट ने अपने प्रसाद गुण के अन्तर्गत मान लिया है। समता गुण कही दोषरूप हो जाता है अत. गुण नही है। सौकुमार्य और कान्तिगुण कष्टत्व तथा ग्राम्यत्व दोष का परिहाररूप होने से गुण नही माने जा सकते हैं।

वामनोक्त दस अर्थगुणो की स्थिति भी यही है। इनमें से कुछ का अन्तर्भाव माधुर्योजादि तीन गुणों में होता है। कुछ दोषमात्र है और कुछ दोषाभाव मात्र है।

निष्कर्ष यह है कि वामनोक्त दस अर्थगुण और जो दस शब्द गुण है, उन्हे अलग नही मानना चाहिये।[५]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी मम्मट और हेमचन्द्रादि सम्मत माधुर्यादि तीन गुणों की स्थापना कर वामनोक्त शेष गुणो का अन्तर्भाव माधुर्यादि गुणो मे ही कर दिया।

उनका कहना है कि वामन ने जो समासरहित पदोवाली रचना को माधुर्य गुण कहा है, वह अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवताऽत्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।" इत्यादि पद्य मे विद्यमान है। पुनः उसे, अर्थश्लेष का उदाहरण प्रस्तुत कर अर्थश्लेष को अलग से गुण मानना ठीक नहीं है।[६] इसी प्रकार रचना की अकठोरता रूप शब्दसौकुमार्य कोमलकान्त पदावली रूप अर्थ सौकुमार्य, अर्थ का दर्शन रूप अर्थ समाधि और घटना का श्लेषरूप अर्थ श्लेष नामक जो गुण है, इनका जो जो हमें माधुर्य गुण का स्वरूप अभीष्ट है उसमें अन्तर्भाव हो जाता है।[७] अतः उक्त गुणो को पृथक् मानना उचित नही है।

रचना की गाढ़ता ओज नामक शब्दगुण अर्थ की प्रौढ़ि ओज नामक अर्थ गुण, अनेक पदों का एक पद

---

१. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥ —का० प्र० ८/७२

२. 'माधुर्योजः प्रसादाख्यो गुणाः —काव्यानुशासन, ४/१।

३. काव्यानुशासन —४/१। विवेक टीका।

४ वही,

५. तेन नार्थगुणा वाच्याः प्रोक्ताः शब्द गुणाश्च ये —का० प्र० ८

६. यतः पृथक् पदन्यासमूर्ति माधुर्यमत्र यत्।
क्रोधाद्यव्यप्यतीव्रत्वरूपं यच्चैतदिष्यते॥ —६/४ अलंकार महोदधि

७. बन्धस्याजरठत्वं यत् सौकुमार्यमिति स्मृतम्।
यच्च वाचामपारुष्यं सौकुमार्यमुदीर्यते॥ ५॥
यः कश्चिदर्थदृष्ट्याऽत्मा समाधिरभिधीयते।
अर्थस्य घटनारूपो यश्च श्लेषः प्रकीर्तितः॥ ६॥ —अलंकार महोदधि ६/५-६

के समान दिखाई देना शब्द श्लेष, आरोह और अवरोह का क्रम शब्दसमाधि, बन्ध की विकटता उदारता नामक शब्दगुण, बन्ध की उज्ज्वलता कान्ति नामक शब्द गुण और रचना मे रसो की दीप्ति कान्ति नामक अर्थगुण कहलाता है।[1] इन गुणो के मूल मे चित्त के विस्तार रूप दीप्ति विद्यमान है, जो ओजोगुण का स्वरूप है अत. इनका अन्तर्भाव ओजोगुण मे हो जायेगा।

ओजोगुण मिश्रित रचना की शिथिलता प्रसाद नामक शब्द गुण, अर्थ स्पष्टता प्रसाद नामक अर्थगुण शीघ्र ही अर्थ का बोध कराने वाली रचना अर्थ अभिव्यक्ति नामक शब्द गुण और जो रचना वस्तु के स्वभाव को स्पष्ट रूप से विवेचन कराये वह अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण कहलाता है। इनका अन्तर्भाव शीघ्र ही अर्थ प्रकाशन रूप लक्षण वाले प्रसादगुण मे हो जाता है।[2]

काव्य में निबद्ध रचना शैली का अत तक परित्याग न करना समता नामक शब्द गुण, प्रक्रम का अभेद रूप अविषमता नामक अर्थगुण और रचना मे ग्राम्यता का अभाव उदारता नामक अर्थगुण कहलाता है। समता और उदारता ये दोनो क्रमशः भग्नक्रम और ग्राम्यदोष का अभाव मात्र हैं।[3]

इस प्रकार वामन ने जो दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण माने हैं वे ठीक नही हैं। उनका माधुर्य ओज और प्रसाद नामक तीन गुणो में अन्तर्भाव हो जाता है।

इसके पश्चात् आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्वसम्मत माधुर्यादि तीनों गुणों का सोदाहरण विवेचन किया है यहाँ पर भी आचार्य मम्मट और आचार्य हेमचन्द्र का अनुगमन करते हुये ही अपने विचारों को प्रस्तुत किया है।

मम्मटादि आचार्यों की गुण विषयक चिन्तन पद्धति आनन्दवर्धन पर ही आश्रित है। आनन्दवर्धन के अनुसार माधुर्य शृंगार रस का गुण है। शृंगार अन्य रसो की अपेक्षा चिन्तन में अधिक आह्लाद की सृष्टि करता है, अतः वह मधुर माना गया है। माधुर्य वस्तुतः शृंगार रस का गुण होने पर भी उपचार से उस रस के व्यंजक शब्द एवं

---

१. बन्धगाढ़त्वमोजो यदर्थप्रौढिमयं च यत्।
श्लेषो यश्चैकवद्भाव· पदानां भूयसामपि।
समाधिर्योऽयमारोहावरोह क्रमलक्षणः॥
या च प्रकटिताबन्धविकटत्वमुदारता।
बन्धौज्ज्वल्यं च या कान्तिः प्रदीप्तरसताच याः।
पुरोऽभिधास्यमानस्य परिस्पन्दोऽयमौजस. —अलंकार महोदधि ६-७-९

२ ओजमिश्रश्लथत्वात्माः यः प्रसाद इति स्मृतः।
यश्चायमर्थवैमल्यवपुषा विदुषां मत.॥
या झगित्यसंवित्तिरर्थव्यक्तिरुदाहृता।
वस्तुस्वभावस्फुटतारूपा या चेयमुच्यते॥
तेऽस्मत्प्रसादप्रसादाकक्षालक्ष्मीविडम्बिनः॥ —६/१०-१२ अलंकार महोदधि

३. या तु मार्गपरित्यागस्वरूपा समता मता।
या च सा प्रक्रमाभेदरूपा वैषम्य विग्रहा॥ १३
अग्राम्यत्वशरीरा च या काऽपि स्यादुदारता।
ता भग्नप्रक्रम ग्राम्यदोषत्यागक्रियात्मिकाः॥ —६/१३/१४ अलंकार महोदधि

अर्थ का धर्म माना जाता है।[१]

आचार्य सूरि भी पहले माधुर्य गुण का स्वरूप वर्णित करते है। इन्होंने भी चित की वृत्ति के आधार पर ही उसके स्वरूप का निर्धारण किया है।

आचार्य के अनुसार सभी को आनन्दित करने वाला गुण माधुर्य नामक गुण है तथा चित्र की द्रुति का हेतु है।[२]

शृगार के अड्गभूत हास्य और अद्‌भुत आदि रसो मे भी माधुर्य गुण होता है। यह शान्त, विप्रलम्भ और करुण मे अत्यन्त द्रुति का कारण होने से चमत्कारोत्पादक होता है।[३]

माधुर्य गुण शान्त, विप्रलम्भ शृगार एव करुण रस मे उत्तरोत्तर प्रकर्षावस्था मे रहा करता है। चित्त की द्रुति की मात्रा के आधार पर इन रसो मे माधुर्य गुण के प्रकर्ण का निर्धारण हुआ है।

माधुर्य गुण के स्वरूप निर्धारण मे आचार्य मम्मट और हेमचन्द्राचार्य से सहमत होने पर भी आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने रसों में उसकी स्थिति के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार अभिव्यक्त किये हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार माधुर्य गुण सयोग, शृगार, करुण, विप्रलम्भ एव शान्तरसो में उत्तरोत्तर प्रकर्ष अवस्था में रहता है।[४]

आचार्य हेमचन्द्र ने शान्त की अपेक्षा करुण में और करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार में अधिक चित्त की द्रुति मानी है।[५]

इसमे अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त टवर्ग रहित, ह्रस्व रकार और णकार से युक्त समास रहित अथवा अल्प समास वाली और मृदु रचना माधुर्य गुण की व्यञ्जक होती है।[६]

मम्मट के अनुसार वर्ण समूह, समास एवं रचनायें गुणों की व्यजक हैं।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि यहाँ पर भी पूर्णतया आचार्य मम्मट का ही अनुसरण करते हैं।

माधुर्यता व्यंजक रचना के विषय में आचार्य नरेन्द्रसूरि कहते हैं सहज प्रतिभा से उद्‌भूत शब्द और अर्थ की चारुता वाली रचना और ऐसे अलंकारों से युक्त जिनकी क्लिष्ट कल्पना न हो, जो सहृदय चमत्कारी रचना हो तथा पदार्थों के स्वाभाविक परिस्पन्दन विशेष से (न्यकृत) कृत्रिम कवि कौशल वाली रचना और रसनिष्यन्द

---

१ शृंगार एव मधुरः पर. प्रह्लादनो रसः
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतिष्ठति॥ —ध्वन्यालोक २, ३० पृ० ११६

२. सर्वप्रह्लादि माधुर्यं चेतसो द्रुतिकारणम्।
मूलायतनमेतस्य श्रृंगारः स्मरजीवितम्॥ —६/१५ अलंकार महोदधि

३. शान्ते सातिशयं विप्रलम्भे च करुणे च तत्। (६/१५ कृति) अलंकार महोदधि

४. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् —८/६८ काव्य प्रकाश

५. शान्तकरुणविप्रलम्भेषु सातिशयम्—४-३ काव्यानुशासन।

६. तत्र वर्गा निजैरन्त्यैराक्रान्तशिरसः स्मृताः।१६
टवर्गपरिहारश्च ह्रस्वव्यवहितौ रणौ।
असमासः पदन्यासः समासाल्पकानथ॥१७॥ —अलंकार महोदधि—६

रूपी पीयूषोल्लास से तरगित और काव्य रहस्य के मर्मज्ञ सहृदयो के मन रूपी नर्तन के लिये रगभूमि स्वरूप रचना और अविज्ञात पद पदार्थ विभाग वाली रचना अर्थात् अखण्ड बुद्धि से आस्वादनीय रचना माधुर्य गुण व्यजक होगी।[१] इस प्रकार माधुर्यगुण का स्वरूप बताकर आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ओज गुण का स्वरूप, ओज गुण व्यञ्जक वर्ण ओज गुण से युक्त रचना का वर्णन करते हैं। दीप्ति रूप चित्त के विस्तार का कारण ही ओजगुण है, उसकी स्थिति वीर रस मे होती है, क्रमश वीभत्स तथा रौद्र रस मे उसकी अधिकता होती है।[२]

चित्त की विशिष्ट वृत्ति का नाम दीप्ति है। इस दीप्ति का हेतु तथा रस का जो धर्म है उसका नाम ओज है।

वीर की अपेक्षा वीभत्स तथा रौद्र मे ओज की अधिकता होती है। क्योकि "वीर मे तो द्वेष्टा के प्रति जीतने की इच्छा मात्र होती है,वीभत्स मे प्रबल त्याग की इच्छा होती है और रौद्र में अपकारी के वध की इच्छा होने लगती है।इस प्रकार क्रमश चित्त की दीप्ति अथवा प्रज्ज्वलन अधिक ही होता जाता है। अतः उत्तरोत्तर ओज की अधिकता मानी जाती है।"

वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों का क्रमशः द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के साथ योग, नीचे ऊपर अथवा दोनो जगह किसी भी वर्ण के साथ रेफ का संयोग, समान वर्णों का संयोग, णकार रहित टवर्ग (ट ठ ड ढ) श, ष का सयोग और दीर्घ समास वाली कठोर रचना ओजो गुण की व्यञ्जक है।[३]

विराश्र कवि की प्रतिभा से उत्पन्न वाच्यार्थ के वैचित्र्य अर्थात् अभिधेय प्रागल्भ्य से चुम्बित रचना और उल्लसित होती हुयी नूतन कांति के विच्छित तरंगों से तरंगित रचना और पूर्व कवि द्वारा कथित काव्यार्थ का भी नूतन रूप से उपस्थापन करती हुयी और सहृदयों के मन में उत्साहयुक्त प्रीति का विस्तार करती हुयी और स्वाभाविक तथा सहज औद्धत्यपूर्ण पदबध वाली रचना ओजगुणयुक्त होगी।[४]

---

१. सहजप्रतिभोन्मीलद्वाच्य-वाचक चारिमा।
अक्लेशकल्पितस्वल्पतद्विदाह्लादिभूषणा॥ १८॥
भाव स्वाभाविकौदार्यतर्जिताहार्यकौशला।
अमन्दरसनिःस्यन्दसुधोद्गारतरङ्गिता॥१९॥
कविकर्मैकमर्मज्ञमनस्ताण्डवनाट्यभूः।
अलक्ष्यावयवा तस्मिन् रचना काचिदीदृशी॥२०॥ —अलंकार महोदधि ६॥

२. दीप्तित्वेनात्म विस्तारहेतुरोजो निगद्यते।
वीरो नाम रसस्तस्य केलिचक्रममकुट्टिमम्॥२॥
आधिक्यं तस्य पूर्वस्मात्-क्रमाद् वीभत्स-रौद्रयोः। अलकार महोदधि ६/२१-२२

३. तत्र योगस्तदाद्याभ्यां स्याद् द्वितीय-चतुर्थयोः।
यस्य कस्यापि रेफेण मिथश्च सदृशोयुतिः।
कार्यौ श-षौ टवर्गश्च तथा दीर्घसमासता। (२२-२३) (अलंकार महोदधि ६/२२-२३)

४. परस्परं परिस्यूतपदप्रौढिमबन्धुरः।
व्युत्पन्नप्रतिभोत्पन्नवाच्यवैचित्र्यचुम्बितः॥२४॥
उल्लसन्नवलावण्यभङ्गिकल्लोललालितः।
सूत्रयन् नवतामुच्चैरनवस्यापि वस्तुनः॥२५॥
वितन्वन् मनसः कामं दीप्तिसंवलितां मुदम्
निसर्गकलितौद्धत्यस्तत्र गुम्फः किलोदितः॥ २६॥ —(अलंकार महोदधि ६/२४,२५,२६)

ओजगुण के विवेचन मे भी आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि आचार्य मम्मट[१] और हेमचन्द्राचार्य[२] से पूर्णतया सहमत है। आनन्दवर्धन ने ओज को चित्त की दीप्ति माना है। यह रौद्र आदि रसो मे हृदय की दीप्ति के रूप में रहता है। रौद्र आदि रसो के व्यजक शब्दार्थ मे भी उपचार से ओज गुण माना जाता है। बहुधा दीर्घ समासयुक्त वाक्य ही रौद्र आदि रस के व्यञ्जक होते है। अत. उन्हे ओज गुण युक्त कहा जाता है। पर यह कथन उपचार मात्र है। अल्पसमास रचना मे भी ओज के उदाहरण पाये जाते है। रौद्र आदि रस चित्त की दीप्ति रूप ओज के कारण होते है। कारण मे कभी-कभी कार्य का उपचार हो जाया करता है। अतः कार्यभूत दीप्ति का प्रयोग कारणभूत रौद्र आदि रस के लिये उपचार से होने लगता है। फलतः रौद्र, वीर और अद्‌भुत रस जो वस्तुतः चित्त दीप्ति या ओज के हेतु हैं, ओज कहे जाते हैं।[३]

इस प्रकार माधुर्य तथा ओज गुण के व्यञ्जक वर्णादि का प्रतिपादन करने के बाद आगे प्रसादगुण के व्यञ्जक वर्णादि का निरूपण करते है। आनन्दवर्धन ने माधुर्य और ओज की अपेक्षा प्रसाद को अधिक महत्वपूर्ण माना है। प्रसाद गुण का भाव क्षिप्र प्रसार है। सरलता से सभी रसों को व्यञ्जित कर देने की काव्य की शक्ति प्रसाद गुण कहलाती है। इस गुण मे सकल रस के अनुकूल वृत्ति रहा करती है। यह सभी रसों का सामान्य गुण है।[४] उस भाव को वृत्ति मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—शब्द और अर्थ की स्वच्छता को प्रसाद गुण कहा जाता है। यह सभी रसो तथा रचनाओ मे साधारण रूप से रहता है।[५] प्रसाद को इतना महत्व मिलने का कारण यह है कि इस गुण के अभाव मे रस की व्यञ्जना ही सम्भव नही होती। प्रसाद गुण के रहने पर काव्य का रस सहृदय के हृदय में छा जाता है।

आचार्य मम्मट भी अति सुन्दर ढंग से प्रसादगुण की विशिष्टताओं का निरूपण करते हैं "जिस प्रकार सूखे ईधन मे अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र मे जल तुरन्त व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो गुण चित्त में तत्काल व्याप्त हो जाये, वह प्रसाद गुण कहलाता है इस गुण की सभी रसो तथा रचनाओं मे स्थिति रहती है।"[६]

विशेष रूप से प्रसाद गुण वहाँ होता है जहाँ सरल, सहज भावव्यजक शब्दावली का प्रयोग होता है। अर्थ की स्पष्टता एवं सहजग्राह्यता इस गुण की विशेषता है। मम्मट का कथन है कि 'जिस रचना के श्रवण मात्र

---

१. का० प्र० : ८/७५

२. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, चतुर्थ अध्याय

३. दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विभास विस्तार प्रज्ज्वलत्स्वभावा सा च मुख्यतया ओजः शब्दवाच्या। तदास्वादमया रौद्राद्यास्तया दीप्त्यास्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपा ॰ ःलक्षन्ते रसान्तरात्पृथक्तया। तेन कारणे कार्योपचाराद् रौद्रादेरेवौजः शब्दवाच्यः। ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनावाक्यरूपोऽदि दीप्तिरित्युच्यते। —अभिनवलोचन, पृ० ८०

४. समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥ —ध्वन्यालोक पृ० १२१

५. प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वसाधारणो-
गुणः सर्वरचनासाधारणश्चेति व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः। —ध्वन्यालोक पृ० १२१

६. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः। (का० प्र० ८/७०-७१)

से शब्द के अर्थ की प्रतीति हो जाये, वह सब वर्णो, समासो तथा रचनाओ मे रहने वाला गुण प्रसाद होता है।"[१]

प्रसाद गुण की स्थिति के विषय में भी आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि की धारणा मम्मट और हेमचन्द्राचार्य की धारणा से अभिन्न है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी चित्तवृत्तियो के आधार पर ही गुणों का वर्गीकरण करते हैं। अभिप्राय यह है कि माधुर्य गुण से युक्त रस का आस्वादन करने से चित्त द्रवीभूत हो उठता है और ओज गुण से युक्त रसास्वादन के समय वह दीप्त हो उठता है या जोश से भर जाता है तथा प्रसाद गुण से युक्त रस का आस्वादन करने से चित्त विकसित हो जाता है, प्रफुल्लित हो उठता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रसास्वाद के समय सहृदय के चित्त की द्रुति, दीप्ति और विकास पर आधारित माधुर्य ओज और प्रसाद गुण उन्हे अभिप्रेत है।

गुणों का वर्गीकरण करने के पश्चात् आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य गुणों से अभिन्न रीति और वृत्तियो का उल्लेख करते हुये सभवतः इस बात का संकेत करते हैं कि गुण, रीति या वृत्ति जिसके लिये कुन्तक ने मार्ग शब्द का तथा आनन्दवर्धनाचार्य ने संघटना शब्द का प्रयोग किया है परस्पर अभिन्न है।[२] एक पक्ष गुण, वृत्ति अथवा रीतियों का अभेद स्वीकार करता है और दूसरा पक्ष उन दोनों का भेद मानता है।

कुन्तक की गुण एवं रीति धारणा सर्वथा मौलिक है उन्होने दो मार्गों के लिये सुकुमार और विचित्र इन नवीन संज्ञाओं की कल्पना की है दोनो के बीच मध्यम मार्ग है।[३] माधुर्य को सुकुमार मार्ग का प्रथम गुण माना है। इसके अतिरिक्त प्रसाद आदि गुण उसमें रहते हैं। विचित्र मार्ग में वैचित्र्य या कृत्रिमता की प्रधानता रहती है। मध्यम मार्ग मे दोनों मार्गों के स्वभाव का मिश्रण रहता है। इन रीतियों के गुणों के स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार कुन्तक ने गुण और रीति का अविभाज्य सम्बन्ध माना है। इनकी इस मान्यता के समर्थन में ही आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि अपने ग्रन्थ में उनके विचारों का प्रतिपादन करते हैं।

इसके पश्चात् आचार्य सूरि गुण अथवा रीति के सामानार्थक वृत्तियों के सन्दर्भ में आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत कारिका को देते हुये उनके विचारों को अपनी सहमति ही प्रदान करते हैं।[४]

वृत्ति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उद्भट ने किया। उन्होंने अपने 'काव्यलंकारसारसंग्रह' में उपनागरिका परुषा तथा कोमला नाम से तीन प्रकार की वृत्तियों का सविस्तार वर्णन किया है।

---

१. श्रुतिमात्रेण शब्दास्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥ (का० प्र० ८/७६)

२. माधुर्यं सुकुमाराख्यं मार्गं केऽप्यवदन् बुधाः।
विचित्रमोजस्तन्मि श्रीभावजं मध्यमं पुनः॥२९॥
उपनागरिकां वृत्तिं परुषां कोमलां परे।
रीतिं केचित् तु वैदर्भी गौड पच्चालजे अपि॥३०॥ —अलंकार महोदधि—६/२९-३०

३. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्चमध्यमश्चोभयात्मकः॥ —कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित १,२४

४. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकेष्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः। —अलंकार महोदधि—६

माधुर्य व्यञ्जक वर्णो से युक्त वृत्ति उपनागरिका कहलाती है। ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त परुषावृत्ति तथा शेष वर्णों से युक्त कोमलावृत्ति होती है। उद्भट द्वारा अभिमत ये तीनो वृत्तियाँ ही वामन द्वारा मान्य वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियाँ मानी गयी है।[१]

वामन की विविध रीतियो के समान आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार की सङ्घटना का निरूपण किया है।[२] सङ्घटना के स्वभाव का विश्लेषण करते हुये ध्वनिकार ने यह मान्यता प्रकट की है कि वह माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर रहती है तथा रस की व्यञ्जना करती है, वह वक्ता और वाच्य के औचित्य से नियमित होती है।[३]

'ध्वयालोक की इन्ही कारिकाओ के आधार पर ग्रन्थकार अगली कारिका मे इसी विषय का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि सङ्घटना आदि गुणो के आश्रित होती है पर फिर भी अपवादस्वरूप कही-कही वक्ता वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य से रचना, समास तथा वर्णों का विपरीत प्रयोग अनुचित नही माना जाता।[४]

कही वाच्य तथा प्रबन्ध की भी उपेक्षा करके केवल वक्ता के औचित्य से ही रचना होती है, और कही वक्ता और प्रबन्ध दोनों की ही अपेक्षा करके केवल वाच्य के औचित्य से ही रचना आदि होती है।

कही-कही वक्ता और वाच्य की उपेक्षा करके प्रबन्ध के औचित्य के अनुसार रचना आदि की जाती है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का गुण विवेचन रस धर्मत्व के आधार पर हुआ है तथा आचार्य सूरि पर आचार्य मम्मट एवं हेमचन्द्राचार्य की गुण धारणा का प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है। मम्मट की ही भाँति आचार्य सूरि भी इस मान्यता से सहमत हैं कि रसधर्म होने पर भी गुण समुचित वर्णों से व्यञ्जित होते हैं।

अन्त मे अलंकार महोदधिकार गुणो के महत्व का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि अलंकार के अभाव में भी वाणियाँ गुणों के कारण अधिक विचित्र प्रतीत होती हैं।[५] काव्य में अलंकारों की स्थिति हारादि आभूषणों की भाँति हैं, जो अंगों के उपकारक मात्र हैं। निष्कर्ष ये है कि अलंकार एवं गुण दोनों ही काव्य के उत्कर्षाधायक हैं किन्तु दोनों में अन्तर ये है कि जहाँ गुणों के कारण काव्य में काव्यात्मकता का सन्निवेश होता है, वहाँ अलंकार उसे केवल उत्कृष्ट बना सकते हैं। अलंकार के समावेश से काव्य की बाह्य चमक भले बढ़ जाये, किन्तु गुणों के द्वारा तो उसकी आन्तरिक विभूति प्रकाशित हो उठती है। इस प्रकार अलंकारों के बिना भी गुणों के कारण काव्य का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है। रस का धर्म होने के कारण गुण व्यंग्य है और अलंकार वाच्य।

---

१. वैदर्भी गौडीया पाञ्चालीति रीतयस्त्रिधः इति॥ —अलंकार महोदधि—६

२. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ समासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता॥ —ध्वन्यालोक—३/५

३. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यदीन् व्यनक्ति सा।
रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः। ३/६ ध्वन्यालोक

४. वक्तृ-वाच्य प्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् पुनः
वर्ण सङ्घटनाऽदीनां वैपरीत्यं न दोषकृत॥ —(अलंकार महोदधि—६/३१)

५. गिरो गुणैरित्यधिकां विचित्रतां दधत्यलंकार विवर्जिता अपि।
हरन्ति हारप्रमुखैर्विभूषणैर्विनाऽपि सौभाग्यजुषो हि योषितः ॥ —अलंकार महोदधि ६

इस प्रकार स्पष्ट होता है गुण अलकार की अपेक्षा काव्य के अधिक महत्वपूर्ण अग है अलकार के अभाव मे भी सुरम्य काव्य की रचना संभव है किन्तु गुण के अभाव मे नही। औचित्य गुण का विधायक है। औचित्य के अभाव मे गुण की कल्पना नही की जा सकती। जिन्हे काव्य मे गुण माना जाता है, वे तत्व भी अनौचित्य के कारण दोष बन जाते है। औचित्य दोष को भी गुण मे परिणत कर देता है। अत: औचित्य उस आधारशिला के समान है, जिस पर गुण का अस्तित्व टिका रहता है। रस के उत्कर्ष साधन मे ही गुणो की सार्थकता मानी गयी है। निष्कर्षत: गुण काव्य की उत्कृष्टता के हेतु हैं।

□□□

सप्तम अध्याय

शब्दालङ्कार-विवेचन

अलंकार-निरूपण

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र मे अलंकारो का अत्यधिक महत्त्व है। इसकी महत्ता इस बात से भी द्योतित होती है कि काव्यशास्त्र 'अलकार शास्त्र' के ही नाम से अभिहित किया जाता रहा है। राजशेखर ने इसकी महिमा का आख्यान करते हुये इसे वेद का सातवॉ अग माना है। उनके अनुसार अलंकार वेद के अर्थ का उपकारक होता है तथा अलंकारो के ज्ञान के अभाव मे वेदार्थ की अवगति नही हो सकती है।

मानव-समाज सौन्दर्योपासक है। उसकी इस प्रवृत्ति ने ही अलकारों को जन्म दिया है शारीरिक सौन्दर्य को बढ़ाने के लिये जिस प्रकार से मनुष्य ने भिन्न-भिन्न आभूषणों का प्रयोग किया उसी प्रकार उसने भाषा की चारुता के लिये अलंकारो की योजना की। इस प्रकार हम कह सकते है 'अलकार वाणी के विभूषण' हैं।[1]

इसके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता भावो मे प्रभविष्णुता तथा सप्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है।

काव्य मे अलकारों का वही स्थान है जो शरीर के लिये लौकिक आभूषणों का। वाणी को अलंकृत करना ही अलकारो का ध्येय है।

कुछ लोग अलंकार शब्द की "अलकरोति इति अलकारः" इस व्युत्पति के आधार पर काव्य में शोभावर्धक तत्त्वो को अलंकार कहते हैं। और कुछ लोग "अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिस के द्वारा काव्य अलंकृत किया जाये, उसे अलकार कहते हैं।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार अलकार काव्य के स्वाभाविक धर्म हैं, जबकि द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार अलकार साधन मात्र हैं, स्वाभाविक धर्म नही।

अलकारों का उद्भव एवं विकास अति प्राचीन है। अलकारो का अस्तित्व वेदों तक में विद्यमान है। वेद, उदनिषद् और ब्राह्मण ग्रंथ में 'अरंकृत' तथा अलंकार शब्द मिलते हैं।

निरुक्त में महर्षि यास्क ने 'अरंकृत' शब्द का पर्याय अलंकृत' बताया है।[2] काव्यशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों

---

१. उपकारकत्वात् अलंकारः सप्तममङ्गमिति। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः। (काव्यमीमांसा)

२. 'सोभा-अरंकृत अलंकृता_"। निरुक्त १०/१-२

निष्कर्ष रूप मे जो मान्यता स्थापित हुई, वह आज अधिक मान्य है।

ध्वन्यालोककार ने गुणो को अगी तथा अलंकारों को अग माना तथा इन दोनो ही तत्त्वो को काव्य का सहायक तत्त्व माना।[१] काव्य के आत्मभूत रसादिरूप ध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण साक्षात् रूप मे काव्योत्कर्ष के हेतु हैं और काव्य के अगभूत शब्द तथा अर्थ के धर्म अलकार परम्परा से। अलकार केवल शरीर की शोभा के जनक नही हैं, वे अप्रत्यक्ष रूप से आत्मा की शोभा करते है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार "रस भाव आदि तात्पर्य (अर्थात् रसभावादि को प्रधान मानकर उसके अंग रूप मे) अलंकारो की स्थिति ही सब अलंकारो के (अलंकारत्व) चारुत्व का साधक है।"[२] आशय यह है कि अलंकारों की महत्ता रस आदि के उत्कर्ष करने मे है। ध्वनिकार ने अलकार के महत्त्व के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया।

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने अलकारवादियो के अलंकार के अगित्व पर प्रहार करते हुये लिखा है कि अलंकारो का विधान रसादि के अगरूप से होना चाहिये न कि अगिरूप से।"[३]

आचार्य कुन्तक ने 'सालकारस्य काव्यता' का प्रतिपादन कर अलकार को काव्य का अविभाज्य अंग माना है।

अलकारो की उपयोगिता इसी अर्थ मे है कि वे रस के उपकारक होकर रससिद्धि में गति प्रदान करें। रसवादियो के अनुसार अलंकार सौन्दर्योत्पादन का एक साधन है। वे रस को अलंकार्य मान कर अलंकार को उसका सौन्दर्यवर्धक तत्त्व स्वीकार करते हैं। अलंकार्य अपना चमत्कार स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता है, अलंकार ही अलंकार्य के सौन्दर्यवर्धन में सहायक सिद्ध होते हैं।

ध्वनिवादियों का अनुसरण करने वाले रसवादी आचार्य मम्मट अलंकारों का उद्देश्य रस को पुष्ट करना मानते हैं।उनके अनुसार जो काव्य में विद्यमान अंगीरस को शब्द और अर्थ के द्वारा कभी-कभी उपकृत करते हैं, वे अनुप्रास और उपमा आदि हार के समान आत्मा का उत्कर्ष करते हैं।[४] आशय यह है कि अलंकार हार आदि आभूषणों के समान है और वे रस का उपकार करते हैं। यही नही मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिखकर काव्य में अलकारों की अनिवार्य उपयोगिता के आग्रह को भी समाप्त कर दिया था।

मम्मट के ही अनुसरणकर्ता आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार काव्य में अंगों (शब्द और अर्थ) के आश्रित रहने वालो को अलंकार कहते हैं।[५] इसकी वृत्ति में स्पष्ट करते हुये आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं कि अलंकार काव्य मे प्रधानतया स्थित रस के अंगभूत शब्द और अर्थ के आश्रित होते हैं, जो कहीं-कहीं तो रस के उपकारक होते हैं और कही-कहीं उपकारक नहीं होते हैं तथा रस के अभाव में वाच्य वाचक के वैचित्र्य मात्र में पर्यवसित होने वाले होते हैं।

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्॥ (ध्वन्यालोक)

२. रस भावादि तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम्॥ (ध्वन्यालोक पृ० ८८)

३. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन्। (ध्वन्यालोक २/१)

४. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ (का० प्र० ८/६७)

५. अङ्गाश्रिता अलंकाराः—काव्यानुशासन १/१३

आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र मे अपनी सहमति व्यक्त करनेवाले आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि शौर्यादि की भाँति आत्मा के आश्रित रहनेवाले गुणों से विपरीत हारादि अलंकारों की तरह आहार्य (ग्रहण करने और त्यागने योग्य) अनुप्रास और उपमादि को अलंकार मानते है।[१]

जिस प्रकार आचार्य मम्मट अपनी काव्य परिभाषा मे ही 'अनलकृती पुनः क्वापि' कहकर काव्य में अलकारों की अनिवार्यता स्वीकार नही करते उसी प्रकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि 'अलंकारास्तु हारादिवदाहार्याः' इस प्रकार लिखकर स्पष्ट कर देते हैं कि काव्य में अलंकारों की स्थिति लौकिक आभूषणो की भाँति आहार्य अर्थात् ग्रहण योग्य और त्यागने योग्य है। "अतएव नित्यं वैचित्र्यं न कुर्वते।"[२] इस प्रकार निष्कर्षतः ये स्पष्ट होता है कि अलंकार काव्य के अनिवार्य तत्त्व नहीं है, वे अस्थायी धर्म हैं। काव्य शोभा अलंकार पर निर्भर नही है, वह शोभाकर्त्ता न होकर शोभा की वृद्धि करता है। काव्य का सौन्दर्य है रस, अलंकार का गौरव उसी का उपकार करने में है।

पहले अलंकार का स्वयं अपना स्वतंत्र तथा महत्त्वपूर्ण अस्तित्व था, वह अब अस्वीकृत कर दिया गया और ध्वनि काल में रसादि का उत्कर्षक होने में ही उसका महत्त्व माना गया।[३] परवर्ती काल में हेमचन्द्र और आचार्य सूरि ने आनन्दवर्धन और मम्मट की मान्यता का पूर्णतः अनुकरण किया है।

अलंकारों की संख्या के विषय में भी मतैक्यता नहीं है। परवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ को मापदण्ड मानकर शब्दों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों को शब्दालंकार और अर्थों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों को अर्थालंकार माना है। कुछ आचार्यों ने उक्त दो के अतिरिक्त शब्द और अर्थ पर समान रूप से आश्रित रहने वाले अलंकारों को मिश्रितालंकार कहा है।

आचार्य मम्मट ने अलंकारों के विभाजन का मापदण्ड अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार किया है।[४] जहाँ शब्द के परिवर्तन कर देने में अलंकारत्व नष्ट हो जाये वहाँ शब्दालंकार और जहाँ शब्द के परिवर्तन करने पर तदर्थक शब्दनिवेश से अलंकारत्व नष्ट न हो वहाँ अर्थालंकार होता है। इसी मान्यता को शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व और शब्द परिवृत्ति सहिष्णुत्व कहा जाता है।

शब्दालंकार—जहाँ शब्दगत चमत्कार पाया जाये वह शब्दालंकार है। शब्दालंकार में शब्दों की विशेष महत्ता होती है। शब्दों का परिवर्तन होने पर काव्यगत सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। अतः इसमें शब्द परिवर्तन संभव नहीं है।

आचार्य मम्मट ने ६ शब्दालंकार तथा ६१ अर्थालंकारों का विवेचन किया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने ६ शब्दालंकारों तथा २९ अर्थालंकारों का विवेचन किया है।

---

१. अयत्नोऽपि रसं सन्तं यातु तेभ्यो विपर्ययम्। ये तु विज्ञत्यलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ अलंकार-महोदधि ६/२

२. अलंकार महोदधि। वृत्ति (६/२)

३. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः (ध्व० २/१७)

४. काव्यप्रकाश—पृ० ४२३

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, चित्र, पुनरुक्तवदाभास नामक ६ शब्दालकारो का सभेद-प्रभेद विवेचन किया है। तथा अतिशयोक्ति आदि ७१ अर्थालंकारो का भेद-प्रभेद निरूपण किया है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने किसी नवीन अलकार की उद्‌भावना नही की तथा मम्मट सम्मत अलकारो के अतिरिक्त रुय्यकादि सम्मत अलकारो का भी ग्रहण किया है। शब्दालंकार की प्रस्तावना स्वरूप आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि अलकारो की महत्ता पर प्रकाश डालते है।[१] आचार्य सूरि कहते हैं कि असस्कार आदि दोष से रहित, माधुर्यादि गुण से युक्त शब्द अलकारो के बिना चारुता को प्राप्त नही करता है, अपने आशय का स्पष्टीकरण करते हुये वे आचार्य वामन के श्लोक को प्रस्तुत करते हैं[२] कि जैसे लावण्यादि गुणों से विशिष्ट रमणी का सौन्दर्य कटककुण्डल आदि अलंकारों की सुन्दर योजना से द्विगुणित हो जाता है, वैसे ही माधुर्य आदि गुणों से युक्त कविता का स्वरूप अनुप्रास आदि अलकारो की सुन्दर योजना से और भी मनोहारी बन जाता है।

अनुप्रास

शब्दालंकार की प्रस्तावना के अनन्तर आचार्य सूरि सर्वप्रथम सकलकवि कुल मे आराध्य[३] अनुप्रास अलंकार का सविस्तार विवेचन करते हैं।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का अनुप्रास विवेचन भोज से प्रभावित है। इन्होने सर्वप्रथम अनुप्रास के चार भेद किये हैं।[४] तथा समीपस्थ वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास अलकार कहा।

अनुप्रास अलंकार का विवेचन सर्वप्रथम भामह ने किया। परवर्ती आचार्यो मे दण्डी से लेकर विश्वनाथ तक इसका वर्णन होता रहा। मम्मट ने पूर्ववर्ती आचार्यों से सर्वथा भिन्न पद्धति का आश्रय लेकर अनुप्रास का स्वरूप निरूपण किया तथा इसके रूप को व्यवस्थित कर दिया।

इन्होने वर्णसाम्य को अनुप्रास माना।[५]

मम्मट के अनुसार व्यंजन साम्य एवं स्वरों की विषमता को ही वर्ण साम्य कहते हैं। अनुप्रास का परवर्ती विकास मम्मट द्वारा निरूपित रूप के ही अनुसार हुआ।

अनुप्रास पद के आदि अथवा अन्त में कहीं भी हो सकता है। अतः अनुप्रास का लक्षण हुआ कि इसमें सरूप व्यंजनों की आवृति एवं स्वर वैसादृश्य के होने पर भी आकृति का व्यवधान रहित होना चाहिये तथा इसमें वर्ण योजना रसानुकूल हो। अनुप्रास में भाव, नाद, एवं वर्ण मैत्री के नियोजन से अधिक सौन्दर्याधान होता है।

भोज के अनुसार अनुप्रास का लक्षण है—समीप में अवस्थित वर्णों की आवृति को अनुप्रास कहा जाता

---

१. निर्दोषोऽपि गुणाढ्योऽपि शब्दो नालकृति विना। वैचित्र्यमश्नुते तादृक् तच्छब्दालंकृतीर्बुवे॥ अलंकार महोदधि ७/१

२. युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव। विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥ अलंकार महोदधि पृ० २०४

३. अथादौ तावत् सकलकविकुलाराध्यमनुप्रासं लक्षयति —अलं० महो० पेज २०४

४. अनुप्रासोऽक्षरावृत्तिर्नातिदूरान्तरस्थिता।
स चतुर्धाश्रुतिच्छेक-वृत्ति-लाटानुवृत्तिभिः —अलंकार महोदधि ७/२

५. वर्णसाम्यमनुप्रासः —का० प्र० ९/७९

है।[१] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भोज के अनुप्रास लक्षण का पूर्णतया अनुकरण करते हुये अपनी परिभाषा दी।

हेमचन्द्र ने अनुप्रास का सामान्य विवेचन करते हुये व्यजनो की आवृत्ति को अनुप्रास कहा है।[२]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने तो अनुप्रास के चार भेद किये है मगर मम्मट ने छेका, वृत्ति एवं लाटानुप्रास का ही वर्णन किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन अनुप्रास प्रकारो को कोई नाम नही दिया है। भोज ने अनुप्रास के छह भेद किये हैं।

श्रृत्युनुप्रास, वृत्यानुप्रास, वर्णानुप्रास, पदानुप्रास, नामद्विरुक्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास[३]। भोज द्वारा भेद व्यवस्था का स्वरूप पूर्वाचार्यों मे इस रूप मे नही मिलता है। संभवतः श्रुत्यनप्रास भोज की ही उद्‌भावना है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने श्रुत्यनुप्रास यहीं से ग्रहण किया है।

अलंकार महोदधिकार श्रुत्यनुप्रास का लक्षण देते हुये लिखते हैं कि एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों मे जहाँ समानता हो वहाँ श्रुत्यनुप्रास होता है।[४] इसमें एक ही स्थान में उच्चरित होने वाले वर्ण प्रयुक्त होते हैं। श्रुत्यनुप्रास को वाग्देवी का प्रसाद स्वीकार किया है। जो अत्यन्त उदात्त कर्मों से कवि को प्राप्त होता है। इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख भोज ने किया है। इनके अनुसार श्रुत्यनुप्रास अनुप्रासों में श्रेष्ठ है तथा इसका प्रयोग प्रतिभाशाली कवि द्वारा ही संभव है।[५] भोज ने इसके कई भेदों का उल्लेख किया है। ग्राम्य, नागर, उपनागर तथा पुनः ग्राम्य के चार भेद—मसृण, वर्णमसृण, वर्णोत्कट, वर्णानुत्कट[६] नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी श्रुत्यनुप्रास के तीन भेद किये हैं।—शुद्ध, संकीर्ण और नागर।[७]

इस अनुप्रास प्रकार को 'श्रुत्यनुप्रास' इसलिये कहते हैं क्योंकि समान स्थानीय वर्णों का सादृश्य सदस्यों को अति श्रुति सुखावह (कर्णप्रिय) लगा करता है।

काव्य प्रकाश मे श्रुत्यनुप्रास की कोई चर्चा नही है। महोदधिकार ने सरस्वतीकण्ठाभरणकार से प्रभावित होकर ही इस अनुप्रास प्रकार का विस्तृत विवेचन किया।

श्रुत्यनुप्रास के बाद महोदधिकार ने द्वितीय अनुप्रास प्रकार छेकानुप्रास का वर्णन किया है। छेकानुप्रास के

---

१. आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिदूरान्तरस्थिता। अलंकारः स विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते॥ २/७० सरस्वती कण्ठाभरणं

२. व्यंजनस्यावृत्तिरनुप्रासः। —काव्यानुशासन पंचम अध्याय

३. श्रुतिभिर्वृत्तिभिर्वर्णैः पदैर्नामद्विरुक्तिभिः।
लाटानामुक्तिभिश्चायं षट् प्रकारः प्रकाशते।—सरस्वतीकण्ठाभरणम् २/७१

४. तुल्यस्थानभवैर्वर्णैरावृतैः श्रुतिहारिभिः।
विश्रुतः श्रुत्यनुप्रासः सर्वस्वं कविकर्मणः॥ अलं० महो० ७/३

५. निवेशयति वाग्देवी प्रतिभानवतः कवेः।
पुण्यैरमुमनुप्रासं सुसमाधिनि चेतसि॥ —सरस्वती कण्ठाभरणम् २/७३

६. स त्रिधा—ग्राम्यः नागरः उपनागरश्च
तेषु ग्राम्यश्चतुर्धा—मसृणः, वर्णमसृणः,
वर्णोत्कटः वर्णानुत्कटश्च॥ वही पृ० १६९

७. स एष त्रिविधः शुद्धः संकीर्णो नागरस्तथा —अलंकार महोदधि पृ० २०५

स्वरूप विकास मे पूर्ववर्ती आलकारिको से लेकर परवर्ती आचार्यो तक कोई परिवर्तन न हो सका और इसका रूप अपरिवर्तित रहा।

महोदधिकार[1] काव्यप्रकाशकार[2] के समान ही अनेक वर्णो की एक बार आवृत्ति मे छेकानुप्रास मानते है। महोदधिकार ने छेकानुप्रास के चार भेद किये हैं।[3] क्रमशाली, विपर्यस्त, वेणिका, और गर्भित।

मम्मट और विश्वनाथ आदि आलकारिकों ने छेकानुप्रास के भेदो का वर्णन नही किया है भोज से प्रभावित होकर ही इसके भेद-प्रभेद किये गये है। भोज ने वर्णानुप्रास के १२ भेदो के अन्तर्गत ही छेकानुप्रास के क्रमशाली आदि तीनो भेदो का वर्णन किया है।

छेकानुप्रास के अनन्तर वृत्त्यनुप्रास का सविस्तार वर्णन किया गया है। नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार जिसमे समान वर्णों के अक्षरो की आवृत्ति हो वह वृत्त्यनुप्रास है, यह कवित्व का प्राणभूत है।[4] तथा यह बारह प्रकार का होता है, कर्णाटी, कौन्तली, कौगी, कौकणी, वानवासिका, त्रावणी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, उंड्री और पौण्ड्री।[5]

वृत्त्यनुप्रास के स्वरूप निर्देशन मे सस्कृत आचार्यों मे प्राय: मतैक्य रहा है।

आचार्य मम्मट एक वर्ण अथवा अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति मे वृत्त्यनुप्रास मानते हैं।[6]

रसानुकूल वर्णविन्यास ही वृत्ति है। इसमें प्रत्येक रस के अनुसार वर्णों का प्रयोग होता है। यदि शृंगार रस की रचना हो तो वहॉ मधुर वर्ण तथा वीर रस की रचना मे कठोर वर्ण प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार वृत्य अनुप्रास का अर्थ हुआ वृत्ति के अनुरूप वर्ण विन्यास। तीन प्रधान रसो के आधार पर तीन प्रकार की वृत्तियाँ मानी गयी हैं—उपनागरिका, परुषा, कोमला।[7] शृंगार में उपनागरिका वीर मे परुषा तथा शान्त रस में कोमला वृत्ति होती हैं।

वृत्त्यनुप्रास के उपनागरिकादि भेद करने के बाद महोदधिकार पुन: इसके बारह प्रभेदों का वर्णन करते है—जिसमें समान वर्गों के अक्षरों की आवृत्ति हो—इस प्रकार कहते हुये कार्णाटी आदि बारह प्रभेदों का सोदाहरण

१. यत्रावृत्तिरनेकस्य वर्णस्य सकृदीक्ष्यते।
सच्छेकानामनुप्रासश्चतस्त्रस्त दूभेदास्त्विमाः —अलं० महो० ७/७

२. सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व·। (अनेकस्य अर्थात् व्यंजनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रास.। का० प्रकाश/९/१०६

३. क्रमशाली विपर्यस्तो वेणिका गर्भितस्तथा —अलं० महो०
क्रमशाली क्रमोपेत. विपर्यस्तः क्रमात्ययी —अलं० महो० पृ०/२०८

४. यदि वा यत्र वर्ग्याणां वर्ग्यैरावर्त्तनं निजैः।
वृत्त्यनुप्रासमिच्छन्ति तं कवित्वैकजीवितम्॥ —अलं० महो० ७/१४

५. अलंकार महोदधि—पृ० २१२ से २१३

६. एकस्याप्यसकृत्परः —का० प्रकाश ९/७९

७. उपनागरिकाऽदीनां वृत्तिनामनुरोधतः। अलंकार महोदधि
त्रैविध्यजुषि वर्णानामेकताऽनेकतावताम्॥ ७/१०
यस्मिन्नसकृदावृत्तिर्दृश्यते तं विपश्चितः।
वृत्त्यनुप्रासमिच्छन्ति त्रिविधोऽपि द्विधा च सः॥ ७/११

विवेचन करते है।

कार्णाटी वृत्यनुप्रास कवर्ग के अनुप्रास वाली होती है। उदाहरणार्थ—

कान्ते ! कुटिलमालोक्य कर्णकण्डूयनेन किम् ?
कामं कथय कल्याणि ! किङ्करः करवाणि यत्॥

'कौन्तली' च वर्ग के अनुप्रास वाली होती है यथा—

ज्वलज्जटिलदीपार्चिरञ्जनोच्च्यचारवः
चम्पकेषु चकोराक्षि ! चञ्चरीकाश्चकासति।

'कौड्गी' टवर्ग के अनुप्रास वाली होती है यथा—

कुम्भकू, टाट्टकुट्टाककुटिलोत्कटपाणिरुद्।
हरिः करटिपेटेन न द्रष्टुमपि चेष्ट्यते॥

तवर्ग के अनुप्रास वाली 'कौड्कणी' होती हैं।

'वानवासिका' पवर्ग के अनुप्रास वाली होती है।

'त्रावणी' अन्तस्थ वर्णों के अनुप्रास वाली होती है।

'माथुरी' उष्मवर्णों के अनुप्रास वाली होती है।

दो-तीन वर्गों के वर्णों की अनुप्रास वाली 'मात्सी' होती है।

'मागधी' वहाँ होती है जहाँ दो भिन्नवर्गीय वर्णों के अनुप्रासो मे एक वर्ग के वर्णों का प्रारम्भ किया गया अनुप्रास विदर्भित कर दिया जाता है।

'ताम्रलिप्तिका' अपने वर्ग के अन्तिम वर्णों के संयोग से होने वाली होती है।

'औण्ड्री' समान रूप वाले सयुक्ताक्षरो से गुंथी हुयी होती है।

'पौण्ड्री' असमान रूप वाले सयुक्ताक्षरों से गुंथी होती है।

इस प्रकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भोज का अनुकरण करते हुये बारह प्रभेदों वाली वृत्यनुप्रास का वर्णन किया।

वृत्यनुप्रास के अनन्तर अनुप्रास अलंकार के चतुर्थ और अन्तिम प्रकार लाटानुप्रास का भेद-प्रभेद सहित वर्णन किया है।

शब्द और अर्थ दोनो की पुनरुक्ति में तात्पर्यमात्र के भेद को लाटानुप्रास कहते हैं। लाट का अर्थ है गुजरात। गुजरात देश के लोगों को प्रिय होने कारण इसे लाटानुप्रास कहा जाता है।

लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ में अभिन्नता होती है, किन्तु अन्वय करने पर उनका तात्पर्य बदल जाता है।

यही अभिमत महोदधिकार को भी मान्य है[1] लाटानुप्रास एकाधिक पदो की आवृत्ति मे होता है तथा एक पद की भी आवृत्ति में। यदि किसी प्रातिपदिक पद की एक समास मे भिन्न समास अथवा समास असमास मे आवृत्ति हो, तो यह वहाँ भी होता है। यथा—

सितकर कररुचिर विभा विभाकराकार। धरणिधव। कीर्तिः।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य॥

उपरोक्त श्लोक मे कर-कर की एक समास मे आवृति होने से, विभा-विभा की आवृत्ति दो भिन्न समासों मे होने से तथा कमला-कमला मे पहला पद समास मे तथा दूसरा पद असमास मे आवृत्त होने से लाटानुप्रास का उदाहरण है। प्रस्तुत उदाहरण काव्यप्रकाश से ग्रहीत है।

संस्कृत काव्यशास्त्र मे उद्‌भट आदि आचार्यो ने लाटानुप्रास को स्वतत्र अलकार माना है। जबकि अन्य आचार्य इसे अनुप्रास का एक भेद मानते है। लाटानुप्रास का संकेत भामह के काव्यालकार मे है, किन्तु उन्होने इसके स्वरूप का स्पष्टीकरण नही किया। उद्‌भट से विश्वनाथ तक इसके स्वरूप मे कोई अन्तर न आ सका और इसका रूप अपरिवर्तित रहा।

मम्मट ने इसे शब्दानुप्रास कहा[2]। इनके अनुसार शब्द और अर्थ के एक होने पर तात्पर्यमात्र के भेद से लाटानुप्रास होता है। इन्होने इसके पॉच प्रकारो का वर्णन किया—(१) अनेक पदगत, (२) एकपदगत, (३) समास मे, (४) भिन्न समास मे, (५) समास-असमास मे।

अलकार-महोदधिकार ने लाटानुप्रास निरूपण मे यहाँ तक मम्मट का अनुकरण करते हुये आगे पुनः भोज से प्रभावित हो स्वभावतः उपचारवशात्, वीप्ला से, आभीक्ष्ण्य से, कषादि धातुओ से णमुल् प्रत्यय करने पर उसी धातुओ के उपपद रहने से और सम्भ्रम से जो पदों की आवृत्ति होती है, उन्हे लाटानुप्रास के भेद कहा है।[3] इन्हें भोज ने नामद्विरुक्ति अनुप्रास कहा है।[4]

अलकार महोदधिकार अनुप्रास अलकार के बाद यमक अलकार का विशद विवेचन करते है।

---

१. एकवृत्ति-पृथकवृत्ति-वृत्त्यवृत्तिस्थितिस्पृशाम्।
भूयः साम्येऽपि तात्पर्यमात्रतो भेदशालिनाम्॥
नाम्नां यदियमावृत्तिर्वृत्तिर्वज पदस्य च।
पदानां च स लाटानामनुप्रास. प्रकीर्त्यते॥ अलंकार महोदधि ७/१५-१६

२. शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः। का० प्र० ९/८१॥
शब्दगतोऽनुप्रासः शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदान्त—का० प्र०
पदानां सः पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा।
नाम्नः स वृत्त्यवृत्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः। का० प्र० ९/८२॥

३. स्वभावादुपचाराच्च वीप्सयाऽभीक्ष्ण्यतोऽपि वा।
कषादिभ्यश्च धातुभ्यः स्वात्मन्युपपदस्थिते। ७/१७ अलं० महो०
आवृतिर्दृश्यते या च या च काचन सम्भ्रमात्।
अनुप्रासं तमप्याहुर्लाटीयं कविपुङ्गवाः॥ —अलंकारमहोदधि ७/१८

४. स्वभावतश्च गौण्या च वीप्साभीक्ष्ण्यादिभिश्च सा।
नाम्नो द्विरुक्तिभिर्वाक्ये तदनुप्रास उच्यते॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २/९७

यमक शब्दालकार का लक्षण और स्वरूप अलंकार महोदधि मे वही है या उसी पृष्ठभूमि का है जैसा कि पूर्ववर्ती आलंकारिको ने स्थिर किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि का यमक विचार मम्मट और हेमचन्द्राचार्य के चिन्तन से अनुप्राणित है।

महोदधिकार ने बताया कि अर्थ होने पर भिन्न अर्थ वाले वर्णसमुदाय की क्रमानुसार आवृत्ति यमक अलकार है।[१]

यहाँ कारिका मे 'सत्यर्थे' (अर्थे सति) सार्थक होने पर इसलिये कहा गया है क्योकि यमक मे ऐसा होता है कि कही-कही तो दोनो पद सार्थक हुआ करते है और कही-कही दोनों निरर्थक और कहीं-कही ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक।

यमक अलकार स्थाननियम के अभाव में और स्वरनियम के अभाव मे अनुप्रास हो जायेगा।

यमक का शाब्दिक अर्थ है दो-यमौ द्वौ समजातौ तत्प्रतिकृतियमकम् अर्थात् यम पैदा हुये दो जीव की प्रतिकृति था चित्ररचना।

यमक मे सार्थक वर्णों की आवृति मे यह ध्यान रखना चाहिये कि वे सभी भिन्नार्थक हो। आचार्य मम्मट ने अपनी वृत्ति मे स्पष्ट रूप से सकेत किया है कि अर्थ वैषम्य यमकालंकार का एक आवश्यक तत्त्व है।[२]

इस प्रकार यमक अलंकार की विशेषताये है—

(क) इसमे स्वरव्यजन समुदाय या वर्णसमूह की आवृत्ति होती है।

(ख) लाटानुप्रास मे भी वर्णसमुदाय की आवृत्ति होती है अतः उससे भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये यमक मे वर्णसमुदाय का भिन्नार्थक होना आवश्यक है। लाटानुप्रास मे केवल एकार्थक वर्णों की आवृत्ति होती है।

(ग) इसमे वर्णों की आवृत्ति पूर्वक्रम से होनी चाहिये अन्यथा सर और रस मे भी यमक होने लगेगा।

(घ) निरर्थक वर्णों की आवृत्ति में भी यमक होता है।

(ड) यमक कही तो निरर्थक वर्णो का, कही सार्थक वर्णो का और कही सार्थक-निरर्थक वर्णसमुदायों या पदों का होता है।

(च) इसमें कही-कही शब्दो या पदों की आवृत्ति होती है और कही पूरे वाक्य की तथा उनके अर्थ भी बदल जाते है।

---

१. सत्यर्थे पृथगर्थानां वर्णानां सस्वरात्मनाम्
पुनरावर्त्तनं स्थाननियमे यमकं विदुः॥ अलं० महो० ७/१९

२. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां यः पुनः श्रुति का० प्र० १९/८३

यमक के प्रयोग में आचार्यो ने यह व्यवस्था की है कि इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी और कौशल के द्वारा होना चाहिये। इसके सम्बन्ध मे विचार करते हुये ध्वनिकार ने इसका प्रयोग आवश्यक नही माना है तथा इसके विधान को रस के प्रतिकूल सिद्ध किया है। यमक तो शृगार मे सर्वथा वर्जित है।[१]

यमक में उकार, लकार, वकार सर्वथा अभिन्न माने जाते हैं। यह एक सर्वमान्य आलकारिक सिद्धान्त है।

यमक अत्यन्त प्राचीन अलंकार है, इसका सर्वप्रथम उल्लेख नाट्यशास्त्र मे किया गया है। आचार्य भरत ने इसे शब्दाभ्यास नाम से अभिहित करते हुये इसके दस भेद किये हैं।[२]

भामह के अनुसार सुनने मे समान ज्ञात होने वाले किन्तु अर्थ से परस्पर भिन्न वर्णों की आवृति मे यमक होता है। इन्होंने इसके पाँच भेद किये है।[३]

दण्डी के अनुसार वर्णसमुदाय की व्यवधान सहित या व्यवधान रहित बार-बार आवृत्ति यमक है। यह श्लोक के आदि, मध्य और अन्त में होता है। दण्डी ने यमक के सर्वाधिक ३१५ भेद किये हैं।[४]

हेमचन्द्र की यमक-विषयक अवधारणा पूर्ववर्ती आचार्यों के ही समान है इनके अनुसार सार्थक किन्तु भिन्न अर्थ वाले वर्णों की पूर्व क्रम से ही श्रुति या आवृत्ति होने पर यमक अलंकार होता है।[५] इन्होने यमक के छप्पन भेदों के अतिरिक्त भी अनेक यमक भेदो की कल्पना की है।[६]

यमक की भेद संख्या अति प्रचुर है, क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि विभिन्न प्रकार की आवृत्तियाँ यमक की ही विविध रूप रेखायें हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि संभव है। इस प्रकार से बारह भेदों की उद्भावना आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी की है।[७]

चित्र-अलंकार

यमक अलंकार के पश्चात् महोदधिकार ने चित्रालंकार का वर्णन किया है। इस अलंकार का निरूपण सर्वप्रथम दण्डी के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

---

१. शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः। ध्वन्यालोक २/१५
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्
शृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धनात्। ध्वन्यालोक २/१४

२. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्
विशेषदर्शनं———॥ —नाट्यशास्त्र १६/५९

३. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते॥ काव्यालंकार २/१७

४. काव्यादर्श ३/१, २, ३/११

५. सत्यर्थेऽन्यार्थानां वर्णानां श्रुतिक्रमैक्यं यमकम्॥ —काव्यानुशासन पृ० २४९

६. वही, पृष्ठ २५१-२५४

७. पाद-पादादि मध्यान्त-श्लोकार्ध श्लोकवर्तिनाम्
मनोज्ञां दधदावृत्तिं भिद्यते तदनेकधा॥ —अलंकार महोदधि ७/२०

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार इस अलकार मे वर्णो के विन्यास द्वारा खड्ग, पद्म आदि चित्रो का निर्माण हो जाये।

आचार्यों के स्वरूप निर्देशन मे प्रायः एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है।

यद्यपि दण्डी, रुद्रट, भोज आदि आचार्यो ने इस अलंकार का वर्णन सविस्तारपूर्वक किया है।

मम्मट के अनुसार जिस रचना मे वर्णो की रचना खड्ग आदि की आवृत्ति का हेतु हो जाती है तो वह 'चित्र' नामक शब्दालंकार कहलाता है।

मम्मट ने चित्रालंकार को चित्रकाव्य की संज्ञा देते हुये कहा कि यह क्लिष्ट काव्य होता है, अतः उसका दिग्दर्शनमात्र कराते हैं।[१]

हेमचन्द्राचार्य ने चित्रालंकार की कोई विशेष परिभाषा नही दी किन्तु उसका निरूपण करते समय उन्होने आलेख्य और आश्चर्य दोनो को इस चित्रालकार मे स्थान दिया।[२] उनके अनुसार स्वर, व्यंजन, स्थान, गति, आकार, नियम, च्युत और गूढ़ आदि चित्र के भेद है।[३]

चित्र काव्य को आचार्यों ने अधम काव्य की संज्ञा दी है, क्योकि इससे कवि की रचना नैपुण्य भले ही प्रकट हो जाये, किन्तु रस सिद्धि नही होती है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने खड्गबन्ध का उदाहरण काव्य प्रकाश से लिया है।

पद्मबन्ध का उदाहरण पृथक् है वह इस प्रकार है—

या श्रिता पावनतया यातनच्छिदनीचया।
यापनीया धिया मायायामायासं श्रिता श्रिया॥

उपरोक्त श्लोक आठ पंखुड़ियो का कमलबध है। इसके कोष मे या है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि खड्गबन्ध और पद्मबन्ध का उदाहरण सहित वर्णन करते हैं।

पुनः कहते हैं आदि शब्द से मुरजबन्ध तथा चक्र-बन्धादि का ग्रहण कर लेना चाहिये।[४] इस प्रकार चित्रालंकार के और भी भेद हो सकते हैं। पर इन रचनाओ से पाठक का 'सहृदयत्व' तृप्त नही होता है। यही कारण है कि संस्कृत के प्रत्येक शब्दालंकार निरूपक आचार्य ने, यहाँ तक कि भोजराज ने भी, जिन्होने अन्य आचार्यों की अपेक्षा चित्रालंकार का कई गुणा अधिक विस्तृत विवेचन किया है, इसे अवहेलना की दृष्टि से देखा है।[५]

---

१. कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। —का० प्र० ४३४
२. काव्यानुशासन, पृष्ठ २५७
३. वही।
४. आदिशब्दा-मुरज-चक्रादिरूपता गृह्यते। अलं० महो० पृ० २२०
५. दुष्करत्वात्कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद्विनावधेः।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूलां महात्मभिः॥ स० कण्ठाभरण २/१३०

मम्मट ने भी कहा कि यह क्लिष्ट काव्य होता है।[१] और कवि की शक्तिमात्र के प्रदर्शक होते है। नरेन्द्रप्रभसूरि भी चित्रालकार को कवि की शक्ति मात्र का प्रदर्शन करने वाले अलकार के रूप मे मानते हुये इसका विस्तृत विवेचन नही करते है।[२]

दण्डी ने उसे 'दुष्कर' और विश्वनाथ ने 'काव्यान्तर्गडुभूत' माना है।

इस प्रकार 'चित्र अलंकार' के अन्तर्गत खड्ग, शर, पद्म आदि के चित्र विशिष्ट वर्ण योजना के आधार पर बना लिये जाते हैं।

ये विशिष्ट वर्ण योजनाये एव वाक् कलियॉ सहृदय को बाह्यत: चमत्कृत कर उसके मर्म का स्पर्श नही करती। वो काव्य ही क्या जिसके आस्वादन की पुन: अभिलाषा ही न हो।

श्लेष—इस प्रकार चित्र-अलकार का निरूपण करने के पश्चात् श्लेष अलकार का निरूपण प्रारम्भ करते है।

शिलष्ट शब्दों के द्वारा अनेक अर्थों के कथन किये जाने को श्लेषालकार कहते है।

श्लेष शब्द शिलष् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है चिपका हुआ। इस अलंकार मे ऐसे शब्दो का प्रयोग होता है जिनमें एकाधिक अर्थ चिपके रहते हैं। श्लेष दो प्रकार का होता है—शब्द पर आश्रित श्लेष शब्द श्लेष एवं अर्थाश्रित श्लेष अर्थश्लेष कहा जाता है। शब्द श्लेष में शब्दपरिवृत्ति सहिष्णुता या शब्द परिवर्तन सहने की शक्ति नही होती है अर्थात् यदि शिलष्ट शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाये तो वहॉ उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अर्थश्लेष में शब्दपरिवर्तन की पूर्ण क्षमता होती है।

शब्द श्लेष दो प्रकार का होता है—अभगपदश्लेष और सभंगपदश्लेष। जहॉ पदो को बिना तोड़े ही अनेक अर्थ किये जायें वहाँ अभंगपद श्लेष होता है और पदो को तोड़कर अनेक अर्थ का विधान करने मे सभंगपदश्लेष होगा। शब्द श्लेष में शब्द के आधार पर दो या अधिक अर्थ स्फुट होते है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि की श्लेष विषयक मान्यता भी आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र से पूर्णतया प्रभावित है।

आचार्य सूरि के अनुसार अर्थभेद के कारण भिन्न होने पर भी सभग और अभंग विधि से शब्द जब एक साथ उच्चारण के कारण (एक प्रयत्नोचार्यमाण) आपस में जुड़ जाते हैं तो उसे श्लेष कहते हैं।[३] श्लेषालंकार वर्ण-पद-लिङ्ग, भाषा, प्रकृति-प्रत्यय विभक्ति वचन श्लेष के भेद से आठ प्रकार का होता है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने सभंगश्लेष की भाँति अभंगश्लेष के भी आठ भेदों की सम्भावना की।[४] तथा श्लेष को अर्थगत भी स्वीकार किया।

---

१. कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। काव्य प्रकाश पृ० ४३४

२. शक्तिमात्रप्रकाशनफलैवेयं कविता न भूम्ना महाकविभि-
रादृता रस वीथीबहिष्कृतत्वादिति ज्ञापनाय न प्रपञ्च्यते। अलंकार महोदधि पृ० २२०

३. शब्दानां भिन्नवाच्यानां भङ्गाभङ्ग विधि स्पृशाम्।
एकप्रयत्नोच्चार्यत्वं श्लेषो वर्णादिरष्टधा॥—अलंकार महोदधि

४. अभङ्गश्लेषोऽप्यष्टधैव यथासम्भवं ज्ञेयः ७/२२—अ० महोदधि पृ० २२२

मम्मट के अनुसार श्लेष की परिभाषा है। अर्थभेद के कारण भिन्न होने पर भी शब्द जब एक साथ उच्चारण के कारण आपस मे जुड़ जाते है उसे श्लेष कहते है। श्लेषालंकार वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन श्लेष के भेद से आठ प्रकार का होता है।[१] हेमचन्द्राचार्य के अनुसार अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुये भी श्लिष्ट प्रतीत होते है, वह श्लेष अलकार है।[२] हेमचन्द्र ने श्लेष के प्रसंग मे सर्वप्रथम मम्मट सम्मत आठ भेदो का उल्लेख किया है।[३] पुनः भाषा श्लेष के सत्तावन भेदो का कथन है[४] जो अन्य आचार्यो द्वारा मान्य भेदो से सर्वाधिक है।

श्लेष अलंकार के वर्णन मे भी आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने आचार्य मम्मट का अनुकरणमात्र किया है। एक दो स्थलो पर उदाहरण भेद के अतिरिक्त, और विशेष अन्तर नही है।

श्लेष अत्यन्त प्राचीन अलकार है जिसका सर्वप्रथम विवेचन भामह[५] ने किया है। भामह ने सर्वप्रथम इसे अलंकार रूप मे मान्यता प्रदान करके इसके स्वरूप का उद्घाटन किया था। भामह को श्लेष का अर्थालकारत्व ही अधिक मान्य रहा। भामह और दण्डी[६] ने अर्थ श्लेष का ही विश्लेषण किया है किन्तु उद्भट[७] ने शब्द एवं अर्थश्लेष का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। इन्होने श्लेष के स्वरूप, प्रकार एवं उसकी सीमा का निर्धारण कर सर्वथा नवीन विचार दिया।

रुद्रट ने सविस्तार शब्द श्लेष एव अर्थ श्लेष का पृथक् विवेचन किया।[८] और इसके आठ प्रकार माने।

मम्मट तक आकर श्लेषालकार का क्षेत्र निश्चित हो गया तथा शब्दश्लेष एवं अर्थ श्लेष का स्वतत्र रूप निरूपित हो गया था। मम्मट का श्लेष विवेचन रुद्रट से प्रभावित है। तथा आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि आचार्य मम्मट से प्रभावित हैं। जिस प्रकार से आचार्य मम्मट ने श्लेष की शब्दालंकारता को सिद्ध किया है बिलकुल उसी तरह आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने श्लेष को शब्दालंकार माना है। श्लेष शब्दालकार है या अर्थालंकार। इस प्रश्न को लेकर संस्कृताचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। मम्मट और विश्वनाथ इसे शब्दालंकार एवं अर्थालकार दोनो ही मानते है तो भामह, दण्डी और रुय्यक इसे अर्थालकार मे ही परिगणित करते है। आचार्य रुय्यक ने श्लेष के दो भेदों सभंगपदश्लेष एवं अभंगपदश्लेष मे से सभंगपदश्लेष को शब्दालकार एवं अभंगपदश्लेष को अर्थालंकार माना है।

न्याय के अनुसार दूसरा शब्द या पद भिन्न होने पर एक ही शब्द या पद मे चिपका रहता है। आचार्य मम्मट का विवेचन अत्यन्त वैज्ञानिक एव तर्कसम्मत है। पूर्वपक्ष के रूप में उठाये गये प्रश्न का उत्तर देते हुये

१. वाच्यभेदेन—भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
शिलष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिरष्टधा॥ काव्य प्रकाश ९/८४
२. अर्थभेदभिन्नानां भंगाभंगाभ्यां युगपदुक्तिः श्लेषः। —काव्यानुशासन पृ० २७२
३. काव्यानुशासन पृष्ठ २७२
४. वही, पृ० २७९
५. काव्यालंकार ३/१४, १५।
६. काव्यादर्श २/३१०।
७. काव्यालंकार सार संग्रह ४/९, १०।
८. काव्यालंकार ४/१

मम्मट ने इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है। स्वरितादि स्वरूप गुण के भेद के फलस्वरूप भिन्न प्रयत्न से उच्चार्यमाण शब्दों की रचना को शब्द श्लेष जो दूसरे अलंकार का प्रतिभास मात्र होता है तथा एक ही प्रयत्न से उच्चार्यमाण समान आकार के शब्दो के दो अर्थों को बतलाने वाला अर्थश्लेष भी जो अर्थालकार के अन्तर्गत माना गया है, उसे शब्दालंकार कैसे स्वीकार किया जा सकता है।[१] इसका उत्तर देते हुए मम्मट ने कहा है कि गुण, दोष एवं अलंकार आदि की शब्दनिष्ठता एवं अर्थनिष्ठता का निर्णय अन्वय व्यतिरेक भाव से होता है। अन्वय व्यतिरेक का अर्थ है—'तत्सत्वेतत्सत्ता अन्वय: एवं तदभावे तदभावो व्यतिरेक:।' अर्थात् किसी के रहने पर किसी का रहना अन्वय एवं किसी के अभाव में किसी का न रहना व्यतिरेक है। इस दृष्टि से किसी शब्द के रहने पर यदि किसी गुण, दोष एवं अलंकार की सत्ता विद्यमान रहे तथा उस शब्द के बदले यदि उसका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाये और उस अलंकार दोष या गुण की सत्ता तिरोहित हो जाये तो उसे शब्दाश्रित माना जायेगा और यदि किसी शब्द-विशेष को हटाकर उसके स्थान पर उसके समानार्थक शब्द को रखने पर यदि गुण-दोष या अलंकार ज्यों के त्यो बने रहे तो वे अर्थाश्रित माने जायेगे। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक की कसौटी पर कसने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि श्लेष के दोनों ही प्रकार शब्दाश्रित है। अर्थाश्रित नही। अभंग एव सभंग दोनों में ही शब्द परिवर्तन की क्षमता नहीं है।[२] अर्थश्लेष वहाँ होगा जहाँ अर्थपरिवर्तन के बाद भी श्लेष की स्थिति अक्षुण्ण रहे। उदाहरणार्थ—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

तुला की दण्डी एवं खलों का कार्य एक ही सा है, क्योकि दोनो ही थोड़े मे ऊपर उठ जाते है और थोड़े में ही नीचे झुक जाते हैं। यहाँ 'स्तोकेनोन्नतिमायति' के स्थान पर यदि 'अल्पनोद्रेकमायाति' कर दिया जाये तो भी श्लेषत्व की हानि नहीं होगी।

संस्कृत आचार्यों ने श्लेष के सम्बन्ध मे एक और प्रश्न उठाया है कि श्लेष एवं श्लेष मिश्रित अन्य अलंकारों की परस्पर स्थिति क्या है ? श्लेष स्वतन्त्र अलंकार है या नही। रुय्यक के मतानुसार श्लेषालङ्कार सर्वथा स्वतंत्र नहीं रहता, वह जहाँ कही भी होगा वहाँ अन्य अलंकार भी होंगे। इसके विपरीत मम्मट आदि का मत है कि श्लेष कभी तो अन्य अलंकारों से स्वतंत्र रहता है और कभी नही भी रहता है।

जब श्लेष अन्य अलंकारों के साथ रहता है तो कभी वह अन्य अलंकारों का पोषण करता है और कभी स्वयं उनसे पुष्ट होता है।

मम्मट के इस मत में ही अपनी सहमति अभिव्यक्त करते हुये नरेन्द्रप्रभसूरि ने श्लेष के विषय में अपना अभिमत प्रकट किया है। उदाहरणार्थ यदि 'सकलकलम् पुरमजातं सम्प्रति सितांशुबिम्बमिव' आदि सूक्ति को लिया जाये तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि यहाँ जो 'श्लेष' है वह उपमा के प्रतिभास मात्र का कारण नही जिससे यह सिद्ध हो जाये कि यहाँ जो अलंकार है वह श्लेष ही है उपमा नही, क्योंकि ऐसा होने पर तो पूर्णोपमा का

---

१. काव्यप्रकाश पृ० ४२२ आचार्य विश्वेश्वरकृत टीका
२. वही, पृ० ४२३-४२४ आचार्य विश्वेश्वरकृत टीका

विषय ही उच्छिन्न हो जायेगा। चन्द्रमा एव नगर मे वास्तविक साम्य न होने पर भी केवल सकलकलत्व रूप शब्द साम्य के आधार पर भी उपमा हो सकता है। क्योकि उपमा के लक्षण मे साधारणरूप से साम्य का ही निर्देश किया गया है। अत शब्द मात्र के साम्य मे उपमा मानने मे कोई बाधा नही हो सकती है। अलकार-सर्वस्वकार ऐसे स्थलो पर श्लेष को अन्य अलकारो का बाधक प्रधान अलकार मानते है, उसका हेतु वे यह देते हैं कि श्लेष अन्य अलकारो के बिना नही रह सकता है और अन्य अलकार श्लेष के बिना भी रह सकते है। इसलिये जहॉ श्लेष के साथ अन्य अलंकारो की उपस्थिति हो वहॉ अन्य अलकारो की उपेक्षा कर श्लेष को प्रधान अलकार मानना चाहिये। अन्यथा यदि उन स्थलो पर भी अन्य अलङ्कार ही माने जाये तो श्लेष के लिये कोई अवसर ही नही रहेगा। इसलिये इस प्रकार के स्थलो मे श्लेष अन्य अलंकारो का बाधक बन जाता है। अलंकार-सर्वस्वकार के इस मत के खण्डन के लिये आचार्य सूरि उदाहरण देकर स्पष्ट करते है कि किसी अन्य अलकार के साहचर्य के बिना केवल श्लेष अलकार स्वतंत्र रूप से रहता है यथा—

'योऽसकृत् परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः।
शतकोटिदतां बिभ्रद् विबुधेन्द्रः स राजते॥

यहॉ प्रकरणादि के द्वारा (अनेकार्थक परगोत्रादि शब्दो के एकार्थ में) नियम के न होने से (राजापरक और इन्द्रपरक) दोनों ही अर्थ वाच्य हैं अतः यहॉ श्लेष अलकार की स्थिति स्वतंत्र रूप से है।

निष्कर्षतः श्लेष अलंकार का क्षेत्र स्वतन्त्र भी रहता है, तथा अन्य अलकारों से युक्त भी।

वक्रोक्ति—श्लेष अलकार का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि वक्रोक्ति नामक शब्दालकार का वर्णन करते हैं।

वक्रोक्ति में दो शब्द हैं—वक्र और उक्ति अर्थात् वक्र (टेढ़ा) कथन। इसमे वक्ता के द्वारा भिन्न अभिप्राय से कथित वाक्य का श्रोता भिन्न अर्थ कर देता है और वह अर्थ वक्ता के अभीष्ट से सर्वथा भिन्न होता है। इसमे भिन्न अर्थ की कल्पना सर्वथा दो प्रकार से होती है काकु या श्लेष से। काकु कण्ठ के ध्वनि विकार को कहते हैं तथा ध्वनि में परिवर्तन कर देने मे वक्ता का अभिप्राय बदल जाता है। वक्रोक्ति के द्वितीय प्रकार श्लेष वक्रोक्ति में श्लिष्ट शब्दों के द्वारा कई अर्थों की प्रतीति होती है। इस प्रकार वक्रोक्ति के दो प्रकार हुये—श्लेष वक्रोक्ति एवं काकु वक्रोक्ति। इस प्रकार जब वक्रोक्ति श्लेषाश्रित हो तो श्लेष एव जब काकु के बल पर आश्रित हो तो काकु वक्रोक्ति होगी।

श्लेष वक्रोक्ति भी दो प्रकार की होती है—सभङ्गपदश्लेष वक्रोक्ति एवं अभङ्गपदश्लेष वक्रोक्ति।

वक्रोक्ति मुख्यतः श्लेष पर आश्रित है और इसका चमत्कार श्लेष के ही कारण होता है।

नरेन्द्रप्रभसूरि वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुये कहते हैं कि जो अन्य अर्थ से कहा हुआ वाक्य प्रकारान्तर से अर्थात् अन्य प्रकार से (वक्ता के अभिप्राय से) भिन्न अर्थ मे लगा लिया जाता है वहॉ वक्रोक्ति नामक

शब्दालंकार होता है। काकु और श्लेष के भेद से वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है।[१] श्लेष वक्रोक्ति भी सभङ्ग और अभङ्ग पद श्लेष के भेद से दो प्रकार की होगी।

वक्रोक्ति के लक्षण मे भी मम्मट का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मम्मट के अनुसार वक्रोक्ति की परिभाषा है। वक्ता द्वारा अन्य अभिप्राय से कथित वाक्य को, श्लेष अथवा काकु से जब श्रोता अन्यार्थ कल्पित करे तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।[२]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जहाँ वक्ता के अन्यार्थक वाक्य को प्रतिवक्ता श्लेष के बल से अन्यथा कर देता है। अर्थात् अन्यार्थक वाक्य का अन्यार्थक उत्तर प्रदान करता है, तो वहाँ वक्रोक्ति होती है।[३]

हेमचन्द्र ने काकु वक्रोक्ति को अलंकार के रूप मे स्वीकार नही किया है, अपितु उसे पाठ धर्म कहा है।[४] तथा इसके समर्थन मे उन्होने राजशेखर की पंक्ति को उद्धृत किया है।[५]

वक्रोक्ति का उल्लेख भामह के काव्यालकार मे भी मिलता है किन्तु वे इसे सौन्दर्य या सामान्य अलकार मात्र का द्योतक मानते हैं। इनके अनुसार वक्रोक्ति काव्य के लिये आवश्यक तथा इसके द्वारा ही अर्थ रमणीय हो जाता है। इसके अभाव मे कोई अलकार हो नही सकता अतः कवि को इसके लिये यत्न करना चाहिये।[६]

वक्रोक्ति के विषय में सभी आचार्यों ने एक जैसी ही परिभाषा दी है, और इसके श्लेष और काकु वक्रोक्ति दो ही भेद किये हैं।

श्लेष का अभिप्राय है अनेकार्थकवाची शब्द के प्रयोग से। इसमे वक्ता अपनी उक्ति मे ऐसे शब्दो का प्रयोग करता है जो अनेकार्थक होते हैं, उनमे एकाधिक अर्थ-निहित रहते है।

काकु का अर्थ है कंठ ध्वनि विकार या ध्वनिपरिवर्तन कंठ ध्वनि मे परिवर्तन कर देने में वक्ता के कथन का अभिप्राय बदल जाता है। उदाहरणार्थ—

"गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिल ललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ॥

यह नायिका और उसकी सखी के बीच की बातचीत है। नायिका ने निराशापूर्ण भाव से कहा है कि वे गुरुजनों के आज्ञाकारी हैं; उन्हें मेरी चिन्ता नही है, इसलिये वे बसन्त में लौटकर आयेंगे, यह आशा नही है।

१. वाक्यं यत्रान्यथैवोक्तमन्यो व्याकुरुतेऽन्यथा।
काक्वा श्लेषेण वा तस्मात् सा वक्रोक्तिर्दिधा मता॥ —अलकार महोदधि ७/२३

२. यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥ काव्य प्रकाश ९/७८

३. उक्तस्यान्येनान्यथाश्लेषादुक्तिर्वक्रोक्तिः। काव्यानुशासन पृ० २८०

४. काकुवक्रोक्त्यस्तु अलंकारत्वेन न वाच्या, पाठधर्मत्वात् —काव्यानुशासन पृ० २८।

५. तथा च अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः सः
कथमलंकारो स्यादिति यायावरीयः —काव्यानुशासन पृ० २८।

६. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥—काव्यलंकार २/८५

उसकी सखी इसी वाक्य को फिर भिन्न कण्ठध्वनि से बोलती है। तब क्या नही आयेगे का अर्थ अवश्य आयेगे, यह हो जाता है। अतः यह काकु वक्रोक्ति का उदाहरण है।

सभङ्गश्लेष—"त्वं हलाहलभृत् करोषि सहसा मूर्छा समालिङ्गितो

हालां नैव बिभर्मि नैव च हलं मुग्धे ! कथं हालिकः ?

सत्यं हालिकवैव ते समुचिता सक्तस्य गोवाहने
वक्रोक्त्येति जितो हिमाद्रि सुतया स्मेरोअवताद् वः शिवः ॥

इस श्लोक में शिव पार्वती का संवाद है। इसमें प्रथम पंक्ति मे पार्वती का वचन है। उसमे जो 'हालाहल' शब्द आया है वह सर्प के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है उसे शिव ने 'हाला' 'हल' एवं हालिकः तीन टुकड़ो मे विभक्त कर अन्य अर्थ लगा लिये। इस प्रकार ये वक्रोक्ति के द्वितीय उदाहरण श्लेष के अन्तर्गत सभङ्ग श्लेष का उदाहरण होगा।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अभङ्गश्लेष का वही उदाहरण दिया है, जो काव्यप्रकाश में वर्णित है।

"अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित्"॥

यहाँ वक्ता द्वारा कठोर अर्थ मे प्रयुक्त 'दारुणा' पद का वक्ता के अभिप्राय से भिन्न 'काष्ठेन' यह अर्थ लगा लिया है और इस पद का भंग भी नही हुआ है। अतः अभङ्गश्लेषमूलक वक्रोक्ति का उदाहरण है।

पुनरुक्तवदाभास अलंकार

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने वक्रोक्ति के पश्चात् 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार का विवेचन किया है।

जहाँ वास्तविक पुनरुक्ति न होकर पुनरक्ति का आभास मात्र हो वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।

पुनरुक्तवदाभास का अर्थ है पुनरुक्ति के समान आभास। इसमे पुनरुक्ति न होकर पुनरुक्ति की झलक मात्र दिखाई पड़ती है, उसका केवल आभास होता है। पुनरुक्तवदाभास अलंकार मे ऐसे शब्दो का प्रयोग होता है, जो भिन्नार्थक होते हैं तथा उनका स्वरूप भी भिन्न होता है किन्तु उनके अर्थ मे पुनरुक्ति-सा बोध होने लगता है। इसमें पुनरुक्ति का ज्ञान सत्य न होकर मिथ्या होता है और आपाततः पुनरुक्त की प्रतीति होती है। पर अर्थ बोध के पश्चात् पुनरुक्ति का निराकरण हो जाता है, इस प्रकार भिन्न आकार एव अर्थ वाले शब्दो में एकार्थता का ज्ञान ही पुनरुक्तवदाभास अलंकार की विशेषता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि पुनरुक्तवदाभास अलंकार के विषय मे कहते हैं 'जहॉ प्रारम्भ मे एकार्थता का आभास हो वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होगा। यह शब्द और अर्थ दोनो मे हो सकता है।[१]

आचार्य मम्मट के अनुसार भिन्न-भिन्न आकार वाले शब्दों मे एकार्थता का आभास होना ही 'पुनरुक्ता-

---

१. शब्दानामामुखे यस्मिन्नेकार्थत्वावभासनम्।
पुनरुक्तवदाभासम् शब्द शब्दार्थगामि तत्। अलंकार महोदधि ७/२४

वदाभास' है।[१]

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार भिन्न रूप वाले शब्दो की जहाँ एकार्थता प्रतीत हो, किन्तु वास्तव मे पुनरुक्ति न हो वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलकार होता है।[२]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का अनुसरण करते हुये ही पुनरुक्तवदाभास का लक्षण दिया। उनके विवेचन मे किसी नवीनता के दर्शन नही होते है।

पुनरुक्तवदाभास के शब्दलकारत्व अथवा अर्थालकारत्व के सम्बन्ध मे सस्कृत आचार्यो मे मतैक्य नही है। मम्मट विश्वनाथ एव नरेन्द्रप्रभसूरि आदि आचार्यो ने इसकी परिगणना उभयालकार मे की है, जबकि आचार्य हेमचन्द्र इसे शब्दालंकार मात्र ही स्वीकार करते है। मम्मट के अनुसार 'तथा शब्दार्थयोरयम्' यह शब्द एव अर्थ दोनो मे हो सकता है। विश्वनाथ भी यही कहते है कि वस्तुतः यह उभयालकार है—'वस्तुतोऽयमुभयालकारः। नरेन्द्रप्रभसूरि भी 'शब्दार्थगामि तत्' कहकर इसे उभयालंकार की श्रेणी मे रखते है।

मम्मटादि आचार्यो ने इसे 'अन्वयव्यतिरेक' भाव के आधार पर इसे उभयालकार ही स्वीकार किया है।

पुनरुक्तवदाभास का सर्वप्रथम विवेचन उद्भट ने किया। तत्पश्चात् मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र और सूरि आदि आचार्यों ने इसका निरूपण किया।

यह शब्द-परिवर्तन मे भी बना रहता है, इसलिये अर्थालकार है और शब्द-परिवर्तन को न सह सकने के कारण इसे शब्दालंकार कहते है। उदाहरण—

'भुजङ्गकुण्डली व्यक्तः शशिशुभ्रांशुशीतगुः
जगन्त्यपि सदा पायादव्याच्चेतोहरः शिवः ॥

यहाँ 'भुजङ्ग' और 'कुण्डली' शब्दो का अर्थ सर्प है जो पुनुरुक्ति सा प्रतीत होता है किन्तु अन्त मे कुण्डली का अर्थ कुण्डल हो जाता है। इसी प्रकार शशि, शुभ्राशु और शीतगु शब्द चन्द्रवाची है, किन्तु इसके अर्थ भिन्न हैं। इसी प्रकार हरः और शिव मे हर का अर्थ हरने वाला है। इस प्रकार यहाँ एकार्थवाची शब्दो मे सहसा पुनरुक्ति की प्रतीति के कारण पुनरुक्तवदाभास अलकार हुआ।

यहाँ 'भुजङ्गकुण्डली' इन दोनो शब्दो मे भुजङ्ग शब्द ही परिवृत्तिसह शब्द है और हरः, शिवः मे 'शिव' शब्द बदला जा सकता है, किन्तु तब भी यह अलकार अक्षुण्ण ही रहेगा।

'पुनरुक्तवदाभास' शब्दालकार-वर्णन के प्रारम्भ की परम्परा प्राचीन है, क्योकि प्राचीन आलङ्कारिक इसे शब्दालंकार मे ही अन्तर्भूत मान चुके है। परन्तु आचार्य मम्मट ने इस लीक से हटकर 'पुनरुक्तवदाभास' का विवेचन शब्दालंकार के विवचेन मे अन्तिम अलंकार के रूप मे किया है। 'पुनरुक्तवदाभास' की गणना शब्दालकार और अर्थालंकार दोनों मे की जाती है। अतएव शब्दालकारो के अन्त मे और अर्थालकारो के पूर्व मे इसका

---

१. पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा। एकार्थतेव। काव्य प्रकाश ९/११२

२. भिन्नाकृतेः शब्दस्यैकार्थतेव पुनरुक्ताभासः। काव्यानुशासन पृ० २८६

(पुनरुक्तवदाभास) का वर्णन किया गया। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी इसी कारण से शब्दालकार वर्णन मे इसे अन्तिम अलकार के रूप मे निरूपित करते है—'अतएव शब्दालङ्काराणामर्थलङ्काराणा च अन्तराले निवेशित इति ॥"

शब्दालङ्कारो के विवेचन के अन्त मे 'अलकार महोदधिकार' शब्दालकारो की महिमा बखान करते हुये कहते है कि रस विहीन वाणी भी शब्दगत अलकारो को धारण करते हुये उसी प्रकार सुशोभित होती है जैसे कटकादि आभूषणो से अलकृत कठपुतली मन को हरती है।[१]

□□□

---

१. इति शब्दागतामलङ्कृतिं दधती—भात्यरसापि भारती।
कटकादिविभूषणाङ्किताहरते कृत्रिमपुत्रिकाऽप्यलम् ॥ अलकार महोदधि ७

अष्टम अध्याय

अर्थालङ्कार विवेचन

यह तो पहले ही निर्धारित किया जा चुका है कि काव्य-शोभा के उत्कर्षक धर्म अलकार है। काव्य मे वर्णित अलंकार लौकिक अलंकारो की भॉति कविता-कामिनी का शोभावर्धक तत्व सिद्ध होता है। जिस प्रकार लौकिक अलकार रमणी के शरीर को अलकृत करता है उसी प्रकार काव्यालकार भी कविताकामिनी का सौन्दर्यवर्धन कर उसे रमणीय और चमत्कारपूर्ण बनाते है। फलत: अलकार वाणी या सरस्वती के शृंगार के रूप में मान्य हैं। तभी तो आचार्य सूरि शब्दालकारो के निरूपण के अनन्तर अर्थालंकारो के प्रारम्भ मे कहते हैं कि शब्दालकार सरस्वती के एक कुण्डल के समान है, द्वितीय कुण्डल के लिए अर्थालकारों का वर्णन करते है।[१]

कवि प्रतिभा से उद्भूत कथन विशेष ही अलकार है।

जहाँ अर्थगत चमत्कार पाया जाये वहाँ अर्थालकार है, इसमे अर्थ की प्रधानता रहती है। अर्थालकार मे शब्द परिवर्तन होने पर भी अर्थ के कारण चमत्कार विद्यमान रहता है, यही इसका प्रमुख वैशिष्ट्य है।

भरत भामह से लेकर अद्यावधि तक सभी आलंकारिकों ने अर्थालंकारों का विवेचन किया। आचार्य भरत द्वारा उल्लिखित चार अलंकारों मे से यमक को छोड़कर शेष तीन अलकारो मे अर्थगत सौन्दर्य होने से अर्थालंकार है। भामह ने ३८ अलंकारो का वर्णन किया है जिसमे ३६ अर्थालकार हैं। मम्मट ने ६१ अर्थालकारो का वर्णन किया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने ७० अर्थालंकारो को स्वीकार किया है—अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, संशय, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति, श्लेष, विरोध, असंगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य, विशेष, कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, परिवृत्ति, परिसख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवद् प्रेयस्, उर्जस्वि, समाहित, संसृष्टि और सङ्कर।

इन ७० अलंकारों में से ६१ अर्थालंकारों का निरूपण काव्य प्रकाश मे हुआ है, शेष, जिन ९ अलंकारों

---

१. शब्दालंकृतिभिः कामं सरस्वत्येककुण्डला।
द्वितीयकुण्डलार्थं तद् ब्रूमोऽर्थालंकृतीरिमाः॥ अ० महो० ८। १।

का वर्णन हुआ है वे है,—उल्लेख, परिणाम, विकल्प, अर्थापत्ति, रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि और समाहित। रसवदादि अलकारो को नरेन्द्रप्रभसूरि ने सिद्धान्त रूप मे स्वीकार नही किया है, कुछ लोगो ने प्रतिपादन किया है, अत· उन्होने भी रसवदादि का वर्णन कर दिया।[१]

अर्थालकारो के निरूपण के प्रसग मे आचार्यो ने सर्वप्रथम उपमा अलकार का निरूपण किया है और उसे ही अर्थालकारों का मूल माना।[२] किन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्वप्रथम अतिशयोक्ति का विवेचन करते हुए उसे समस्त अलकारों का प्राणभूत कहा।[३]

मम्मट और रुय्यक से प्रभावित होते हुये भी आचार्य सूरि सरल और सुबोध शैली को हृदयङ्गम करते हुए अर्थालंकारों का सविस्तार निरूपण करते है। कही-कही अलकारो के भेद-प्रभेद के विषय मे स्वतत्र मंतव्य का भी परिचय दिया है। मम्मट और रुय्यक के साथ-साथ आचार्य भोज की अलकार मान्यताओ का विशेष स्थलो पर अनुमोदन किया है, अनेक अलकारो के उदाहरण 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से उद्धृत है।

आचार्य सूरि ने **'अलंकारों के वर्गीकरण'** का आधार रुय्यक से ही ग्रहण किया है।

अलंकारो के वर्गीकरण का मूलस्रोत तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे अंकुरित होता है परन्तु पुष्पित, पल्लवित करने का श्रेय रुद्रट और रुय्यक को ही जाता है।

अलंकारों के वर्गीकरण की दिशा में भामह का कार्य प्रारम्भिक प्रयास के रूप मे मान्य है। यहॉ शब्द और अर्थ के प्राधान्य के आधार पर अलंकारो को दो वर्गों मे विभाजित किया गया। उनके मतानुसार काव्य मे शब्दालंकार और अर्थालंकार समान रूप से उपयोगी है।

अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयास सर्वप्रथम रुद्रट ने किया। रुद्रट के अनुसार भाषा को अलंकृत करने के लिए अर्थात् शब्दार्थ की रमणीयता या चारुता के लिये 'वास्तव', 'औपम्य', 'अतिशय' और 'श्लेष' इन चार आधारों का आश्रय लिया जाता है।[४] वास्तव का लक्षण उन्होने यह किया है कि पुष्टार्थ, अविपरीत और जो सादृश्य अतिशय और श्लेष से भिन्न हो उस वस्तु स्वरूप कथन को वास्तव कहते हैं।[५]

वास्तव वर्ग मे रुद्रट ने सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली—इन २२ अलंकारों का समावेश किया है।

---

१. अलंकार महोदधि ८/ ८५-८६।

२. उपमैवानेक प्रकार वैचित्र्येणानेकालकार बीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा।—अलकार सर्वस्व।

३. सर्वालंकारचैतन्यभूतत्वात् प्रथममतिशयोक्ति विशेषतो लक्षयति॥

४. अर्थस्यालंकाराः वास्तवमौपम्यतिशयः श्लेष·।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ काव्यालंकार ७। ९।

५. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथन यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयश्लेषम्॥ काव्यालंकार ७। १०।

प्रस्तुत वस्तु के स्पष्ट परिज्ञानार्थ समान वस्तु के वर्णन को 'औपम्य' कहते हुये[1] इसके अन्तर्गत २० अलंकारो की गणना की। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, सशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्वसहोक्ति, पूर्व समुच्चय, साम्य और स्मरण।

'अतिशय' से रुद्रट का आशय अर्थ और धर्म के विपर्यय से है जिसमे लोकातिक्रान्तता रहती है।[2] इस वर्ग के अलंकारो मे पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्‌गुण, अधिक, विरोध, विषम, असगति, पिहित, व्याघात, और अहेतु इन १२ अलंकारो की गणना की। 'श्लेष' को परिभाषित करते हुए रुद्रट ने कहा कि अनेकार्थक पदो से रचित एक वाक्य अनेक अर्थो का बोध कराता है।[3] इस वर्ग मे १० अलंकारो का विवेचन किया गया। अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास। इस तरह रुद्रट ने समस्त अलकारो को चार वर्गों मे विभक्त किया।

आलोचको ने रुद्रट के इस वर्गीकरण को महत्त्वपूर्ण तो बताया मगर फिर त्रुटिपूर्ण कहा—उन्होने कई अलंकारो को दो-दो वर्गो मे स्थान देकर इस विभाजन की अपूर्णता का परिचय दिया।

रुद्रट के पश्चात् भोज ने शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालकार के रूप मे प्रत्येक के २४ भेदो का निरूपण कर ६२ अलंकारो का वर्णन किया। इनका वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण स्थान नही प्राप्त कर सका।

रुद्रट के अनन्तर उद्‌भट ने भी अलकारो को ६ वर्गो मे विभक्त कर ३६ अलकारो का निरूपण किया परन्तु उन्होने वर्गों का नामकरण नही किया। प्रथम वर्ग, द्वितीय वर्ग—इसी तरह से उनकी अध्यायान्त मे दी गयी पुष्पिका से वर्ग विभाग प्रतीत होता है।

अलंकारों के शब्दगत और अर्थगत-विभाजन के नियामक तत्त्वो मे दो सिद्धान्त प्रसिद्ध है—आश्रयाश्रयिभाव और अन्वयव्यतिरेकभाव। इनमे प्रथम के उद्‌भावक आचार्य हैं—राजानक तिलक और दूसरे के आचार्य मम्मट। मम्मट ने अलंकार के शब्दत्व और अर्थत्व के निर्णय के आधारभूत नियामक तत्त्व में अन्वयव्यतिरेक का निरूपण किया।[4] मम्मट के अनुसार यदि किसी शब्द-विशेष के रहने पर किसी अलकार-विशेष गुण एवं दोष का भी चमत्कार अक्षुण्ण रहे या उस अलंकार की स्थिति बनी रहे और उसके शब्द के न रहने पर अलंकार का अस्तित्व नष्ट हो जाये तो वहॉ शब्दालंकार होगा। यदि किसी शब्द के बदले मे उसका समानार्थक शब्द रख दिया जाये और काव्य मे उसका चमत्कार नष्ट न हो तो, अर्थालकार होगा। जिसके रहने पर जो रहे उसे अन्वय कहते हैं—यत्सत्वे यत्सत्वमन्वयः। जिसके न रहने पर कोई पदार्थ न रहे तो उससे व्यतिरेक कहा जायेगा। यदभावे

---

१. यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धबाधाद् विपर्यय याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोक स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥ वही ९। १।

२. यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्ध बाधाद् विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥ वही ९। १।

३. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकास्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः सः विज्ञेयः॥ वही १०। १।

४. इह दोषगुणलंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभाग· सोप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। काव्यप्रकाश, पृ० ४२३
योऽलंकारो यदीयावन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारः। वही पृ० ५६५।

यदभावो व्यतिरेकः। रुय्यक ने अलकारो के भेदकत्व के रूप मे 'आश्रयाश्रयिभाव' के सिद्धान्त का समर्थन कर बताया कि जो अलकार जिस पर आश्रित होगा, वह उसका अलकार होगा।[१] योऽलकारो यदाश्रितः स तदलकार। इस मत मे जो अलकार शब्दाश्रित है वे शब्दालकार होगे। जो अर्थ पर आश्रित है वे अर्थालकार होगे। जो दोनो पर आश्रित है वे उभयालकार की श्रेणी मे रखे जायेगे।

काव्यप्रकाशकार आश्रयाश्रयिभाव के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते है, उनके अनुसार आश्रयाश्रयिभाव भी अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही निर्धारित होता है, क्योकि यदि अन्वय-व्यतिरेक न माना जाये तो किन्ही दो पदार्थो मे आश्रयाश्रयिभाव का निर्णय नही हो सकता, अतः आश्रयाश्रयिभाव की अपेक्षा अन्वय-व्यतिरेक को ही शब्दनिष्ठतादि का नियामक मानना उचित है।[२] परन्तु रुय्यक ने कहा कि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अलकार की कार्यता का भले ही निश्चय हो, मगर उससे अलंकारत्व का निश्चय नही हो सकता।[३]

अलकारो के वैज्ञानिक विभाजन की दृष्टि से उनके समकोटिक आधारो का अन्वेषण कर रुय्यक के महत्त्वपूर्ण कार्य को ही आलोचको ने महत्त्व दिया। रुय्यक ने अर्थालंकारो के पॉच वर्ग किये और उनके अवान्तर भेदो का उल्लेख किया—

(१) **सादृश्यवर्ग**—अलकारो के विभाजन का प्रथम आधार सादृश्य है, जो चार प्रकार का है—भेदाभेदतुल्य, अभेदप्रधान, भेद प्रधान और गम्यौपम्यमूलक।

भेदाभेद प्रधान सादृश्यमूलक मे उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा और स्मरण मे ४ अलकार है। अभेद प्रधान मे रूपक, परिणाम, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति ये आठ अलकार है।

भेदप्रधान सादृश्य मे व्यतिरेक, विनोक्ति और सहोक्ति ये तीन अलंकार है। गम्यौपम्यमूलक भेद मे तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना ये पॉच अलंकार है।

(२) **विरोध वर्ग**—इस वर्ग मे ११ अलकार है—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विषम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात।

(३) **शृंखलामूलक**—इस वर्ग मे चार अलकार रखे गये। कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(४) (क) **तर्कन्यायमूलक**—इस वर्ग मे काव्यलिंग और अनुमान दो ही अलकार है।

(ख) **काव्यन्यायमूलक** (वाक्यन्यायमूलक)—यथासख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि।

---

१. अलकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः।
आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्॥ अ० स० पृ० १२४।

२. **योऽलंकारो यदाश्रितः** स तदालकार इत्यपि कल्पनायम् अन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ तदाश्रयणमन्तरेण **विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावात्।**
इत्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्। का० प्र०, पृ० ५६७।

३. **अन्वयव्यतिरेकौतु तत्कार्यत्वे** प्रयोजकौ न तदलकारत्वे तदलकार प्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालकारत्व प्रसगात्।
अलंकार-सर्वस्व, पृ० २५६, २५७।

(ग) **लोकन्यायमूलक**—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्‌गुण, अतद्‌गुण और उत्तर।

(५) **गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक**—इस वर्ग मे सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति ये तीन अलकार आते है।

यद्यपि इसमे वैज्ञानिक रीति अपनायी गयी, फिर भी इसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योकि स्वाभाविक, उदात्त, भाविक, सकर, ससृष्टि, रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि और समाहित अलकारो को किस वर्ग मे रखा जाये ? इन अलकारो को आचार्य ने अवर्गीकृत ही रखा है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अलकारो के त्रैविध्य का खण्डन करते हुये उभयालकार की अलग कोटि को अस्वीकार कर दिया। उनके अनुसार, जहॉ शब्दालकार और अर्थालकार दोनो विद्यमान हो, वहॉ किसी एक का ही वैचित्र्य अधिक उत्कट रहेगा, अत: अलकारो का द्विविध विभाजन अधिक समीचीन है, यद्यपि उन्होने पुनरुक्तवदाभास और अर्थान्तरन्यास को उभयालंकार माना है।[१]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने ६ शब्दालकारो के निरूपण के पश्चात् अर्थालकारो का निरूपण किया।[२]

इन्होने अर्थालंकारो मे सर्वप्रथम अतिशयोक्ति अलकार का वर्णन किया और सभी अलकारो के मूल मे अतिशयोक्ति को ही स्वीकार किया।[३] इस आधार पर प्रारम्भिक २८ अलकारो को अतिशयोक्तिमूलक माना जा सकता है। इसके बाद वर्णित अलकारो का वर्गीकरण नामोल्लेखपूर्वक किया गया। इस तरह आचार्य सूरि के सभी अलंकारो को छह वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

(१) **अतिशयोक्तिमूलक**—अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, सशय, भ्रान्तिमान, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति और श्लेष।

(२) **विरोधमूलक**—विरोध, असगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य और विशेष।

(३) **श्रृंखलामूलक**—कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिग और अनुमान।

(४) **विशिष्ट वाक्य सन्निवेशमूलक**—यथासंख्या, परिवृत्ति, परिसख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय और समाधि।

(५) **लोकन्यायमूलक**—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त।

(६) **रसवदादि**—रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि, समाहित, संसृष्टि, संकर।

आचार्य सूरि का वर्गीकरण रुय्यक से ही प्रभावित है। रुय्यक ने जिन अलंकारो के मूल मे सादृश्य को

---

१ काव्यानुशासन। पृ० ३१५।

२. शब्दालंकृतिभि· काम सरस्वत्येककुण्डला।
द्वितीयकुण्डलार्थं तद् ब्रूमोऽर्थालकृतीरिमा:॥ अलकार महोदधि ८। १।

३. तामेतां सर्वामप्यतिशयोक्तिं वदन्ति विद्वासो ब्रुवते। अलंकार-महोदधि, पृ० २३१।

स्वीकार किया है, वही नरेन्द्रप्रभसूरि ने उनके मूल मे अतिशयोक्ति माना है। रुय्यक ने रसवदादि अलकारो को अवर्गीकृत रखा है , वही महोदधिकार ने उन्हे रसवदादि की सज्ञा से अभिहित किया है।

अलकारो के वर्गीकरण के आधार पर ही उनके स्वरूप निरूपण के क्रम को अपनाया गया है।

अतिशयोक्ति

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने परम्परा से हटकर अर्थालङ्कारो की विवेचन प्रक्रिया मे सबसे पहले अतिशयोक्ति का वर्णन किया है तथा उसे सभी अलकारो का चैतन्य रूप माना है।[१]

प्राचीन विद्वानो ने अतिशयोक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 'भामह' कहते है "यह सभी अतिशयोक्ति वक्रोक्ति है। इसी से काव्य के अर्थ को चमत्कार-विशेष से युक्त किया जाता है। कवियो को इसके विषय मे यत्न करना चाहिए इसके बिना कौन अलकार है"।[२]

"दण्डी वाक्पति से प्रशसित इस अतिशय नामक उक्ति को अन्य अलङ्कारो का भी एकमात्र आश्रय कहते हैं।"[३]

भोजराज भी दण्डी के इस श्लोक को उद्धृत करते है।

ध्वन्यालोककार ने सभी अलकारो को अतिशयोक्तिगर्भ माना है। उनका कहना है कि "महाकवियो द्वारा अतिशयोक्ति का प्रयोग अपूर्व काव्य सौन्दर्य का पोषण करता है। अतिशय का योग यदि विषय के औचित्य को दृष्टि मे रखकर किया जाता है तो वह काव्य मे उत्कर्ष का आधान करता है। भामह की सैषा सर्वैव उक्ति का उद्धरण देते हुए उन्होने यह प्रतिपादित किया कि जहॉ किसी अलकार मे अतिशय का योग हो जाता है तो कवि प्रतिभा का संस्पर्श पाकर काव्य का सौन्दर्य अतिशयित हो जाता है। इसके अभाव मे अलंकार, अलङ्कार मात्र बनकर ही रह जाता है। उनके अनुसार सभी अलंकारों के स्वरूप मे समाविष्ट हो सकने के कारण अतिशयोक्ति को अभेदोपचार से सर्वालंकार रूप कहा जा सकता है।"[४]

"मम्मट ने विशेषालङ्कार के प्रकरण मे अतिशयोक्ति के विषय मे कहा है कि ऐसे सभी विषय मे अतिशयोक्ति ही प्राणरूप से अवस्थित रहती है, क्योकि बिना उसके प्रायः अलंकारत्व नही होता"।[५]

हेमचन्द्र ने भी काव्य प्रकाश के ये शब्द ज्यों के त्यो उद्धृत किये हैं।

यह अतिशयोक्ति स्तवन भामह आदि के अनुसार लोकातिक्रान्तगोचर वचन की ही है।आधुनिक लक्षण के अनुसार नहीं।

---

१. सर्वालङ्कार चैतन्यभूतत्वात् प्रथममतिशयोक्तिम् विशेषतो लक्षयति। अलकार महोदधि पृ० २२८।

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना॥ २। ८५।

३. काव्यादर्श—२। २२०।

४. ध्वन्यालोक पृ० ४६५-४६८।

५. "सर्वत्रैवंविधे विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते।
ता विना प्रायेणलङ्कारत्वायोगात्॥ काव्य प्रकाश पृ० ४४९।

भामहादिक आचार्यो द्वारा प्रशसित अतिशयोक्ति और अर्वाचीन आचार्यो द्वारा अलकार रूप मे निरूपित अतिशयोक्ति मे वस्तुत: जो भेद है उसके सम्बन्ध मे डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी (अलकारसर्वस्व मीमासा) का मत सगत प्रतीत होता है। "आनन्द की ही भाँति कतिपय आचार्य सभी अलकारो को अतिशयोक्ति का ही भेद मानने की भूल करते आये है। उन्होने भामह की **'कोऽलङ्कारोऽनया विना'** इस पक्ति का अर्थ यही समझा कि अतिशयोक्तिरूप अलकार—एक विशेष अलकार ही सब अलकारो के मूल मे है। अतिशयोक्ति का प्रयोग दो रूपो मे किया जा सकता है, एक तो लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति तथा दूसरे एक अलकार विशेष के रूप मे। अपने प्रथम अर्थ मे, जिसके अनुसार अतिशयोक्ति एक सामान्य काव्य तत्त्व है, शेष अलकारो को उसका भेद नही माना जा सकता। अतिशयोक्ति का दूसरा प्रयोग एक विशेष अलंकार के रूप मे होता है।"

अतिशयोक्ति अलंकार मे दो शब्द है 'अतिशय' और 'उक्ति' जिसका अर्थ है अतिशय कथन। इस अलकार मे किसी कथन को बढ़ा-चढ़ा कर या लोकसीमा का उल्लघन कर कहा जाता है। अतिशयोक्ति मे उपमान के द्वारा ही उपमेय का ज्ञान होता है। उपमान के साथ उपमेय का अभेदत्व ही अतिशयोक्ति मे अतिशय कथन है। किसी भी विषय का लोकातीत वर्णन करने से उसमे अधिक चमत्काराधान होता है। इस अलकार मे समस्त लौकिक सीमाओं को तोड़कर कल्पना शक्ति का पूर्णत: उपयोग करने का अवसर कवि को होता है। इसमे सादृश्य या समानता चरम सीमा पर पहुँच जाती है और समानता का तत्त्व गौण पड़ जाता है तथा अतिशयता की ही प्रधानता हो जाती है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अतिशयोक्ति के लक्षण मे लोकसीमोल्लघन की बात कही है। तथा अतिशयोक्ति के सात भेदों का कथन किया है। भेद मे अभेद, अभेद मे भेद, सम्बन्ध मे असम्बन्ध, असम्बन्ध मे सम्बन्ध और भोजराज द्वारा स्वीकृत गुणातिशयोक्ति तथा क्रियातिशयोक्ति तथा कार्यकारण के पूर्वापरक्रम का विपर्यय।[१]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अतिशयोक्ति अलकार को सभी अलंकारो का प्राणस्वरूप स्वीकार किया तथा प्राचीन अलङ्कारिको का अनुसरण करते हुये उसके विभिन्न भेदोपभेद का कथन किया।

अतिशयोक्ति के स्वरूप विकास मे मम्मट का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इन्होने इसे सर्वातिशायित्व एव सर्वत्रव्यापकत्व से हटाकर निश्चित सीमा मे निबन्द्ध किया। इनके द्वारा उपमान द्वारा उपमेय के निगरण, प्रस्तुत के अन्य रूप से वर्णन, तथा यदि के समानार्थक शब्द लगाकर कल्पना करने और कार्य कारण के पौर्वापर्य विपर्यय मे अतिशयोक्ति होती है।[२] यद्यपि इन्होने अतिशयोक्ति का कोई सामान्य लक्षण नही दिया तथापि इसमे चार

---

१ भेदे वा सत्यभेदे वा प्रस्तुताप्रस्तुतात्मनाम्।
सम्बन्धे वाऽप्यसम्बन्धे यो भवेत् तद्विपर्ययः॥ २ ॥
गुणानां च क्रियाणां च लोकसीमातिवर्तिनी।
प्रगल्भप्रतिभोल्लासादुत्कर्षभणितिश्च या॥ ३ ॥
पौर्वापर्यविपर्यासो यश्च कारण-कार्ययोः।
वदन्त्यतिशयोक्तिं तां सर्वालङ्कारजीवितम्॥ ४ ॥ अलकार महोदधि ८-२-३-४।

२. निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तो च कल्पनम्॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा॥ काव्य प्रकाश १०-१००-१०१।

तत्त्वो का समावेश कर इसके विकास मे नया मोड़ ला दिया।

हेमचन्द्र ने भेद-अभेद, अभेद-भेद, सम्बन्ध-असम्बन्ध और असम्बन्ध-सम्बन्ध इन चार को ही अतिशयोक्ति माना है। तथा सामान्य, मीलित, एकावली निदर्शना एव विशेषादि अलकारो का इसी मे अन्तर्भाव बताया है।[१]

रुय्यक ने अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण प्रस्तुत करते हुये अध्यवसाय को इसका आधार बनाया। इनके अनुसार उत्प्रेक्षा साध्य अध्यवसाय है और अतिशयोक्ति सिद्ध अध्यवसाय। उत्प्रेक्षा मे चल रही निगरण की प्रक्रिया का अतिशयोक्ति में आकर अन्त हो जाता है। यहाँ केवल विषयी या उपमान मात्र बचा रहता है। विषय का विषयी द्वारा निगरण हो जाता है। इसीलिये रुय्यक का कथन है कि अतिशयोक्ति मे अध्यवसाय की प्रधानता होती है।[२] "अध्यवसाय उस प्रक्रिया को कहते है जिसमे विषयी द्वारा विषय का निगरण होता है।"

रुय्यक ने भी इसके पाँच भेदो का उल्लेख किया है—भेद मे अभेद, अभेद मे भेद, सम्बन्ध में असम्बन्ध, असम्बन्ध मे सम्बन्ध तथा कार्यकारण के पूर्वापरक्रम का विपर्यय।

अलकार महोदधिकार ने पूर्वाचार्यो द्वारा मान्य अतिशयोक्ति के स्वरूप को ही स्वीकार किया है। हाँ अतिशयोक्ति के भेदो की संख्या के विषय मे पूर्वाचार्यो से वैमत्य हैं। आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र द्वारा कथित अतिशयोक्ति के चार रूप ही हमारे समक्ष आते है। आचार्य रुय्यक और रुय्यक का ही अनुसरण करने वाले आचार्य विश्वनाथ अतिशयोक्ति के पाँच भेदो का वर्णन करते है। जबकि आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक द्वारा मान्य पाँच भेदो मे भोज द्वारा स्वीकृत गुण और क्रिया रूप अतिशयोक्ति का समावेश करते हुये उसके सात भेदो को स्वीकार करते हैं। आचार्य सूरि ने अपने अतिशयोक्ति मे प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यो के समन्वित रूप को दर्शाया है। अतिशयोक्ति के अन्त मे पुनः उसे सभी अलकारो मे श्रेष्ठ[३] कहते हुये भामह की 'सैषा सर्वाऽपि' उक्ति का उद्धरण देते हैं।

सहोक्ति

अर्थालङ्कारो के वर्णन के प्रारम्भ मे अतिशयोक्ति का निरूपण करने के पश्चात् 'अतिशयोक्तिसब्रह्मचारिणी' सहोक्ति का वर्णन किया है।

जहाँ 'सह' अर्थबोधक शब्दो के द्वारा एक ही शब्द दो अर्थो का वाचक हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

सहोक्ति का अर्थ है सह + उक्ति अर्थात् एक साथ कहना। इसमे सहभाव की उक्ति या साथ होने

---

१. 'विशेष विवक्षया भेदाभेद योगयोगत्यत्ययोऽति॒शयोक्ति ॥'
एवं विधे च सर्वत्र विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगादिति न सामान्य मीलितैकावली-निदर्शनाविशेषाद्यलंकारोपन्यास श्रेयान्।"काव्यानुशासन। षष्ठ अध्याय।

२. अध्यवसित् प्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः। अध्यवसाने त्रयं सम्भवति-स्वरूप, विषयो विषयी च विषयस्य हि विषयिणाऽन्तर्निगीर्णत्वे अध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम् सिद्धत्वे त्वध्यवसित प्राधान्यम्। विषय प्राधान्यमध्यवसायेनैव सम्भवति। अलंकार सर्वस्व पृ० ८३।

३ अलङ्कारा हि सर्वेऽप्यनयैव स्फुद्रूपाः क्रियन्ते। एता विना तु प्रमीतकल्पा एव॥ अलंकार महोदधि पृ० २३१।

का कथन किया जाता है। सहभावस्योक्ति, सहोक्ति—हेमचन्द्र। सहोक्ति मे एक अर्थ प्रधान होता है और दूसरा गौण, किन्तु दोनो ही अर्थ एक ही क्रिया से अन्वित होते है। इसके बीजरूप मे सदा अतिशयोक्ति पायी जाती है।

सहार्थ विवक्षा मे चमत्कार होने पर ही सहोक्ति का अलकारत्व फलित होता है। इसमे औपम्यगम्य होता है, अतः ये गम्यौपम्याश्रय अलकार है। कभी-कभी सहवाचक जैसे साक, सार्द्ध, सम, सजुः इत्यादि के अभाव में भी सहार्थ विवक्षा मे यह अलकार माना जाता है।

सहोक्ति की आधारशिला व्याकरणिक प्रयोग है। पाणिनि के सूत्र सहयुक्तेऽप्रधाने अष्टाध्यायी २। ३। १९ पर ही यह अलंकार अधिष्ठित है। इसका अर्थ हुआ सह अर्थ के योग मे तृतीया विभक्ति होती है। किसी वाक्य मे एक क्रिया के साथ दो पदार्थो का सम्बन्ध होने पर जो सह अर्थ से सम्बद्ध होगा उसमे तृतीया विभक्ति होगी और वह गौण होगा किन्तु जिसका सम्बन्ध प्रथमा विभक्ति से होगा वह प्रधान होगा। सहोक्ति अलकार में भी यही भाव होता है उसमे प्रायः उपमान गौण होता है और उपमेय प्रधान।

जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी पूर्व परम्परा का अनुसरण करते हुये ही सहोक्ति का लक्षण दिया है। सूरि के अनुसार 'सह' अर्थ के योग मे जो मुख्य (वर्ण्यमान प्रधानकारणभूत) और अमुख्य अप्रधान कार्यभूत की जो गुण क्रिया रूप एकधर्मता है उसे ही सहोक्ति कहते है।[1] इन्होने गुणरूप धर्म और क्रियारूप धर्म के भेद से दो प्रकार की सहोक्ति बतायी है।

सहोक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध अलङ्कार है। नरेन्द्रप्रभसूरि के पूर्व भी सभी प्राचीन आचार्यो ने सहोक्ति का निरूपण किया है।

सहोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। भामह के अनुसार जब एक ही समय मे दो वस्तुओं से दो क्रियायें सम्बद्ध हो और वे एक ही पद से कही जायें तो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।[2] दण्डी ने स्पष्ट रूप से अपने लक्षण में सहभाव का निर्देश किया। उनके अनुसार गुण, क्रिया तथा द्रव्य का सहभाव से कथन करने को सहोक्ति कहते हैं।[3]

मम्मट के अनुसार जहाँ 'सह' शब्द के अर्थ बल से एक पद, दो अर्थो का वाचक हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होगा।[4]

रुय्यक का सहोक्ति निरूपण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने सहोक्ति के स्वरूप निर्देशन, भेद कथन तथा उसकी अतिशयोक्तिमूलकता का निर्देश कर नवीन विचार दिया। इन्होने बताया कि एक उपमान और उपमेय दोनों

---

१. सहार्थयोगे या मुख्यामुख्योरेकधर्मता।
क्रोड़स्यातिशयोक्तिः सा सहोक्तिरिति विश्रुता॥ अलंकार महोदधि ८। ५।

२. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सहोक्तिः सा मता मया॥ काव्यालंकार ३। ३९।

३. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम्। काव्यादर्श, २। ३५१।

४ सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचिकम्॥ काव्यप्रकाश १०। ११२।

मे से एक के प्रधानतया निर्दिष्ट रहने पर होती है तथा दूसरा 'सह' शब्द के योग से उसके साथ सम्बद्ध रहता है।[१] इन्होने इसमे अतिशयोक्ति का रहना आवश्यक माना है। सहोक्ति के स्वरूप निर्देशन मे आचार्य सूरि, मम्मट और हेमचन्द्र की अपेक्षा रुय्यक से ज्यादा प्रभावित है। हेमचन्द्र के अनुसार, जहाँ सह शब्द के अर्थबल से क्रिया तथा गुण का अनेक वस्तुओ मे अन्वय प्रतिपादित किया जाता है, वहाँ सहोक्ति नामक अलकार होता है।[२]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने सहोक्ति को 'अतिशयोक्ति सब्रह्मचारिणी' व 'क्रोडस्थातिशयोक्ति' सम्बोधन द्वारा सहोक्ति को अतिशयोक्तिमूलकता को स्वीकार किया है। सहोक्ति के मूल मे अतिशयोक्ति रहती है या नही इसके सम्बन्ध मे मम्मट के काव्य प्रकाश मे कोई सकेत नही है। सहोक्ति का क्रियारूप धर्म का उदाहरण है—

कोकिलालापमधुराः सुगन्धिवनवायवः ।
यान्ति सार्धं जनानन्दैर्वृद्धिं सुरभिवासराः ॥

यहाँ पर 'सुरभिवासरा' इस कर्तृ पदार्थ का 'जनानन्द' के साथ वृद्धि प्राप्ति क्रिया रूप एक धर्म होने से सहोक्ति अलंकार है।

उपमा

भरत से लेकर अर्वाचीन आचार्यो ने किसी न किसी अलकार की प्रधानता स्वीकार की। भरत ने अलकारो की गणना में उपमा को सर्वप्रथम रखना उचित समझा था।[३]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'सर्वालंकार चैतन्यभूत' कहकर अतिशयोक्ति को विशेष महत्त्व दिया। परन्तु 'सकलालंकार बीजभूतामुपमां' कहकर उपमा के महत्त्व को भी स्वीकार किया। महिमभट्ट ने 'सर्वेष्वलकारेषूपमा जीवितायते' कहकर उपमा की महिमा स्वीकार की है। रुय्यक ने अनेक स्थलो पर उपमा को अर्थालकारो का मूल तत्त्व मानने का निर्देश किया है।[४] राजशेखर ने तो उपमा को कवियो की माता, काव्यसर्वस्व तथा अलंकार शिरोरत्न तक कहा है।[५] अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन आलकारिको ने उपमा के अनेक भेदोपभेद करके उसी मे अनेक अलंकारो का अन्तर्भाव कर इसी बात का परिचय दिया है कि यही काव्यालंकारो का जीवातु है।—**'प्राणत्वेनावतिष्ठते'**।[६] रुय्यक ने घोषणा की है—'उपमैवानेकालकारबीजभूता'।

उपमा के स्वरूप निर्माण मे सभी आलकारिको ने सादृश्य, साम्य एव साधर्म्य मे से किसी एक शब्द का प्रयोग किया है। मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि ने साधर्म्य शब्द का प्रयोग कर उपमा के स्वरूप का निरूपण किया।

---

१. उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्ति । अलकार सर्वस्व। पृ० १०३।

२. सहार्थबलाद्धर्मस्यान्वय. सहोक्तिः धर्मस्य क्रियागुणलक्षणस्य सहार्थसामर्थ्याद्योन्वय. प्रतिपाद्यतेऽर्थादनेकेषु वस्तुषु सा सहोक्तिः। काव्यानुशासन पृ० ३२७।

३. नाट्यशास्त्र १६।४३।

४. अलंकार सर्वस्व।

५ अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्व काव्यसम्पदाम्।
उपमाकविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥ अलकार शेखर पृ० ३२।

६. काव्य प्रकाश पृ० ३४३।

उपमा की प्राचीनता असदिग्ध है क्योकि सस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद मे उपमा के प्रचुर उदाहरण मिलते है। उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थो मे भी इसके उदाहरण विद्यमान है।

उपमा का शाब्दिक अर्थ है—सादृश्य, समानता एव तुल्यता आदि 'उपसमीप्यात् मान इत्युपमा' अर्थात् समीपता के कारण किया गया मान। इसमे दो पदार्थो को समीप रखकर तुलना की जाती है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सादृश्य स्थापित किया जाता है। उपमा अलंकारो का औपम्य, अलकारो का विशेष तत्त्व है जो सभी अलंकारो मे तो नही पर कुछ अलकारो मे पाया जाता है। औपम्य के द्वारा कवि एक वस्तु से स्वरूपतः समान दूसरी वस्तु का बिम्ब उपस्थित कर देता है।[१] मुख के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि कमल, चन्द्र आदि ऐसी वस्तुओ से मुख का सादृश्य बताता है, जो लोक मे अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है।

औपम्य के लिये यह आवश्यक माना गया है कि उपमान सदा प्रतीत या प्रसिद्ध ही होना चाहिए। सर्वथा अप्रतीत या अप्रसिद्ध वस्तु से सादृश्य सहृदय की अनुभूति का स्पर्श नही कर सकता। उपमा का चमत्कार केवल काव्यशास्त्र या साहित्य मे ही नही देखा जाता अपितु लोक मे भी इसका महत्त्व है। उपमा मन की अति सरल प्रक्रिया है। सहजता एवं सरलता के कारण ही सभी सादृश्यमूलक अलंकारो में इसकी लोकप्रियता सर्वाधिक है।

इस प्रकार आलंकारिको ने उपमा को अत्यन्त गौरवशाली पद प्रदान किया। भारतीय काव्य शास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था मे ही उपमा को उचित महत्त्व प्राप्त हो गया था।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि मनोहारी साधर्म्य के कारण अपमेय एव उपमान मे भेदाभेद तुल्यत्व प्रदर्शन को उपमा अलंकार कहते हैं।[२] वे उपमा अलकार को रूपक आदि अलकारो का उपादान कारण अर्थात् समवायि कारण मानते हैं।[३] नरेन्द्रप्रभसूरि से पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण पर विचार करना सगत है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उपमा की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा भरत ने ही की है।[४] नाट्यशास्त्र मे समानगुणाकृति के आधार पर सादृश्य मात्र को ही उपमा माना गया।

भरत के बाद भामह ने उपमा के अन्तर्गत देश, काल एव क्रिया आदि के आधार पर-उपमान एव उपमेय मे गुण लेश से साम्य स्वीकार किया।[५] अभिप्राय ये है—यद्यपि उपमान और उपमेय न एक स्थान के ही होते हैं, न एक काल के, और न उनकी क्रियाये ही समान होती हैं, तथापि किंञ्चित्मात्र गुण की समानता के कारण

---

१. सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥ काव्यालकार, ८। १।

२. यदुत्कर्षवताऽन्येन तत्स्वरूपप्रतीतिकृत।
भेदाभेदे मनोहारि साधर्म्यं वर्ण्यवस्तुनः॥ अलकार महोदधि ८। ७।

३. सर्वालङ्कृत्युपादानकारणं सोपमा स्मृता।
सर्वासां रूपकाद्यलङ्कृतीनामियमेवोपादानकारण समवायि कारण् भूतेत्यर्थ। अलकार महोदधि, पृ० २३५।

४. यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया। ना०शा० १६। ४१।

५. विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥ काव्यालंकार २। ३०।

उनकी परस्पर तुलना ही उपमा है, अत· उपमेय एव उपमान मे थोड़ी-सी समानता के कारण उपमा होती है। दण्डी के अनुसार किसी भी प्रकार की सादृश्य की जहाँ स्पष्ट प्रतीति हो वहाँ उपमा होती है।[१] उद्भट उपमेय और उपमान के मनोहारी सादृश्य को उपमा कहते है।[२] उद्भट की परिभाषा भामह से ही प्रभावित है।

वामन भी भामह के ही ऋणी है। वामन के अनुसार गुण के लेश से उपमान के साथ उपमेय के साम्य को उपमा कहते है।[३]

रुद्रट शब्द साम्य को ही उपमा का मूल स्वीकार करते है।[४] इनके अनुसार उपमेय एव उपमान मे साधारण धर्म के कारण समता का दिखायी पड़ना ही उपमा अलकार है।

वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक का उपमा लक्षण सबसे विलक्षण है।[५] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का उपमा स्वरूप आचार्य कुन्तक से ही प्रभावित है।

इनके लक्षण मे तीन बातो पर विचार किया गया है।

(क) वर्णनीय पदार्थ की सौन्दर्य वृद्धि के लिए उससे अधिक गुणशाली पदार्थ के साथ समता दिखाना।

(ख) उपमा वाचक शब्दो का चमत्कारपूर्ण क्रियादि के साथ सम्बन्ध।

(ग) वर्णनीय के मनोहारित्व की सिद्धि ही उपमा का उद्देश्य है।

आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतो को समन्वित करते हुये प्रौढ़ता का परिचय देते हुये नवीन परिभाषा दी। इन्होंने उपमेय तथा उपमान मे भेद होने पर इनके साधर्म्य के नाम को उपमा कहा।[६] मम्मट के लक्षण मे भामह और उद्भट दोनो के लक्षणो का सार है। मम्मट की परिभाषा की विशिष्टता उसकी गम्भीरता और संक्षिप्तता है।

आचार्य रुय्यक ने साधर्म्य के कारण उपमेय एव उपमान मे भेदाभेद तुल्यत्व प्रदर्शित करने को उपमा

---

१. यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा___। (काव्यादर्श २। १०)।

२. यच्चेताहारि सादृश्यमुपमानोपमेययोः।
मिथो विभिन्न कालादिशब्दयोरुपमा तु तत्॥ काव्यालंकार सार संग्रह। १५।

३. उपमानोपमेयस्य गुणलेशतः साम्य उपमा। काव्यालंकारसूत्र। ४, २, १,।

४ काव्यालंकार ८। ४।

५. विवक्षित परिस्पन्द मनोहारित्वसिद्धये।
वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा॥
तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात्।
इवादिरपि विच्छित्या यत्र वक्ति क्रियापदम्॥ व० जी० ३। ३०। ३१।

६. साधर्म्यमुपमाभेदे।
उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयो. साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा। भेदग्रहणमनन्वयतव्यवच्छेदाय। का० प्र० १०। ८७।

कहा है।[१] उन्होने तीन प्रकार का साम्य बतलाकर उपमा मे तीसरे प्रकार के साम्य की स्थिति को स्वीकार किया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का उपमा स्वरूप विवेचन अपने पूर्ववर्ती आचार्यो से ही प्रभावित है।

उपमालंकार मे उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा उपमावाचक शब्द प्रमुख तत्त्व है। कतिपय आचार्य यह मानते है कि उपमान सदा उपमेय से अधिक या उत्कृष्ट गुण वाला होता है और उपमेय उसकी अपेक्षा हीन या निकृष्ट गुण वाला। मुख की उपमा चन्द्र से इसलिए अभीष्ट है क्योकि कदाचित् चन्द्र अधिक शोभन है।

धर्म का अर्थ है किसी पदार्थ मे रहने वाला गुण। धर्म सदा पराश्रित होता है उसकी स्थिति स्वत: तो होती है पर पृथक् नही। 'धर्म' को साधारण इसलिये कहते है, क्योकि यह उपमेय तथा उपमान दोनो मे समान रूप से रहता है, जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के रूप मे धर्म या धर्मी चार प्रकार का होता है।

उपमा भेद—

विभिन्न आचार्यो ने उपमा के विभिन्न भेदो का निरूपण करते हुए इसकी सख्या एक सौ पचीस तक पहुँचा दी। भरत ने उपमा के पॉच प्रकारो का उल्लेख किया—प्रशसा, निन्दा, कल्पिता, सादृशी एव किचित् सादृशी।

वामन ने उपमा के दो भेद किये, लौकिकी एव कल्पिता। दण्डी ने उपमा के कई प्रकारो का उल्लेख किया है—अद्भुतोपमा, सशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, प्रशसोपमा, आचिरव्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, साधारणोपमा, चटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, सभावितोपमा, बहूपमा, विक्रियोपमा, मालोपमा, वाक्यार्थोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा, हेतूपमा, उपमितोपमा, अनियमोपमा, अतिशयोपमा, उत्प्रेक्षोपमा एव मोहोपमा।

रुद्रट ने उपमा के मुख्य तीन भेद माने है—वाक्योपमा, समासोपमा एव प्रत्ययोपमा।

मम्मट ने भी उपमा के मुख्य दो प्रकार स्वीकार किये हैं—पूर्णा एवं लुप्ता। फिर इनके भेद-प्रभेद किये है।

आचार्य रुय्यक ने धर्मों त्रिविधता के आधार पर केवल तीन भेद ही किये है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने उपमा के भेद प्रपञ्च का विस्तार ही किया है। सर्वप्रथम इन्होने उपमा के दो भेद किये हैं—पूर्णा एवं लुप्ता।[२] पुन: पूर्णा एवं लुप्ता के भेद-प्रभेद करके उपमा के अन्य भेदो का भी वर्णन किया।

उपमा के मुख्य भेद पूर्णा और लुप्ता के उपभेदो के वर्णन के अनन्तर रुय्यक का अनुसरण करते हुये साधारण धर्म के त्रैविध्य के आधार पर उपमा के अन्य तीन भेदो का सोदाहरण विवेचन किया।

अनुगामी रूप मे, वस्तुप्रतिवस्तुभाव के रूप मे तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप मे। जब साधारण धर्म उपमेय तथा उपमान में एक रूप से रहता है तो उसे अनुगामी कहते है। उदाहरणार्थ—

प्रभामहत्या शिखयेव दीप्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥

---

१. उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा। अलकार सर्वस्व ११।

२. इयं च पूर्णा लुप्तेति विभर्ति द्विप्रकारताम्। ८। अलंकार महोदधि ८। ८।

इस श्लोक मे 'पूतत्व' तथा 'विभूषितत्व' दो साधारणधर्म है जिनका समान रूप से उपमेय तथा उपमान से सम्बन्ध है।

साधारण धर्म एक होने पर भी विभिन्न वाक्यो मे भिन्न-भिन्न शब्दो से निर्दिष्ट रहता है तो उसे वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहा जाता है।[१]

उदाहरणार्थ—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इव में हृदये कटाक्षः ॥

यह श्लोक वस्तुप्रतिवस्तुभाव का उदाहरण है। 'वलित' और 'आवृत्त' दोनो का अर्थ 'मुड़ी हुयी' है। इन दोनो साधारण धर्मों का विभिन्न शब्दो मे पृथक् निर्देश हुआ है।

यदि दृष्टान्त के समान उपमेय वाक्य तथा उपमान वाक्य मे धर्म भिन्न-भिन्न हो तो वह बिम्बप्रतिबिम्ब भाव कहलाता है।[२]

"पाण्डवोऽयमंसर्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥

यहाँ पाण्डव को आद्रिराज के सदृश बताया गया है पाण्ड्य मे हार तथा अगराग धर्म है तथा अद्रिराज के निर्झर और बालातप ये साधारणधर्म है तथा इन दोनो मे स्वरूप भेद हैं, एक बिम्ब है, दूसरा प्रतिबिम्ब। इस प्रकार साधारण धर्मों के त्रैविध्य के आधार पर उपमा के तीन भेद करने के बाद, उपमा के ही दण्डी द्वारा कृत भेदो का सामाहार करते हुये अनेक भेदो का सोदाहरण वर्णन करते है।[३] उपमा के ये अन्य भेद चमत्कार पर ही आधारित हैं—अनेकद्योतका, सर्वद्योतका, द्योतकोज्झिता, धातुद्योत्या, विपर्यासवती, वैधर्म्यशालिनी, नियमोपेता, अनियमोपेता विक्रयाऽङ्किता, अतिशयांकिता, प्रतिषेधाश्लिष्टा, अद्भुतश्लिष्टा, श्लेषवती उत्प्रेक्षितवती।

आचार्य सूरि ने इन भेदों के अतिरिक्त उपमा के लौकिकी[४] तथा कल्पिता[५] ये दो अन्य भेद भी किये। लौकिकी उपमा में उपमेय और उपमान लोकप्रसिद्ध होना चाहिये। कल्पिता उपमा कवि की प्रतिभा या प्रज्ञाविशेष से युक्त नवनवोल्लेखशालिनी होनी चाहिये।

इस प्रकार अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन आलकारिको ने उपमा के अनेक भेद प्रभेद कर तथा उसी में अनेक अलंकारो का अन्तर्भाव कर इसी बात का परिचय दिया कि यह काव्यालकारो का जीवातु है और उपमा

---

१. 'क्वचित् पृथग्विनिर्देश. प्रतिवस्तूपमानवत्। अ० महा० ११

२. दृष्टान्तवत् क्वचिद् बिम्ब प्रतिबिम्बमनोज्ञता। अ० म० ११

३ सोऽनेकद्योतका सर्वद्योतका द्योतकोज्झिता।
धातुद्योत्या विपर्यासवती वैधर्म्यशालिनी ॥
नियमानियमोपेता विक्रयातिशयाङ्किता।
प्रतिषेधाद्भुता श्लिष्टा श्लेषोत्प्रेक्षितवत्यपि ॥ अलंकार-महोदधि १२-१३

४. एषा च लौकिकी लोक प्रसिद्धे रनुरोधत।

५ या कविप्रतिभोन्मेषकल्पिता कल्पिता तु सा ॥१४ अ० महो/८/१४

का जीवातु है **'साधर्म्य'**।

औपम्य अनेक काव्यालकारो का व्यापक तत्त्व बन गया है और अतिशय और वक्रता का उच्चनिनाद मन्द पड़ गया।

अनन्वय अलंकार

अतिशयोक्तिमूलक अलकारो की शृखला मे उपमा अलकार के बाद अनन्वय अलकार का वर्णन किया है।

जहॉ एक ही वस्तु को उपमान एव उपमेय कहा जाय वहॉ **अनन्वय** होता है।

अनन्वय का अर्थ है—न अन्वयेतीति अनन्वय· अर्थात् सम्बन्ध (अन्वय) का न होना। इसमे उपमेय को ही उपमान मान लिया जाता है। अनन्वय की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—न विद्यते उपमेयस्य उपमान्तरेण। अन्वय: सम्बन्धो वाऽत्रेति अनन्वय·। अर्थात् जहॉ उपमेय की किसी अन्य उपमान से समता प्रदर्शित नही की जाती तथा अपने से अतिरिक्त किसी अन्य उपमान का निषेध किया जाता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार इसका लक्षण है—

एक ही पदार्थ को उपमेय एव उपमान मानने पर अनन्वय अलकार होता है।[१]

आचार्य सूरि की परिभाषा मे किसी नवीनता का दर्शन नही होता है।

अनन्वय मे मम्मट ने एकवाक्यता का समावेश कर नया विचार दिया है।[२]

हेमचन्द्र ने अनन्वय को उपमा से अभिन्न मानकर उसके पृथक् अस्तित्व को मान्यता नही प्रदान की है।[३]

हेमचन्द्र की मान्यता युक्तिसगत नही है। अनन्वय एव उपमा दोनो के सौन्दर्य विधान में अन्तर होता है। अनन्वय मे उपमेय एव उपमान मे भेद कल्पना नही होती। यदि किसी रूप मे भेद कल्पना मानी जाती है तो यह तो हेमचन्द्र भी मानते है कि उपमा एवं अनन्वय मे क्रमश: साम्य प्रतिपादन तथा असाधारणता प्रतिपादन होता है। अत: इस भेद के आधार पर दोनो को भिन्न-भिन्न मानना उचित होगा।[४]

अनन्वय में उपमान एवं उपमेय दोनों भिन्न नही रहते जबकि उपमा मे दोनों भिन्न होते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी विश्रुत आलकारिको ने अनन्वय अलंकार का विवेचन किया है। इस अलकार का प्रथम विवेचन भामह के काव्यालकार मे है। कालान्तर मे उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि

---

१. एकस्यैवोपमानोपमेयत्वे स्यादनन्वय। अलकार महोदधि ८/१४

२ उपमानोपमेयत्वे एकस्यैकवाक्यगे अनन्वय:। काव्य प्रकाश, १०/९१

३. एवं यत्रासाधारणता प्रतिपादनार्थमेकस्यापि भेद· कल्प्यते
तत्राप्युपमा भवति। काव्यानुशासन पृ० ३४०

४. संस्कृत में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास। पृ० १९७

आदि आचार्यो ने इसका उल्लेख किया। उदाहरण—

'त्वन्मुखं त्वन्मुखमिव त्वद्दृशौ त्वद्दृशाविव।
त्वन्मूर्तिरिव मूर्तिस्ते त्वमिव त्वं कृशोदरि !॥

यहाँ पर मुख आदि को ही उपमेय कहा है और उसी को उपमान भी कहा है।

उपमेयोपमा अलङ्कार

जहाँ उपमेय और उपमान परस्पर उपमान और उपमेय कहे जाये वहाँ उपमेयोपमा होती है।

इसमे उपमेय से उपमान की एवं उपमान से उपमेय की समता दिखायी जाती है। उपमेय एव उपमान को परस्पर उपमान तथा उपमेय इसलिये कहा जाता है कि उसके लिये कवि को तीसरे पदार्थ की आवश्यकता नही पड़ती है।

उपमेयोपमा का अर्थ है उपमेयेन उपमा। अन्य उपमान के तिरस्कार को ही उपमेयोपमा का मूल माना गया है। अर्थात् जिन दो पदार्थों-उपमेय एव उपमान का कथन किया गया है उनकी समानता के लिये तीसरी वस्तु उपयुक्त नही हो सकती। इसमे दो पदार्थों का पर्याय से उपमानोपमेयत्व वर्णित किया जाता है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार उपमेयोपमा की परिभाषा है—जब वे दोनों (उपमेय एवं उपमान दूसरे वाक्य मे क्रमश: उपमान एवं उपमेय हो जायें तो उपमेयोपमा अलंकार होगा।[१]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने कोई नयी परिभाषा न देकर मम्मट के ही मत को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। मम्मट उपमान एवं उपमेय का उपमेय एवं उपमान के रूप मे परिवर्तित हो जाने को उपमेयोपमा मानते है।[२]

आचार्य हेमचन्द्र उपमेयोपमा को भी उपमा से भिन्न नही मानते हैं।

उपमेयोपमा अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख भामह ने किया। दण्डी ने इसे स्वतत्र अलंकार स्वीकार न करके 'अन्योन्योपमा' के नाम से उपमा का ही एक भेद माना है।

इसके बाद उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, पण्डितराज और जैनाचार्य नरेन्द्र सूरि आदि आचार्यों ने इसका विवेचन किया।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने इसके दो भेद किये हैं।

(१) साधारण धर्म की एकरूपता में 'उपमेयोपमा' का एक सुन्दर निदर्शन यह श्लोक है।

'खमिव जलं जलमिव खं हंसश्चन्द्र इव हंस-इव चन्द्रः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराऽकाराणि कुमुदानि॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि सर्वज्ञ उपमेय और उपमान मे विमलता का धर्म एक रूप का ही प्रतीत हो रहा

---

१. उपमेयोपमा भिन्नवाक्यस्थे व्यत्यये तयो॰॥ अलंकार महोदधि ८/१५॥

२. विपर्यास उपमेयोपमा तयोः॥ का॰ प्र॰ १०/९१

है। यहाँ साधारण धर्म का निर्देश नही किया गया है।

इसी प्रकार साधारण धर्म का वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था मे 'उपमेयोपमा' का यह उदाहरण दृष्टव्य है—

सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायावदनाम्बुजाः।
वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गना॥

स्मरण अलंकार

पूर्वानुभूत पदार्थ के सदृश किसी अन्य पदार्थ को देखकर उसकी याद आने को स्मरण अलकार कहते है।

यह सादृश्यगर्भ भेदाभेद प्रधान अलंकार है। किसी वस्तु को देखकर तत्सदृश अन्य पदार्थ का स्मरण होना ही स्मरण है। इसमे उपमान को देखकर उपमेय की याद आती है और कभी उपमेय को देखकर उपमान के स्मरण होने का वर्णन किया जाता है।

अलंकार की परिधि मे आने के लिये स्मरण का चमत्कारपूर्ण होना आवश्यक है अर्थात् वह कवि कल्पित हो।

नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार पूर्वानुभूत पदार्थ के सदृश्य किसी अन्य पदार्थ को देखकर उसकी स्मृति का होना ही स्मरण है।[१] आचार्य सूरि के ये मान्यता भी मम्मट और जैनाचार्य हेमचन्द्र से पूर्णतया प्रभावित है। मम्मट के अनुसार पूर्वानुभूत वस्तु के समान अन्य वस्तु को देखकर उसकी स्मृति का होना ही स्मरण है।[२] मम्मट जन्मजन्मान्तर के अनुभूत पदार्थ के स्मरण में भी अलंकारत्व स्वीकार करते है।

आचार्य हेमचन्द्र स्मरण के लिये स्मृति का प्रयोग करते हुये कहते है कि पूर्वानुभूत पदार्थ के सदृश किसी अन्य पदार्थ को देखकर संस्कार का उद्बोध हो जाने पर जो पूर्वानुभूत पदार्थ का स्मरण हो जाता है उसे स्मृति अलंकार कहते हैं।[३]

स्मरण अलंकार के विवेचन में सस्कृत आलंकारिको ने दर्शन, अनुभव या ज्ञान शब्द का प्रयोग करके इसके स्वरूप का विवेचन कर इसके क्षेत्र का विस्तार किया है। मम्मट ने दर्शन, रुय्यक ने अनुभव, पण्डितराज ने ज्ञान शब्द का समावेश कर इस तथ्य की व्यञ्जना की है।

मम्मंट से ही प्रभावित होकर हेमचन्द्र और आचार्य सूरि ने दर्शन का ही प्रयोग किया है।

स्मरण अलंकार का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य 'रुद्रट' के 'काव्यालंकार' मे प्राप्त होता है। तत्पश्चात् सभी आचार्यों ने इसका विवेचन किया पण्डितराज तक इसकी विवेचन परम्परा अक्षुण्ण रही।

रुय्यक ने स्मरण के विवेचन में सादृश्य तत्त्व को अधिक महत्त्व प्रदान किया है।[४] इनके अनुसार सादृश्य

---

१. स्मरणं या स्मृतिस्तुल्यदर्शनात् प्रतिवस्तुनः। अलंकार महोदधि पृ० २४५
२. यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणम्। का० प्र० १०/१९९
३. सदृशदर्शनात्स्मरणं स्मृतिः। काव्यानुशासन ७/२३
४. सादृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम् अलंकार सर्व० पृ० १४

के अभाव मे स्मरण की स्थिति सभव नही है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी सादृश्य तत्व की महत्ता स्वीकार करते है।[१] इस प्रकार स्मरण मे चमत्कार का आधार सादृश्य है।

इस प्रकार सादृश्य के बिना स्मृति को स्मरणालकार मानना रुय्यक और नरेन्द्रप्रभसूरि आदि आचार्यो को कदापि अभिमत नही है। यथा—

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।

रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्॥

यदि गोदावरी नदी को देखकर राम को सीता के साथ बिताये हुये पुराने दिनो की स्मृति आ जाती है, तो उसमे सादृशानुभव न होने से स्मरणालकार नही माना जा सकता।

सादृश्य विधान के लिये दो वस्तुओ का होना आवश्यक है, जिसमे एक उपमेय होता है और दूसरा उपमान। उदाहरणार्थ :—

"अदृश्यन्त पुरस्तेन खेलाः खञ्जन पंक्तयः।
अस्मर्यन्त विनिःश्वस्य प्रियानयनविभ्रमाः॥

इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि सदृशावलोकन के बिना स्मृति अलकार की स्थिति नही होगी।

सन्देहालंकार

उपमेय मे उपमान के सशय को सन्देह अलंकार कहते है।

सन्देह सादृश्यगर्भ अभेद प्रधान आरोपमूलक अर्थालंकार है। सदेहालंकार मे सशय का सादृश्यमूलक होना आवश्यक है तथा उसे चमत्कारपूर्ण भी होना आवश्यक है। कवि सादृश्य के कारण ही एक वस्तु मे अन्य वस्तु के संशय का निबन्ध करता है तथा अपनी कवित्व शक्ति या प्रतिभा के द्वारा ही एक उपमेय में अनेक उपमानो का संदेह प्रकट करते हुये इस अलकार की योजना करता है। सन्देहालंकार के निरूपण के समय कवि की भावना लौकिक संदेह ज्ञान से सर्वथा भिन्न होती है। कवि प्रतिभा प्रसूत संशय का वर्णन ही सदेहालकार है अन्यथा केवल सन्देह के वर्णन मे अलंकारत्व सभव नही है।

इसके कई नाम मिलते है—सशय, ससन्देह एव सन्देह। आचार्य भामह ने इसे ससन्देह कहा जिसका अनुमोदन उद्भट, मम्मट एवं पण्डितराज ने किया। एकमात्र आ० रुद्रट से प्रभावित हो आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने सन्देह को संशय शब्द से अभिहित किया है और उनके अनुसार ही परिभाषा दी है। सादृश्य के कारण उपमान और उपमेय का सन्देश ही संशय अलकार है। और शुद्ध निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त नामक भेदों का उल्लेख किया।[२]

---

१. सदृशावलोकनं विना तु स्मृतिर्नायमलङ्कार। अलकार महोदधि पृ० २४६

२. संशयः स तु सन्दिह्यमानत्वं प्रकृतस्य यत्। अलकार महोदधि ८/१६

आचार्य मम्मट सादृश्य के कारण उपमान का उपमेय के साथ सशयात्मक ज्ञान को ससन्देह अलकार मानते है।[१] हेमचन्द्र के अनुसार स्तुति के लिये जो सशयपूर्ण कथन किया जाता है वह ससन्देह है।[२]

अर्थात् स्तुति के लिये अलकारान्तर के गर्भीकरण से प्रस्तुत वस्तु के वर्णन हेतु सशयपूर्ण कथन करना ससंदेह है, जिसके निर्णयान्त, अनिर्णयान्त, भेद की उक्ति या भेद की अनुक्ति रूप भेद होते है।

ससन्देह या सशय अलकार का सर्वप्रथम निरूपण भामह ने ससन्देहालकार के नाम से किया था।[३] दण्डी को सशयोपमा मे इसका अन्तर्भाव विवक्षित है। उन्होने इसका पृथक् निरूपण नही किया। सशय के विपरीत निर्णय मे उन्होने निर्णयोपमा भी मानी है।[४] रुय्यक ने सन्देहालकार का विवेचन कर कई नवीनताये प्रस्तुत की।[५] इनके अनुसार विषय मे विषयी का सन्देह ही सन्देहालकार होता है।

क. इन्होने वास्तविक सन्देह मे अलकारत्व स्वीकार न करके कवि कल्पित सन्देह वर्णन को ही अलकार माना।

ख सादृश्य के कारण ही उपमेय पर कवि उपमान का सन्देह करता है एव दोनो मे अभेद सिद्ध करता है।

ग. इन्होने न केवल आरोप मे अपितु अध्यवसाय मे भी सन्देह की स्थिति स्वीकार की है। अध्यवसाय मे विषय का उपादान या तो सर्वथा नही होता जैसे कि अतिशयोक्ति मे, और होता भी है तो विषयी द्वारा उसके निगरण की प्रक्रिया अवश्य रहती है। साध्याध्यवसाय सन्देह मे भी हो सकता है।

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहता नु ककुभस्तिमिरेण॥

इसमें तिमिर आरोप विषय है। उमसे गगन, नयन, स्थगन, पूरण, सकोच आदि विभिन्न धर्मो का आरोप किया गया है। 'नु' शब्द विभिन्न सम्भावनाओ की प्रतीति कराने मे सहायक है पर यह सम्भावना सन्देह की है, क्योकि कवि का विषय की अपेक्षा विषयी की ओर अधिक या कम झुकाव नही है। कवि की चित्तवृत्ति अनेक कोटियो मे दोलायमान रहती है।

आचार्य रुय्यक के उपरोक्त विचारो मे आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपनी सहमति अभिव्यक्त करते हुये उदाहरण भी अलंकार सर्वस्वकार का ही दिया है। संशय अलंकार के शेष भेदो का वर्णन सामान्य है।

भ्रान्तिमान् अलंकार

अत्यधिक सादृश्य के कारण उपमान मे उपमेय की निश्चयात्मक भ्रान्ति को भ्रान्तिमान् अलकार कहते

---

१. ससंदेहस्तु भेदुक्तौ तदनुक्तौ च सशय.। का० प्र० १०/९२
२ स्तुत्यै: संशयोक्तिः ससन्देहः। काव्यानुशासन ६/२०
३. काव्यालंकार —३/४३
४. काव्यादर्श —२/२७
५. अलंकार सर्वस्व —पृ० ५३-५५

कारण वस्त्वन्तर की प्रतीति को भ्रान्तिमान् कहते है।

नरेन्द्रप्रभसूरि की भ्रान्तिमान् के स्वरूप-विषयक मान्यता, पूर्ववर्ती आचार्यो का अनुकरण मात्र ही है। इन्होने भ्रान्तिमान् के दो भेदो के अतिरिक्त मालारूप भ्रान्ति को भी स्वीकार किया है

यथा—

'कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिन-
स्तरूच्छिद्रप्रोतान् विसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान हरति दयिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो ! विभ्रमयति॥

यहाँ प्रभा से मत्त चन्द्रमा की किरणे ससार को भ्रम मे डाल रही है। चन्द्रमा की किरणो को देखकर बिल्ली, हाथी, एवं स्त्री को क्रमशः दूध, कमल एव श्वेत वस्त्र का भ्रम होने से अतत्त मे तत्वबुद्धि रूप भ्रान्तिमान् के प्रथम भेद का उदाहरण है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यहाँ भ्रान्ति कविप्रतिभोत्थापित होनी चाहिये।

उल्लेख अलंकार

एक ही वस्तु का अनेक प्रकार के धर्मो के कारण अनेकधा ग्रहण उल्लेख अलकार है।

उल्लेख का अर्थ है लिखना या चित्रण करना, परन्तु यहाँ उल्लेख का अभिप्राय वर्णन से है। इस अलकार मे अनुभविता को एक वस्तु का ज्ञान अनेकधा होता है, अतः इसे उल्लेख कहते है।

उल्लेख सादृश्यगर्भ, अभेद प्रधान, आरोपमूलक अलकार है। इसमे सादृश्य, अभेदता एवं आरोप तीनो ही तत्त्व विद्यमान हैं। कवि एक विषय का वर्णन करने के लिये अनेक उपमानो का नियोजन करता है जिससे इसकी सादृश्यमूलकता प्रकट होती है। एक वस्तु के लिये जितने उपमान प्रस्तुत किये जाते है उनका उक्त वस्तु के साथ अभेद या अभिन्नता होती है तथा उस पर अन्य पदार्थों का आरोप भी होता है।

एक वस्तु के प्रति एक या अनेक व्यक्तियो की प्रतिक्रिया अपने मे विशेष महत्त्व रखती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत का महत्त्व बढ़ जाता है, उसकी परिधि व्यापक हो जाती है।

इस प्रकार एक ही विषय व्यक्ति के भेद से विभिन्न प्रकार की भावना की उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न होता है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि उल्लेख के विषय मे कहते हैं कि अनेक रूपो के कारण एक ही वस्तु का अनेकधा उल्लेख या ग्रहण करना ही उल्लेख अलंकार है।[१]

उल्लेख के निरूपण मे सस्कृत आलकारिको ने उल्लेखन, ग्रहण एवं कल्पन शब्द का प्रयोग किया है।

उल्लेखालकार का उल्लेख प्राचीन आलकारिको ने नही किया। मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश मे इसका वर्णन नही किया है।

---

१. उल्लेख विविधाद् हेतोरेकस्यानेकधा ग्रह ॥ अलकार महोदधि ८/१७

इसकी उपलब्धि यद्यपि सर्वप्रथम अलकार सर्वस्व मे ही होती है, तथापि आलोचको ने यह सम्भावना अभिव्यक्त की है कि यह रुय्यक द्वारा उद्भावित नही है। अलकार सर्वस्वकार ने इसको रूपक, भ्रातिमान् और अतिशयोक्ति से अतिरिक्त सिद्ध किया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि एव सभी परवर्ती (रुय्यक के) आचार्यो की उल्लेखालकार की परिभाषा मे रुय्यक के लक्षण एव उसकी वृत्ति के शब्द प्रतिध्वनित देखे जा सकते है।

'उल्लेख' के निमित्तो के सम्बन्ध मे यह कहा गया है—"चाहे वस्तु एक ही क्यो न हो किन्तु उसका अनुसन्धानसाधित अथवा मन.प्रवणतापूर्वक ज्ञान द्वारा सम्भूत भी आभास रुचि भेद, प्रयोजन भेद और भावना भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का ही हुआ करता है।"[१]

सम्भवतः रुय्यक के पूर्ववर्ती आचार्यो को उल्लेखालकार की स्वतत्र सत्ता अभिप्रेत नही थी। उन्हे उल्लेख मे रूपक, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति तथा श्लेष के ही विभिन्न तत्त्व दृष्टिगोचर होते थे। जिस तरह से अलकार सर्वस्वकार ने उल्लेख का अस्तित्व अतिशयोक्ति आदि अलकारो से पृथक् सिद्ध किया है बिलकुल उसी तरह आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी रुय्यक का अनुसरण करते हुये उल्लेख को स्वतंत्र अलकार घोषित किया।[२]

रूपक मे मुख मे चन्द्रत्व निसर्गतः नही रहता। उसका आरोप होता है पर 'यस्तयोवनमिति....' उल्लेख के इस उदाहरण में श्रीकण्ठजनपद पर तपोवन, कामाय वन तथा सगीतशाला का आरोप नही है, क्योकि विभिन्न प्रमाताओ के रुचिभेद से श्रीकण्ठ मे निसर्गत· इन सभी के धर्म विद्यमान है, उनका मुख मे चन्द्रत्व की भांति आरोप नही है।

उल्लेख का भ्रान्तिमान् मे भी अन्तर्भाव सम्भव नही है क्योकि भ्रातिमान् मे विभिन्न प्रमाताओ द्वारा अपनी रुचिभेद से एक वस्तु को अनेकधा नही देखा जाता है। उसमे तो एक ही प्रमाता की विपर्यय बुद्धि होती है। उल्लेख में अनेकधाग्रहण एक नवीन तत्त्व है, जो भ्रान्तिमान् मे नही है अत. इसे भ्रान्तिमान् से भिन्न मानना आवश्यक है।

इसके बाद कहा जायेगा यहॉ अभेदे भेदरूप अतिशयोक्ति होने दीजिये। पर वह भी शङ्का यहॉ नही है

---

१. यथारुचि यथार्थित्व यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधित.॥ अलंकार महोदधि ८/६९३

२ यथा हर्षचरिते श्रीकण्ठजनपदवर्णने यस्तपोवनमिति मुनिभि कामायतनमिति वेश्याभि, संगीतशालेति लासकैरित्यादि। अत्रैक एव श्रीकण्ठस्तत्रद्गुणयोगात् तपोवनाद्यनेकरूपतया निरूपित·। नन्वेतन्मध्य एव वज्रपञ्जरमिति शरणागतै असुरविवरमिति वातिकैरित्यादौ रूपकयोग एवास्ति, तदिहापि स एवास्तु, किमुल्लेखमणनेत्यत्रोच्यते अस्ति तावद् यस्तपोवनमित्यादौ रूपकादुल्लेखस्य विविक्तो विषयो यत्र धार्मिकजनाकीर्णत्वादिना वस्तुवृत्त्यैव जनपदस्य तपोवनादिरूपतायाः सम्भवः। यत्र पुनर्वज्रपञ्जरमित्यादावतद्रूपस्य तद्रूपताऽरोपाद् रूपकस्यातादृशस्य तादृशत्वप्रतीतेर्भ्रान्तिमतश्च सम्भवस्तत्राप्येषा भङ्गि सम्भवत्येव। ततस्ताभ्यामस्तु सकरः। सर्वथाऽप्यास्याभावे वस्तु न शक्यते वक्तुमेवमभेदरूपायामतिशयोक्तावप्येष नान्तर्भवत्यनेकधात्वोट्टङ्कनस्याधिकृतत्वात्। संकरस्तु तयाप्यस्त्येव। यथा—'नारायणु त्ति परिणयवयाहि' इत्यादौ। 'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि, अर्जुनो यशसि' इत्यादौ तु रूपकप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एव बहुधोट्टङ्कनमात्रात्। पुनर्यद् यस्यादि (क)श्चिदंशः सम्भवति, तदनेनापि सङ्करोऽस्तु। 'युधिष्ठर. सत्यवचसि' इत्यादौ रूपकमेवेति। —'अलकार महोदधि/८/१७ वृत्ति

क्योकि अतिशयोक्ति में ज्ञाताओ का भेद नही होता है, किन्तु यहॉ ज्ञाताओ के भेद रूपी विषय का विभाग होने के कारण अनेक प्रकारता का उट्टड्कन होता है। और इस उट्टड्कन का चमत्कार भिन्न रूप है अत इसका अन्तर्भाव नही किया जा सकता है। यथा 'नारायण इति परिणतवयोभि' इत्यादि श्लोक मे एक ही विष्णु को प्रमदाएँ, युवतियॉ एवं किशोरियॉ भिन्न-भिन्न रूप मे देखती है। इसमे एक विष्णु को भिन्न अवश्य बताया है पर प्रमाताओ के भेद से इस भेद का उल्लेख अतिशयोक्ति अलकार से उल्लेख को भिन्न सिद्ध करता है। इसी प्रकार 'गुरुर्वचसि' इत्यादि मे गुरु, पृथु, अर्जुन आदि शब्दो के नानार्थक होने से इस उदाहरण मे श्लेष है, पर इस उदाहरण मे श्लेष के अतिरिक्त एक ही व्यक्ति का अनेकधा उल्लेख रूप सौन्दर्य भी है, जो श्लेष के सौन्दर्य पर आधारित नही है। रूपक, भ्रान्तिमान्, श्लेष तथा अतिशयोक्ति से प्रमातृभेद तथा विषयभेद के आधार पर अनेकधा ग्रहण सर्वथा भिन्न है, यद्यपि अनेक उदाहरणो मे उपर्युक्त सभी अलकारो तथा सन्देह आदि और भी अन्य अलकारो की विच्छित्ति उल्लेख मे हो सकती है।

उल्लेख मे जब दूसरे अलकारो की छाया रहता है, तो उसे सकीर्ण अन्यथा शुद्ध कहते है।

रूपक

बिना किसी निषेध के उपमेय मे उपमान के आरोप को रूपक कहते है।

उपमा की भांति रूपक भी प्राचीनतम अलकारो मे से एक है।

रूपक मे उपमेय तथा उपमान की स्थिति तुल्य बल के समान रहती है। मुख ही चन्द्रमा बन जाता है। मुख की अभिनता चन्द्रमा के साथ अवश्य हो जाती है, परन्तु स्थिति दोनो की रहती है।

रूपक का अर्थ है रूप का आरोप। आरोप एक वस्तु मे दूसरी वस्तु के इस प्रकार रखने को कहते है कि जिससे दोनों मे से किसी प्रकार का अन्तर न रह जाये। अत. रूपक का अर्थ हुआ रूप धारण करना या एक वस्तु को दूसरी वस्तु का रूप देना। इसमे उपमेय उपमान का रूप धारण कर लेता है, इसलिये यह रूपक कहलाता है। अपह्नुति अलकार मे भी उपमेय मे उपमान का आरोप होता है, किन्तु वह निषेध सहित होता है और रूपक मे निषेध रहित। रूपक अभेद का आरोप कर उपमान एव उपमेय मे एकता का प्रतिपादन करता है। रूपक अभेद प्रधान अलंकार है। दो पदार्थो मे अभेद की प्रतीति न होना ही अभेद है और जहॉ इसकी प्रधानता होती है वहॉ अभेद प्रधान अलकार होता है। अभेद प्रधान अलंकारो मे उपमेय एवं उपमान के मध्य किसी प्रकार का भेद नही रहता।

रूपक मे उपमेय के साथ ही उपमान मे भी अभेद का भाव आने लगता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार जहॉ बिना किसी निषेध के उपमान एव उपमेय का अभेदारोप होता है वहॉ रूपक अलंकार होता है।[१]

---

१. भेदाभावेऽप्यसम्पन्नापह्नवे विषये निजम्।
रूपमारोपयेद् यत्र विषयी रूपक तु तत्॥ अ० महो० ८/१८

रूपक अलकार की प्राचीनता असदिग्ध है। क्योकि भरत ने जिन चार अलकारो की चर्चा की है उनमे से एक रूपक भी है।

भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्राय सभी आचार्यो ने रूपक का वर्णन किया है।

आचार्य मम्मट ने अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दो मे उपमान एव उपमेय मे अभेदारोप को रूपक कहा है।[१] अभेदारोप अत्यन्त साम्य के कारण होता है।

रुय्यक ने आरोप के विषय मे आरोप के निषेधरहित अभेद को रूपक कहा।[२]

हेमचन्द्र ने रूपक के लिये अभेद प्रतीति को आवश्यक नही माना है।[३]

'मुख चन्द्रः' कहने पर सहृदय को दोनो मे अभेद प्रतीति होती है। इसका आधार आरोप है। प्रकृत उदाहरण मे मुख विषय है और चन्द्र विषयी है। विषयी चन्द्र का मुख पर आरोप है। इस प्रकार एक का दूसरे के रूप से रूपित होना आरोप है। यह अभेदारोप सादृश्य के कारण ही सम्भव है, दो पदार्थो मे अत्यन्त साम्य के कारण दोनो मे अभेद या एकरूपता स्थापित की जाती है।

नरेन्द्रप्रभसूरि का सारा विवेचन मम्मट और रुय्यक पर ही आधारित है।

रूपक के अनेक भेद आलकारिको ने किये है। भामह, उद्भट, रुद्रट सभी ने रूपक के अनेक भेदों की चर्चा की है। सर्वप्रथम मम्मट ने रूपक के भेदो का वैज्ञानिक रीति से विवेचन करते हुये उनको व्यवस्थित किया। इनका भेद निरूपण भामह, उद्भट तथा रुद्रट से प्रभावित है। इन्होने प्रथमतः इसके तीन भेद किये—सांग, निरग एवं परम्परित। उनमें सांगरूपक के दो भेद हुये—समस्त वस्तु-विषयक तथा एकदेशविवर्ती। निरंगरूपक के दो उपभेद किये शुद्ध तथा माला तथा परम्परित के श्लिष्ट और अश्लिष्ट नामक दो भेद किये गये। पुन दोनो के शुद्ध और माला नामक प्रकारो की कल्पना की गयी। इस प्रकार मम्मटकृत भेदो की सख्या आठ हो गयी।

अलकार महोदधिकार ने रूपक के भेदो का विस्तार किया है, जिन्हे मम्मट और रुय्यक स्वीकार नही करते हैं। रुय्यक ने भी रूपक के आठ भेद ही स्वीकार किये, उन्होने अन्य भेदो का परिगणन अनावश्यक समझा क्योकि इन आठ भेदों का वैचित्र्य ही शेष सभी भेदो मे पाया जाता है।

अलंकारमहोदधिकार ने सर्वप्रथम रूपक के तीन भेद किये—साग, निरङ्ग तथा परम्परित।[४]

पुन साङ्ग के समस्त, असमस्त, समस्तासमस्त तीन भेद किये।

---

१. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। का० प्र० १०/९४

२. अभेदस्य प्राधान्यादभेदस्य वस्तुतः सद्भाव। अ० स० पृ० ४३ (विमर्शिनी)
साधर्म्यं त्वनुगतमेव।
अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्। अ० स० पृ० ४३

३. सादृश्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम्। काव्यानु० ६/५

४. साङ्गं निरङ्गं च परम्परितं चेति तत् त्रिधा।
समस्तवस्तुविषयं श्रौतारोप्यस्थमादिमम्॥ अ० महो ८/१९

साङ्ग के ही श्रौतारोपणीयस्य एकदेशविवर्ति तथा आर्थारोपणीयस्थ एक देशविवर्ति भेद किये।[१]

इसके बाद निरङ्ग के केवल और मालागुम्फित दो भेद किये।[२]

परम्परितरूपक के चार भेद किये।

श्लिष्टनिबन्धन केवल, श्लिष्ट निबन्धन मालारूपक, अश्लिष्ट निबन्धन केवल तथा अश्लिष्ट निबन्धन मालारूपक।[३]

इसके अतिरिक्त सालड्कारन्तरोल्लेखरूपक, रूपक रूपक, वैधर्म्याङ्करूपक, व्यातिरेकाङ्क रूपक, रशनारूपक, हेतु रूपक,

रूपक के अन्य पॉच छह भेदो का भी सोदाहरण विवेचन किया है।[४]

नरेन्द्रप्रभसूरि कहते है कि रूपक के अन्य बहुत से भेद किये जा सकते है परन्तु ग्रन्थगौरव के भय से उदाहरण नही दिये जा रहे है।[५]

इस प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने रूपक के कुल १७ भेदो का सोदाहरण विवेचन किया।

अपह्नुति अलंकार—अपह्नुति का मूलाधार है सत्य को छिपाकर मिथ्या का आरोप या स्थापन। जहॉ प्रकृत अर्थात् उपमेय का निषेध कर उस पर उपमान की स्थापना की जाये वहॉ अपह्नुति अलकार होता है। 'अपह्नुति' का अर्थ है गोपन, छिपाना, वारण या निषेध। अपह्नुति शब्द 'ह्नुङ्' धातु से निष्पन्न है इसमे 'अप' उपसर्ग है। (अप + ह्नुङ् अपनयने + क्तिन्) अपह्नुति के मूल मे सादृश्य होता है तथा सादृश्य के कारण ही इसमे एक पदार्थ का निषेध कर अन्य की स्थापना की जाती है।

इसमे निषेध वास्तविक न होकर कवि कल्पित होना चाहिये।

इसके प्रधान दो तत्त्व हैं—उपमेय का निषेध एव उस पर उपमान का आरोप। दण्डी के अनुसार इसकी सादृश्यमूलकता अनिवार्य नही है। विद्वानो ने दण्डी के इस कथन की आलोचना कर अपह्नुति की सादृश्यमूलकता स्वीकार की।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के मत का अनुसरण करते हुये प्रकारान्तर से अपह्नुति

---

१. श्रौतारोपणीयस्थमेकदेशविवर्ति च।

२ निरंगं केवलं मालागुम्फितं चेति तद् द्विधा॥ अ० महो० ८/२०

३. द्वे परम्परिते श्लिष्टाश्लिष्ट शब्दनिबन्धने।
केवले मालया दृब्धे चेति वे द्वे अपि द्विधा। अ० महो० ८/२१

४. सालङ्कारान्तरोल्लेखं तथा रूपकरूपकम्। —अलकार महोदधि
वैधर्म्य व्यतिरेकाङ्कं रसनारूपकं च तत्।८/२२

५ इति हेतु रूपकादयो भूयांसो रूपक प्रकारा. परेऽपि सम्भवन्ति,
ग्रन्थगौरव भयात् तु नोदाह्रियन्ते। अ० महो० पृ० २५७

आधार पर किये। वाच्य और प्रतीयमान अपह्नुति शोभाकर, विश्वनाथ एव अप्पयदीक्षित भी सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर मानते है।

आचार्य सूरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के मत को सग्रहीत करके ही अपह्नुति के सादृश्यवती एव सादृश्यरहिता दो भेद किये, शेष वर्णन सामान्य है।

परिणामालङ्कार

जब उपमान उपमेय का रूप धारण करके कोई क्रिया करे तो परिणाम अलकार होता है। परिणाम का अर्थ ही परिणति या परिवर्तन है। इस अलकार मे उपमान के स्वरूप मे परिवर्तन हो जाता है अर्थात् वह उपमेय के साथ मिलकर ही किसी क्रिया को करने मे समर्थ होता है। इसमे उपमान मे स्वत: कोई कार्य करने की क्षमता नही होती है अर्थात् उसमे क्रियाकारित्व की असमर्थता रहती है। पर वह उपमेय के साथ अभिन्न होकर किसी कार्य को करने में सर्वथा समर्थ हो जाता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि परिणाम के विषय मे कहते है कि "जहॉ विषय अन्य रूप धारण करे वहॉ परिणाम अलंकार होगा।"[१] अपनी वृत्ति मे महोदधिकार इसे स्पष्ट करते हुये कहते है कि प्रकृत अर्थ मे उपयोगी होकर उपमेय उपमान का रूप धारण करे तो परिणाम अलकार होगा।

परिणाम अलकार की उद्भावना करने का श्रेय रुय्यक को ही है। मम्मट ने इसका वर्णन नही किया है। मम्मट से पूर्ववर्ती किसी भी आलंकारिक ने इस अलङ्कार का वर्णन नही किया है। काव्य प्रकाश के टीकाकारो के अनुसार मम्मट को इसका अन्तर्भाव रूपक मे अभीष्ट था, पर उन्होने इसका कोई सकेत या उल्लेख नहीं किया है। रुय्यक से परवर्ती प्राय: सभी अलंकारिको ने इस अलंकार को रूपक से पृथक् माना है। परिणाम अलंकार मे कवि जिस आरोप्यमाण का प्रयोग करता है, वह प्रकृतार्थ का उपरञ्जन तो करना ही है पर साथ ही उसकी प्रकृतार्थ मे उपयोगिता भी होती है।[२]

संस्कृत साहित्य शास्त्र मे परिणाम अलकार का विवेचन दो पृथक्-पृथक् पद्धतियो पर हुआ है तथा दोनो के ही स्रोत रुय्यककृत अलकार सर्वस्व मे विद्यमान है।

इस सम्बन्ध मे आलंकारिकों मे मतभेद है। प्रथम मत के अनुसार उपमान का प्रकृत अर्थ मे उपयोगी होना ही परिणाम है।[३] द्वितीय मत के अनुसार जब विषय या उपमेय आरोप्यमाण या उपमान के रूप मे परिणत होकर प्रकृतोपयोगी हो तो वहॉ परिणाम होता है।[४] यह मत प्रथम मत के सर्वथा विपरीत है। अलकार महोदधिकार इसी मान्यता के समर्थक है। परन्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाली परिभाषाओ मे एक तत्त्व की समानता है 'प्रकृतोपयागित्व' रुय्यक एवं नरेन्द्रप्रभसूरि ने समानाधिकारण्य एव वैयधिकारण्यगत दो भेदो की कल्पना की। जब

---

१. परिणामः स विषयो यत्र धन्तेऽन्यरूपताम्। अलंकार महोदधि ८/२३

२. अलंकार सर्वस्व, पृ० ५१

३. आरोपमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः॥ अलकार सर्वस्व पृ० ५१

४. प्रकृतमारोपमाणरूपत्वेन परिणमति॥ अलकार सर्वस्व पृ० ५१

का लक्षण दिया।[१] तथा अपह्नुति को सादृश्यवती एव सादृश्यरहिता दो प्रकार का बताया है।[२]

अपह्नुति अलकार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। तत्पश्चात् दण्डी से लेकर अर्वाचीन आठ विश्वेश्वर तक इसका निरूपण अबाधगति से होता रहा। तथा इसमे नवीन तत्त्वो का सामवेश हुआ।

भामह ने अपह्नुति की सादृश्यमूलकता को स्वीकार करते हुये, इसमे निषेध को महत्त्व तो दिया, परन्तु यह भी कहा कि निषेध दो पदार्थो मे साम्य के कारण हो।[३]

दण्डी ने शुद्ध अपह्नुति, उपमा अपह्नुति एवं तत्त्वापह्नुति के रूप मे अपह्नुति का तीन पृथक् स्थलो पर वर्णन किया। शुद्धा अपह्नुति को स्वतंत्र अलकार के रूप मे स्थापित किया तथा इसमे सादृश्यमूलकता की अनिवार्यता का खण्डन किया।[४]

'वामन[५] रुद्रट[६] आदि आचार्यो ने अपह्नुति का सादृश्यमूलकता को स्वीकार करके ही इसका स्वरूप निर्धारित किया।

मम्मट के लक्षण पर रुद्रट का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनके अनुसार प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत की सिद्धि मे अपह्नुति अलंकार है।[७]

आचार्य रुय्यक विषय के गोपन मे अपह्नुति मानते है।[८] इनका अभिप्राय आरोप विषय या उपमेय का अपह्नुति होने पर अन्य वस्तु या उपमान की प्रतीति से है।

अन्य परवर्ती आचार्यो के विवेचन मे किसी प्रकार की नवीनता नही है।

आचार्य सूरि की सादृश्यवती अपह्नुति की भेद व्यवस्था कुछ सीमा तक आचार्य रुय्यक पर आधारित है। रुय्यक की ही भाति इन्होने भी आरोपपूर्वक अपह्नुत अपह्नुतपूर्वक आरोप, एवं छलादि शब्दो द्वारा अपह्नुत या निर्देश, इसके भी आरोपपूर्वक अपह्नुत और अपह्नुतपूर्वक आरोप के भेद से सादृश्यवती अपह्नुत के चार भेद किये।[९] इन चारो का सोदाहरण निरूपण के बाद आचार्य सूरि ने[१०] सादृश्यरहिता के भी दो भेद भोज[११] के

१ विषयेऽपह्नुतिं नीते तदन्येन त्वपह्नुतिः।

२ सा च सादृश्यवती सादृश्यरहिता चेति द्विविधा। अलंकार महोदधि ८/पृष्ठ २५७

३. अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा। काव्यालंकार ३/२१

४. अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम्। काव्यादर्श २/३०४

५. समेनवस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः। का० अलं० सू०/४, ३, ५

६. काव्यालंकार—८/५७

७. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सात्वपह्नुति। का० प्र० १०/९६

८. विषयापह्नुतेऽपह्नुतिः। अलंकार सर्वस्व पृ० ४५।

९. आरोपपूर्वोऽपह्नवोऽपह्नवपूर्वश्चारोप इति द्वौ भेदौ। च्छल-च्छ्द्यादिशब्दैर्वपुर्मूर्त्यादिशब्दैश्च विषयापह्नवे द्वौ भेदाविति चतुर्भेदा प्रथमा। अलंकार महोदाधि पृ० २५८

१०. सादृश्यरहितापि द्विविधा वाच्यापह्नोतव्या, प्रतीयमानापह्नोतव्या च। अलंकार महोदाधि पृ० २५९

११ औपम्यवती अनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते। सरस्वती० ४/४१

विषय एव विषयी दोनो मे परस्पर समानाधिकारण्य हो अर्थात् विभक्तिभेद न पाया जाये तो प्रथम भेद होगा यथा—

'तीर्त्वा भूतेशमौलिस्त्रजममरधुनीमात्मनाऽसौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रमैत्रीमयमुरकृतवानान्तरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानस्त्वरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे।

इस उदाहरण मे सौमित्रमैत्री पर उतराई के व्यवहार समारोप द्वारा प्रकृत, अप्रकृत रूप मे परिणत हुआ है। यहाँ समानाधिकरण के द्वारा अप्रकृत उतराई प्रकृत मैत्री के रूप मे काम आयी है।

द्वितीय भेद का उदाहरण है—

"अथ पङ्क्तिमतामुपेयिवद्भिः सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभिः।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परवस्तुतुरङ्गमाद्यैः ॥

दुनिया मे राजाओ को भेट साधारणतः घोड़े, हाथियो की दी जाती रही है यहाँ वाणी (प्रकृत) के रूप में उपहार (अप्रकृत) दिया गया। वाणी पर उपहार के व्यवहार का आरोप होने से परिणाम अलंकार है।

उत्प्रेक्षा अलंकार

जहाँ प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की सम्भावना की जाये वहाँ उत्प्रेक्षा अलकार होता है। उत्प्रेक्षा शब्द उत् + प्र + ईक्षा के योग से बना है, जिसका अर्थ है उत्कट रूप से उपमान को देखना-उत्कटा प्रकृष्टस्य उपमानस्य ईक्षा ज्ञानमुत्प्रेक्षा, उद्योत पृ० ४५८, यहाँ इसका अभिप्राय 'उच्चकोटि के पदार्थ की संभावना' करने से है तथा देखना सभावना का बोधक है। उपमा मे उपमेय और उपमान मे सादृश्य दिखलाया जाता है और रूपक मे दोनो की एकरूपता होती है किन्तु उत्प्रेक्षा मे उनके सादृश्य की सभावना की जाती है। सभावना निश्चय और सदेह के मध्य की स्थिति है—जैसे 'मुख मानो चन्द्रमा है।' इस प्रकार के कथन मे सभावना व्यक्त की जाती है। यह सादृश्यमूलक अभेद प्रधान अलकार है अर्थात् इसमें उपमेय एवं उपमान मे साम्य तथा अभेद होता है। कवि उपमेय मे उपमान की 'कल्पना करते हुये दोनो मे सादृश्य की ही स्थापना करता है। इस अलकार में सभावना का प्राधान्य' होता है और उत्प्रेक्षा शब्द इसी अर्थ का बोधक भी है। जब सभावना चमत्कारपूर्ण या कवि प्रतिभोत्थापित हो तो उत्प्रेक्षा अलंकार होगा। इसमे स्वरूप, फल एवं हेतु की अन्यरूप मे सभावना की जाती है तथा उपमेय और उपमान दोनो ही शब्दतः कथित होते है, दोनो ही विद्यमान रहते है।

उत्प्रेक्षा के स्वरूप निर्धारण मे अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का आश्रय लेते हुये आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने उत्प्रेक्षा का स्वरूप निर्धारित किया। आचार्य सूरि के अनुसार अप्रस्तुत के गुण क्रियादि रूप मे जब प्रस्तुत की सभावना की जाये तो उत्प्रेक्षा अलकार होगा।[१]

उपमा तथा रूपक की भाति उत्प्रेक्षा भी प्राचीन अलंकार है। भरत को छोड़कर प्राचीन तथा अर्वाचीन

---

१ अप्रस्तुतस्य रूपेण हेतुभूतैः क्रिया-गुणै.।
सम्भाव्यते प्रस्तुतं यत् तामुत्प्रेक्षा प्रचक्षते॥ ८/२४ अ० म०

सभी आलकारिको ने इसे स्वीकार किया है। इस अलकार को 'उपमाया सह' कहकर भामह ने उपमा के साथ इसके सम्बन्ध का पर्याप्त सकेत दिया है।[१] कुन्तक का कहना है कि यदि एक से अधिक अलकार किसी उदाहरण मे हो और यदि उनमे उत्प्रेक्षा भी एक है तो वे अपने सौन्दर्य से दूसरे अलकारो को फीका बना देती है।[२]

दण्डी ने चेतन एव अचेतन वस्तुओ की सभावना की परिधि मे उत्प्रेक्षा को रख कर अपने लक्षण मे नवीनता प्रदर्शित की।[३] उद्‌भट ने 'सभावनेयमुत्प्रेक्षा' कहकर उत्प्रेक्षा का बीज सम्भावना मे माना था।[४] उद्‌भट ने उत्प्रेक्षा को अतिशयान्विता कहा।

वामन ने अपने लक्षण मे 'अध्यवसान' शब्द का समावेश कर इसे अत्यधिक चमत्कारपूर्ण बना दिया।[५] वामन ने इसे स्पष्ट रूप से सादृश्यमूलक अलकार घोषित किया।

रुद्रट के विवेचन मे उत्प्रेक्षा के सादृश्य का क्षेत्र विस्तृत हुआ।[६] रुद्रट ने उत्प्रेक्षा के लिये आरोप शब्द का प्रयोग कर नया विचार दिया।

आचार्य मम्मट ने उत्प्रेक्षा के स्वरूप को व्यवस्थित कर दिया।[७]

रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के निरूपण मे सर्वथा नवीन विचार अभिव्यक्त किये। इन्होने सभावना एव अध्यवसाय के स्थान पर 'साध्य अध्यवसाय' पद का प्रयोग किया। इनके अनुसार "अध्यवसाय मे व्यापार की प्रधानता होने पर उत्प्रेक्षा होती है।[८] अध्यवसाय का अर्थ है, विषय का निगरणकर उसके साथ अभेद प्रतीति। यह दो प्रकार का होता है साध्य और सिध्य। उत्प्रेक्षा अलकार मे 'साध्य अध्यवसान' होता है। उपमेय की उपमान से सभावना को ही रुय्यक ने अध्यवसाय की साध्यावस्था कहा। इस अवस्था मे उपमेय का उपमान मे पूर्णत: निगरण नही होता अपितु निगरण होने की प्रक्रिया आरम्भ हो रही होती है।

रुय्यक ने इसके ९६ भेदो का वर्णन किया है।[९] उत्प्रेक्षा के स्वरूप निर्धारण एव भेदो की सख्या के विषय मे आचार्य सूरी ने रुय्यक का ही अनुसरण किया है। उत्प्रेक्षा के भेदोपभेद का आख्यान करने वाली

---

१. भामहालंकार, २/९१

२. वक्रोक्तिजीवित (अन्तर श्लोक १०१)

३ अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षा विदुर्यथा॥ काव्यादर्श, २/२२१

४ लोकातिक्रान्तविषयाभावाभावाभिमानत।
सभावनेयमुत्प्रेक्षा वाच्येवादिभिरुच्यते॥ काव्यालकार सारसग्रह ३/४५

५. अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा। काव्यालकार सूत्र ४/३/९

६. काव्यालंकार। ८/३२, ३४

७. संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण यत्॥ काव्य प्रकाश १०/९२

८ अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा। अलकार सर्वस्व पृ० ७१

९ अलकार सर्वस्व पृ० ७२-७३

अलकार महोदधि की कारिकाये निम्नलिखित है, जिन पर सर्वस्व की भेदव्यवस्था का प्रभाव सुतरा स्पष्ट है।[1]

प्रथमत वाच्या और प्रतीयमाना के नाम से दो भेद किये गये। वाच्या मे इवादि वाचक शब्दो का प्रयोग होता है किन्तु प्रतीयमाना मे नही होता है। जाति, क्रिया गुण एव द्रव्य के आधार पर वाच्य के चार भेद होते है तथा प्रत्येक के भाव एव अभाव के कारण आठ भेद हुये। ये आठ भेद भी गुण एव क्रिया के भेद से सोलह प्रकार के होते है। निमित्त के उपादान एव अनुपादान के कारण ये बत्तीस प्रकार के हुये। इनमे प्रत्येक के हेतु स्वरूप और फलरूप मे ९६ भेद हुये।

रुय्यक की इस भेद व्यवस्था को अनेक परवर्ती आलकारिको ने यथावत् स्वीकार किया। जैसे कि आचार्य जयरथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि। इन सभी भेदोपभेदो का कभी किसी अलकारग्रन्थ मे प्रदर्शन सम्भव नही हो सकता, यह रुय्यक ने स्वय स्वीकार किया है।[2]

वाच्योत्प्रेक्षा—

"यः समुन्मीलयन् न्यायमन्यायं च निमीलयन्।
धर्मः साक्षदिव क्षात्रो महीतलमवातरत्॥"

यहाँ पर इव शब्द के प्रयोग से वाच्योत्प्रेक्षा है।

क्रियोत्प्रेक्षा—

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेच दृष्टिर्निष्फलतां गता॥"

काव्यादर्श का यह प्रसिद्ध श्लोक है—अन्धेरा अगो को लीप सा रहा है। आकाश काजल सा बरस रहा है। दुष्ट व्यक्ति की सेवा की भाँति दृष्टि बेकार हो गयी है। रुय्यक के मतानुसार ही नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी इस श्लोक के पूर्वाश मे क्रिया की उत्प्रेक्षा मानी है पर द्वितीयार्ध मे उपमा है उत्प्रेक्षा नही। अनेक आलंकारिको ने इसका प्रतिवाद करते हुये इस पूरे श्लोक को उत्प्रेक्षा का ही उदाहरण माना है। उत्प्रेक्षा के उदाहरणभाग के सम्बन्ध मे रुय्यक और सूरि का मत मम्मट आदि आचार्यो से भिन्न है।

यहाँ पर अन्धकार का ही प्रसार लेपन की उत्प्रेक्षा का आधार है अतः उसका उपादान ही आवश्यक था।

---

१ सा च वाच्या प्रयुज्यन्ते शब्दा यस्यामिवादय.।
सैव प्रतीयमाना स्याद् यत्र ते न प्रयोगिण.॥ २५ ॥
जाति, क्रिया-गुण द्रव्यैरुत्प्रेक्ष्यैः सा चतुर्विधा।
भावाभावाभिमानेन तेषामष्टविधा पुनः॥ २६ ॥
गुण-क्रियाभ्यां प्रत्येक बीजाभ्यां षोडशात्मिका।
तत्प्रयोगाप्रयोगाभ्यां सा द्वात्रिंश द्विधा स्मृता॥ २७ ॥
फलस्वरूपहेतूनामुत्प्रेक्षाकर्मनिर्मितौ। भेदा षण्णवतिस्तस्या । अलंकार महोदधि

२ तदसावुत्प्रेक्षाया कक्ष्याविभाग प्रचुरतया स्थितोऽपि लक्ष्ये दुरवधारत्वादिह न प्रपञ्चितः। अलंकार सर्वस्व, पृ० ८२

हेतूत्प्रेक्षा—

"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता, त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥"

इस उदाहरण मे मौन की हेतुता को लेकर नूपुर मे विश्लेष दुःख की उत्प्रेक्षा की गयी है।

उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य के रूप मे 'सापह्नुवोत्प्रेक्षा' एव 'उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा' का उल्लेख किया है। ये भी अलकार सर्वस्व से ही ग्रहीत है। सापह्नुवोत्प्रेक्षा यथा—

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु।
यत्रोच्छलत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टाहासेव विभाति सिप्रा॥

यहॉ पर छल शब्द के प्रयोग से सापह्नुवोत्प्रेक्षा का वैचित्र्य द्रष्टव्य है।

तुल्ययोगिता अलङ्कार

जहॉ अनेक प्रस्तुतो अथवा अनेक अप्रस्तुतो का एक ही धर्म कहा जाये वहॉ तुल्ययोगिता अलकार होता है। 'तुल्ययोगिता' का अर्थ है समान की योगिता या सम्बन्ध। अभिप्राय हुआ अनेक उपमेय अथवा अनेक उपमानो मे धर्मैक्य का होना। जहॉ उपमेय रहे वहॉ केवल उपमेय ही रहे, जहॉ उपमान हो वहॉ केवल उपमान ही हो।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार "जहॉ प्रस्तुतो और अप्रस्तुतो के गुण और क्रिया से समान सम्बन्ध हो वहॉ तुल्ययोगिता अलकार होता है।[१]

यह प्रसिद्ध अलंकार है। भामह, दण्डी, उद्भट आदि सभी प्राचीन आलंकारिकों ने इसका निरूपण किया है।

भामह के अनुसार "गुण की समानता बताने की इच्छा से विशिष्ट के साथ न्यून के समान कार्य एवं क्रिया का योग तुल्ययोगिता है।"[२]

मम्मट के अनुसार केवल प्राकरणिको अथवा केवल अप्राकरणिको का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होना ही तुल्ययोगिता है।[३] मम्मट के विवेचन से ही इस अलकार का स्वरूप व्यवस्थित हो गया। रुय्यक ने औपम्य के अन्तर्निहित होने पर बल दिया है। इनके अनुसार तुल्ययोगिता मे सादृश्यगम्य या प्रतीयमान होता है। इसमें प्रस्तुतो अथवा अप्रस्तुतो के एक धर्म का कथन किया जाता है।[४]

परवर्ती आचार्यो ने मम्मट के विचारो को ही आत्मसात् कर अपनी परिभाषाये प्रस्तुत की। अलंकार-सर्वस्व मे उद्भट और मम्मट के लक्षणो को सग्रह करके लक्षण बनाया गया है और समान धर्म के गुणरूप और क्रिया रूप होने से प्रस्तुतो और अप्रस्तुतो दोनो तुल्ययोगिताओ के दो-दो भेद करके चार भेद बनाये हैं। यहॉ पर

---

१. प्रस्तुतानां क्वचिद् यस्यां क्वचिदप्रस्तुतात्मनाम्। अलकार महोदधि
गुण-क्रियाभ्यां तुल्याभ्या योगः सा तुल्ययोगिता॥ ८/३२

२ काव्यालंकार ३/२७॥

३. नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता॥ काव्य प्रकाश १०/१०४

४ अलंकार सर्वस्व, पृ० ८९

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि आचार्य रुय्यक से पूर्णतया सहमत है। जबकि मम्मट ने सभी प्रकृत अर्थो के साथ एक धर्म के सम्बन्ध का तथा सभी अप्रकृत अर्थो के साथ एक धर्म के सम्बन्ध के आधार पर तुल्ययोगिता के ही भेद स्वीकार किये है।

आचार्य सूरि द्वारा मान्य भेद एव उदाहरण अलकार सर्वस्व से ही ग्रहीत है।

(१) प्रस्तुतो का समान गुण से सम्बन्ध का उदाहरण—

"योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वग् मृगाजिनम्।
उचितानि तवाङ्गस्य यद्यमुनि तदुच्यताम्॥"

इस उदाहरण मे योगपट्ट, जटाजाल आदि प्रस्तुतो का औचित्य एक साधारण धर्म है, जिससे सभी सम्बद्ध है।

(२) अप्रस्तुतो का कठोरतारूप तुल्यगुणयोग का उदाहरण—

"त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।
मालती-शशभृल्लेखा-कदलीनां कठोरता॥"

आचार्य सूरि ने इसी प्रकार प्रस्तुतो और अप्रस्तुतो दोनो का तुल्यक्रियायोग का भी उदाहरण दिया है। कुछ आचार्य तुल्ययोगिता और दीपक को पृथक् अलकार नही मानते। वस्तुतः दोनों मे इतना सूक्ष्म भेद है कि दोनों अभिन्न ही प्रतीत होते है। दीपक अलकार मे एक प्रकृत और एक अप्रकृत अर्थ के साथ एक धर्म का सम्बन्ध होता है। तुल्ययोगिता मे दोनों अर्थ या प्रकृत हो या फिर सभी अप्रकृत हो यह आवश्यक है। यही दीपक से तुल्ययोगितालङ्कार का भेद है।

तुल्ययोगिता के वर्णन मे आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट की अपेक्षा रुय्यक के ज्यादा निकट हैं।

दीपक अलंकार—

दीपक अलंकार मे प्रस्तुतों एवं अप्रस्तुतो दोनो मे धर्मैक्य का प्रकाशन होता है। अर्थात् जहाँ वर्ण्य उपमेय और अवर्ण्य उपमान का एक ही धर्म कथित हो वहाँ दीपक अलंकार होता है।

दीपक अलंकार की कल्पना 'दीपक न्याय' पर हुयी है जिसका व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है 'दीप इव दीपकम्। दीपयति प्रकाशयति इति दीपकः, अर्थात् जो प्रकाशित करे उसे दीपक कहते हैं। इसमे प्रस्तुत मे स्थित साधारण धर्म अप्रस्तुत को भी प्रकाशित करता है या उसका उपकारक होता है। इसमें प्रस्तुत एव अप्रस्तुत का एक धर्म सम्बन्ध दिखाया जाता है।

यह अत्यन्त प्रसिद्ध अलंकार है जिसका निरूपण सभी संस्कृताचार्यो ने किया है।

आचार्य हेमचन्द्र और मम्मटाचार्य का एकदेश अनुकरण करते हुये आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी दीपक अलंकार का भेद सहित विस्तृत निरूपण किया है।

आचार्य सूरि दीपक का स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जहाँ पर प्रस्तुतो और अप्रस्तुतो के एक ही

धर्म का प्रकाशन किया जाये अर्थात् (जहाँ एक ही क्रियादिरूप धर्म का अनेक कारको के साथ सम्बन्ध हो) तथा बहुत-सी क्रियाओ का एक कारक हो वहाँ दीपक अलकार होता है।[१] इन्होने पूर्वाचार्यो द्वारा मान्य आदि, मध्य, अन्त आदि भेदो को मान्यता प्रदान की है, जबकि आचार्य मम्मट ने पूर्वाचार्यो द्वारा निर्धारित आदि मध्य अन्त आदि भेदो को स्वीकार नही किया है।[२] मम्मट ने दीपक के दो ही भेदो को मान्यता प्रदान की है ; क्रियादीपक एव कारक दीपक।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी मम्मटकृत स्वरूप को अपनाकर उन्ही की विचारधारा मे अपने स्वरो का समावेश किया है।[३]

दीपक अत्यन्त प्राचीन अलकार है, जिसका उल्लेख भरतकृत नाट्यशास्त्र मे किया गया है।[४]

भामह ने दीपक की परिभाषा न देकर केवल उसके भेदो का वर्णन किया है।[५]

दण्डी ने धर्म के स्थान पर जाति, द्रव्य, क्रिया एवं गुण का वर्णन किया है। इन्होने भामह की ही भाँति क्रिया की आदि, मध्य और अन्त की स्थिति को मान्यता दी है।

दण्डी ने दीपक के कई भेदो को मान्यता देकर इस अलकार की सीमा विस्तृत कर दी है। इनके द्वारा उद्भावित माला 'दीपक एव आवृतिदीपक आदि भेद परवर्ती आचार्यो द्वारा भी स्वीकृत हुये तथा उसका स्वरूप भी वही रहा।[६]

रुय्यक ने प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के एक धर्म संबंध को दीपक कहा।[७]

पण्डितराज ने 'दीपक को तुल्ययोगिता का एक भेद मानकर उसका अन्तर्भाव तुल्ययोगिता में ही किया।[८] उनके अनुसार दोनों में धर्म को एक बार ग्रहण करने के कारण जो चमत्कार होता है, उसमें कोई भिन्नता परिलक्षित नही होती है। सिद्धान्ततः अलकारो का विभाग चमत्कार की भिन्नता के कारण होता है। इन्होने तुल्ययोगिता के तीन भेदो मे एक भेद दीपक को माना है।[९]

---

१. धर्मो यद् दीपयत्येकः प्रस्तुताप्रस्तुतान् बहून।
क्रिया व भूयसीरेकं कारकं तत् तु दीपकं। अलंकार महोदधि ८/३३

२. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येतिदीपकम्॥ काव्य प्रकाश १०/१०३

३. प्रकृताप्रकृतानां धर्मैक्यं दीपकम् —काव्यानुशासन पृ० ३०४

४. नाट्यशास्त्र १६/६०

५. काव्यालंकार २/२५, २६

६ जातिक्रियागुणद्रव्यावाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा॥ काव्यादर्श १२/९७

७. प्रस्तुताप्रस्तुतानां च दीपकम्। अलंकार सर्वस्व। ९१

८. प्रकृतानामप्रकृतानाम् चैकसाधारणधर्मान्वयोदीपकम्। रसगंगाधर पृ० ४३१

९. तुल्ययोगितातो दीपक न पृथग्भावमर्हति, [illegible] धर्मसकृद्वृत्तिमूलायाविच्छितेरविशेषता विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यैवालंकारविभागहेतुत्वात्। रसगंगाधर पृ० ४३६

तुल्ययोगिता और दीपक को एक ही अलकार की श्रेणी मे नही रखा जा सकता। दोनो मे सूक्ष्म भेद है। दीपक अप्रस्तुत सदा उपमान होता है और प्रस्तुत उपमेय। तुल्ययोगिता मे यह निश्चित नही होता है कि कौन उपमेय होगा और कौन उपमान। यही दोनो का भेदक तत्त्व है जिससे उन्हे एक अलकार नही स्वीकार किया जा सकता।

दीपक अलकार के विकास मे एक बात स्पष्ट है कि भरत से लेकर दण्डी तक इसका स्वरूप व्यवस्थित न हो सका था। मम्मट तक आकर इसका रूप स्थिर हो गया तथा रुय्यक ने इसे विशेष स्पष्टता प्रदान कर प्रस्तुतों एवं अप्रस्तुतों के धर्मैक्य निरूपण मे ही इसकी स्वरूप व्यवस्था की। रुय्यक ने सर्वप्रथम तो दीपक और तुल्ययोगिता के क्रम को बदल दिया। काव्यप्रकाश तक सभी आचार्यो ने दीपक के बाद तुल्ययोगिता का वर्णन किया, किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार ने तुल्ययोगिता को प्रथम स्थान दिया और दीपक को द्वितीय।

जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी यही क्रम अपनाया है, परन्तु हेमचन्द्र ने दीपक का उल्लेख पूर्व मे किया है। दीपक के भेद निरूपण मे आचार्य सूरि, आचार्य रुय्यक से प्रभावित है। रुय्यक की ही भॉति दीपक के चार भेद स्वीकार किये हैं। आदि, मध्य और अन्त दीपक के उदाहरण अलकार सर्वस्व एवं काव्य प्रकाश से लिये गये। इन तीनों भेदों में क्रिया एक ही होती है,जिनका एकाधिक कारको से सम्बन्ध होता है। अतः इन तीनो भेदो को एक क्रिया वाले दीपक के भेद कहा जा सकता है। अर्थात् दीपक का उदाहरण है—

"रेहइ मिहरेण नहं रसेण कव्वं सरेण जुव्वणयं।
अमएण धरणीधवलो तुमए नरनाह। भुअणमिणं॥
(राजते मिहिरेण नभो रसने काव्यं स्मरेण यौवनकम्
अमृतेन धरणीधवलः त्वया नरनाथ। भुवनमिदम्॥") इति संस्कृतम्।

यहाँ 'राजते' एक क्रिया पद है। उसके साथ अनेक कारको का सम्बन्ध होने से यह आदि दीपक का उदाहरण है।

अन्तदीपक का उदाहरण—

किवणाणं धणं णाअणं फणमणी केसराईं सीहाणं
कुलवालिआणं त्थणआ कुन्तो छिप्पन्ति अमुआणं॥
कृपाणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम्॥ इति संस्कृतम्।

यहाँ 'स्पृश्यन्ते' यह एक ही क्रिया पद है। उसके ही साथ, धन, फणमणि, केसर आदि अनेक कारकों का सम्बन्ध होने से यह श्लोक अन्त दीपक का उदाहरण है।

आचार्य सूरि ने कारक दीपक का उदाहरण भी काव्य प्रकाश से लिया है।

"स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।
अन्तर्नन्दति चुम्बितमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने।"

यहाँ स्विद्यति, कूणति आदि आ० क्रियायें इस वाक्य मे आयी हैं, परन्तु उन सबके साथ कर्तारूप मे

केवल 'नवपरिणयावधू·' इस एक ही कर्तृपदका प्रयोग होने से कारक दीपक का उदाहरण है। इस श्लोक मे सभी क्रियाये प्रकृत है। अप्रकृत क्रिया कोई भी नही है। अत· यह प्रकृत क्रियाओ मे एक कारक के सम्बन्ध से दीपकालङ्कार का उदाहरण है।

निदर्शना अलङ्कार

इस अलकार मे दो ऐसे वाक्य होते है जिनमे सम्बन्ध या तो सभव होता है या असम्भव तथा इनमे एक ही साथ दो बाते ऐसी कही जाती है जिनमे परस्पर सगति नही बैठती है। अत: कवि उपमा या उत्प्रेक्षा के द्वारा उनमे सम्बन्ध की कल्पना करता हुआ उन्हे परस्पर सुसम्बद्ध बना देता है। यह गम्यौपम्यमूलक अलकार है। इसमे औपम्य या सादृश्य वाच्य न होकर गम्य या प्रतीयमान होता है। इसके मूल मे उपमा ही होती है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति औपम्यसूचक शब्दो द्वारा न होकर व्यग्य होती है।

निदर्शना का अर्थ है दृष्टान्त या उदाहरण अर्थात् उदाहरण देना ही निदर्शना है।[१] दो असगत प्रतीत होने वाले वाक्यो मे सादृश्य का नियोजन कर उनमे सगति की स्थापना करना ही निदर्शना अलंकार का उद्देश्य होता है। अर्थात् परस्पर असम्बद्ध पदार्थो मे सादृश्य की योजना करना ही निदर्शना है। यही मत अलङ्कार महोदधिकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि को भी मान्य है।[२] आचार्य सूरि ने उपमारूप, उत्प्रेक्षारूप और मालारूप के भेद से निदर्शना के तीन भेद किये है।

निदर्शना अलकार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। भामह के पश्चात् सभी आलंकारिको ने इसका निरूपण किया।

भामह क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्रतीति को निदर्शना मानते है जिसमे सादृश्य वाच्य न होकर अभिव्यंग्य होता है।[३]

उद्भट का लक्षण नवीन आचार्यो का प्रेरक है। इन्होने 'भवन्वस्तु सम्बन्ध' एव 'अभवन्वस्तु सम्बन्ध' के आधार पर निदर्शना की भेद व्यवस्था की।[४]

मम्मट का लक्षण उद्भट से प्रभावित है। इन्होने पदार्थो के असभव सम्बन्ध मे उपमा की परिकल्पना को निदर्शना कहा है।[५] मम्मट ने वाक्यार्थ एवं पदार्थ रूप निदर्शना के दो प्रकारो का निरूपण किया। मम्मट ने

---

१ निदर्शनं दृष्टान्तकरणं। का० प्र० ४८०

२. वस्तुनो योग्यताऽभावात् सम्बन्धः क्वाप्यसम्भवन्
इवार्थाय प्रकल्पेत यस्यां सा स्यान्निदर्शना। अलंकार महोदधि पृ० २७१

३ क्रियमैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेतवर्तिभिर्विना॥ काव्यालकार ३/२३

४. अभवन्वस्तुसंबन्धो भवन्वा, यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना॥ काव्यालकार सारसंग्रह ५/१०

५ निदर्शना।
अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक·॥ काव्य प्रकाश १०/९७

इसके मालारूप की भी कल्पना की जिसे रुय्यक विश्वनाथ, आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि आदि भी स्वीकार करते है।

(१) आचार्य सूरि की उपमारूपा निदर्शना है—

क्व सूर्यप्रभवो वंश. क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुदुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।

यहाँ सूर्य से उत्पन्न वश के साथ अल्पज्ञान की बुद्धि का असम्भव सम्बन्ध है फिर भी इसे छोटी नौका से सागर पार करने की तरह उपमा मे परिणत कर देने से उपमारूपा निदर्शना होगी।

(२) उत्प्रेक्षारूपा निदर्शना—

चूड़ामणि पदं धत्ते यो देवं रविमागतम्।
सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः॥

इस उदाहरण मे 'मेरी भाँति गृहस्थो को अतिथि सत्कार करना चाहिये' यह बोध होता है। यहाँ पदार्थो का सम्बन्ध बाधित नही है अतः दो वस्तुओ का सम्बन्ध सम्यक होने से उत्प्रेक्षारूपा निदर्शना है।

अलङ्कारमहोदधिकार ने मालारूप निदर्शना का उदाहरण काव्य प्रकाश का ही दिया है।

निदर्शना जब पदार्थ किवा एक वाक्य मे होती है तो उसे पदार्थवृत्ति निदर्शना कहते हैं और जब वह वाक्यार्थवृत्ति होती है तो उसे अनेक वाक्यगा कहते है। मालारूप और शृखलारूप से भी इसके भेद होते है।[१] असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना मे दो वस्तुओ का सम्बन्ध भावरूप से भी असंभव हो सकता है और निषेध सामर्थ्य से आक्षिप्त प्राप्ति की सम्बन्धानुपपत्ति से भी।[२]

प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा मे उपमेय वाक्य एव उपमान वाक्यो मे एक ही साधारण धर्म को पुनरुक्ति के भय से पृथक्-पृथक् शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाता है। इस प्रकार जहाँ दो वाक्यों का एक ही साधारण धर्म भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा कथित हो तो वहाँ प्रतिवस्तूपमालङ्कार होगा।

प्रतिवस्तूपमा का अर्थ है प्रतिवस्तु + उपमा अर्थात् जहाँ प्रत्येक वाक्य के अर्थ मे समानता या उपमा हो। इसका अभिप्राय प्रत्येक वाक्य की उपमा से है।

यहाँ वस्तु वाक्यार्थ का वाचक है।[३] इसमे प्रत्येक वाक्य मे समान धर्म पाया जाता है। प्रतिवस्तूपमा गम्यौपम्यमूलक अलङ्कार है। अर्थात् इसमे उपमा प्रतीयमान या व्यंग्य रूप से होती है। सादृश्य शब्दतः कथित नही होता।

प्रतिवस्तूपमा मे कवि की दृष्टि साधारण धर्म पर केन्द्रित रहती है, उपमेय एव उपमान पर नही। यहाँ

---

१ अलंकार सर्वस्व, पृ० १००

२. अलंकार सर्वस्व मीमांसा, पृ० ३३५

३. वस्तु शब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवाक्यार्थमुपमा। अलकार सर्वस्व, पृ० ७९

साधारण धर्म का प्रकटीकरण एव विस्तार भी होता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार जहाँ दो वाक्यो के एक ही साधारण धर्म का पृथक्-पृथक् शब्दो से निर्देश करना ही प्रतिवस्तूपमालङ्कार हे।[१] अलकार महोदधिकार रुय्यक की मान्यता के अनुसार ही प्रतिवस्तूपमालकार को उपमादि अलकारो से पृथक् मानते है। उपमा मे साधारण धर्म का इवादि शब्दो द्वारा प्रायेण एक बार (सकृत्) उपादान होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा मे असकृद् निर्देश होता है। दीपक और तुल्ययोगिता मे भी साधारण धर्म का एक ही बार निर्देश होता है।

प्रतिवस्तूपमालकार का सर्वप्रथम उल्लेख भामह ने उपमा के एक भेद के रूप मे किया।[२] दण्डी भी इसका वर्णन उपमा भेद के अन्तर्गत करते है।[३]

सर्वप्रथम उद्भट ने इसे स्वतत्र अलकार के रूप मे मान्यता प्रदान की।[४]

आचार्य मम्मट का लक्षण अत्यन्त स्पष्ट है। मम्मट का लक्षण प्रतिवस्तूपमा का वास्तविक स्वरूप प्रकट करता है और इसका परवर्ती विकास इसी के आधार पर हुआ। मम्मट ने इसके रूप मे नयी व्यवस्था दी।[५]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट से ही अनुप्रेरित हो प्रतिवस्तूपमा को परिभाषित किया।

मम्मट ने इसके दो भेद किये केवल रूप एव मालारूप।

आचार्य सूरि रुय्यक की भाँति वैधर्म्य की प्रतिवस्तूपमा रूप एव मालारूप दो भेद करते है।

आचार्यो के विवेचन से प्रतिवस्तूपमा की तीन अवस्थाये सूचित होती है। साधर्म्य के कारण, वैधर्म्य के कारण एव मालारूप।

प्रतिवस्तूपमा मे गम्यौपम्य ; साधर्म्य और वैधर्म्य दोनो ही विधाओ से अभिव्यक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ—

चकोर्य एवं चतुराश्चचन्द्रिकाचामकर्मणि
आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि॥

यहाँ परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य हैं—

---

१ यत्रैकमन्यपर्याय सामान्य वाक्ययोर्द्वयो।
पृथक्-पृथक् प्रयुज्यते प्रतिवस्तूपमा तु सा॥ अलकार महोदधि ८/३५

२ समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्य प्रतीतित॥ काव्यालकार २/३४०

३ वस्तुकिञ्चिदुपन्यस्य न्यसनात् तत्सधर्मण।
साम्य प्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा॥ काव्यादर्श २/४६

४ काव्यालंकार सारसंग्रह १/२२

५ प्रतिवस्तूपमा तु सा॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वयेस्थिति। काव्यप्रकाश १०/१०१

एक उपमेय स्थानीय दूसरा उपमान स्थानीय।

चकोरी चतुर है और अवन्ति देश की स्त्री निपुण। चतुरता और निपुणता वस्तुत एक ही साधारण धर्म है, जो उपमान वाक्य मे एक शब्द से और उपमेय वाक्य में दूसरे शब्द से आया है। यह उदाहरण साधर्म्य का हुआ। इसे थोडा बदल कर 'विनावन्तीर्न निपुणा सुदृशो रतनर्मणि' कहे तो यही वैधर्म्य का उदाहरण होगा।

आचार्य सूरि ने मालारूप प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण काव्यप्रकाश का दिया है। 'यदि दहत्यनलोऽत्र' इत्यादि मे साधारण धर्म को चार वाक्यो मे पृथक् शब्दो द्वारा कथित होने मे यहाँ माला प्रतिवस्तूपमा हुई।

दृष्टान्त

दृष्टान्त अलकार मे दो वाक्य होते है—एक उपमेय वाक्य एव दूसरा उपमान वाक्य। दोनो के साधारण धर्म भिन्न-भिन्न होते है। किन्तु दोनो मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव प्रतीत होता है या एक प्रकार का सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। इसमे वाचक या सादृश्य सूचक वाचक पदो का प्रयोग नही होता है। भिन्न-भिन्न अर्थो का दो बार कथन करना बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

इस प्रकार जहाँ उपमेय वाक्य एव उपमान वाक्यो तथा उनके साधारण धर्मो मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होगा।

दृष्टांन्त का अर्थ है उदाहरण, जिसमे किसी बात को कहकर उसकी पुष्टि के लिये तत्सदृश अन्य बात कही जाये। इसमे दो वाक्य होते है—एक उपमेय वाक्य, दूसरा उपमान वाक्य। दोनो के साधारण धर्म भिन्न-भिन्न होते है, किन्तु दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव प्रतीत होता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने इसके दो प्रकार के भेद दर्शाये है, विशेषवती एव सामान्यवती।[१] लक्षण मे बताया कि जहाँ दो वाक्यों मे परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलकार होता है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का अनुवर्तन ही किया है।

दृष्टान्त अलंकार का प्रथमदर्शन उद्भट के काव्यालकार सारसग्रह मे होता है। उद्भट के अनुसार दृष्टान्त वहाँ होगा जहाँ इष्ट वस्तु का प्रतिपादन करने के लिये अभीष्ट वस्तु का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव प्रतिष्ठित हो तथा इसमे औपम्यसूचक पदो का प्रयोग न हो।[२] रुद्रट के अनुसार प्रस्तुत एव अप्रस्तुत अर्थ-विशेष का पहले उपन्यास करके पुन उसी धर्म से युक्त अन्य विशेष अर्थ का उपस्थापन हो तो वहाँ दृष्टान्त अलकार होता है।[३]

दृष्टान्त के व्यवस्थित रूप के दर्शन मम्मटकृत परिभाषा मे होते है। इन्होने दो वाक्यो तथा उनके साधारण

---

१ दृष्टान्तोऽसौ विशेषाङ्के यद्वा सामान्यशालिनी।
वाक्ये धारयतो यस्मिन्नन्योन्य प्रतिबिम्बताम्॥ अलकार महोदधि ८/३६

२ इष्टार्थस्य विस्पष्ट प्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
यथेवादि पदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्तः उच्यते॥ काव्यालकार सारसग्रह ६/८

३. अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ्न्यस्तो विवक्षितेतरयो·।
तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्त.॥ काव्यालंकार ८/९४

धर्मो के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव मे दृष्टान्त माना।[१] इन्होने इसके सम्बन्ध मे नया विचार यह दिया कि दृष्टान्त साधर्म्य एव वैधर्म्य दोनो ही स्थितियो मे होगा।

परवर्ती रुय्यक[२] आदि के विचारो मे मम्मट के विचारो की ही झलक मिलती है, अन्य किसी नवीन तथ्य का समावेश नही किया गया। आचार्य सूरि ने भेदो के विषय मे नयी बात अवश्य कही। उदाहरण और परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा ही मान्य है।

उदाहरणार्थ विशेषवती दृष्टान्त का उदाहरण है जिसे मम्मट ने साधर्म्य से होने वाले दृष्टान्त का दिया है—

त्वयिदृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभव ज्वलितम्
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुमुदं कुमुद्वत्या.॥

यहाँ नायक तथा चन्द्रमा, नायिका एव कुमुदिनी आदि का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार

जहाँ सामान्य का विशेष के साथ अथवा विशेष का सामान्य के साथ समर्थन किया जाये वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है।

अर्थान्तरन्यास का अर्थ है अर्थान्तर अर्थात् अन्य अर्थ का न्यास या रखना। इसमे प्रस्तुत अर्थ के समर्थन या पुष्टि के लिये अन्य अर्थ या अर्थान्तर का न्यास किया जाता है। इसमे दो बाते होती है—सामान्य और विशेष। सामान्य का अर्थ है, बहुदेशव्यापी अर्थात् जिसका विस्तार बहुत बड़ा हो या जिसका क्षेत्र विस्तृत हो और विशेष का अर्थ है, अल्पदेशव्यापी अर्थात् जिसका क्षेत्र सकीर्ण हो।

इस अलकार मे सामान्य बात कहकर उसका समर्थन विशेष बात से और विशेष बात कहकर उसका समर्थन सामान्य कथन से किया जाता है। किसी कथन की पुष्टि के लिये दूसरी बात उपस्थित की जाती है।

जहाँ सामान्य का सामान्य से एव विशेष का विशेष से समर्थन हो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार न हो सकेगा।

इसमे सामान्य बात की पुष्टि के लिये विशेष बात का होना आवश्यक है तथा इसे दो प्रकार से उपस्थित किया जाता है —साधर्म्य के द्वारा और वैधर्म्य से। अलकार महोदधिकार भी जहाँ 'सामान्य का विशेष के साथ अथवा विशेष का सामान्य के साथ समर्थन किया जाये वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार मानते है।[३]

इस अलकार के प्रयोग मे कवि की सफलता उसके व्यापक अनुभवगम्य ज्ञान पर निर्भर करती है। उसका

---

१. दृष्टान्त पुनरेतेषां सर्वेषा प्रतिबिम्बनम्।
एतेषा साधारणधर्मादीनाम् दृष्टान्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्त ॥ काव्य प्रकाश १०/१०२

२ तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्ब भावतया निर्देशे दृष्टान्त.। अलकार सर्वस्व पृ० ९६

३ स स्मृतोऽर्थान्तरन्यास सामान्यमितरोऽपि यत्।
साधर्म्य-वैधर्म्यवता तदन्येन समर्थ्यते॥ अलकार महोदधि ८/३७

लोकानुभव जितना ही सूक्ष्म और व्यापक होगा वह उतना ही अधिक चमत्कार उत्पन्न करने मे सक्षम होगा।

इसका सर्वप्रथम विवेचन भामह के काव्यालकार मे है। भामह ने अपने लक्षण मे सामान्य विशेष भाव का उल्लेख न कर केवल यह कहा कि पूर्व अर्थ से सम्बद्ध कथित अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का वर्णन करना अर्थान्तरन्यास अलकार है। भामह ने इसके दो भेद माने है।[१]

दण्डी ने इसके आठ भेदो का वर्णन कर इसके स्वरूप का विस्तार किया।[२] पर परवर्ती उद्भट का लक्षण अर्वाचीन आचार्यो के अधिक निकट है।[३]

अर्थान्तरन्यास के स्वरूप को व्यवस्थित करने का श्रेय काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट को ही है। और उन्होने ही इसके चार भेदो को मान्यता प्रदान की। इनके अनुसार यदि साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा जहाँ सामान्य का विशेष के साथ या विशेष का सामान्य के साथ समर्थन किया जाये वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार होता है।[४]

मम्मट के परवर्ती आचार्यो का विवेचन मम्मट पर ही आश्रित है। रुय्यक की परिभाषा मम्मट के विवेचन पर ही आधारित है किन्तु इन्होने कारण और कार्य के समर्थन मे अर्थान्तरन्यास को स्वीकार कर सर्वथा नवीन विचार प्रस्तुत किया। इनके अनुसार यदि कथित अर्थ का सामान्य का विशेष भाव के साथ और कार्य का कारण भाव के साथ समर्थन किया जाये तो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार होगा। इन्होने इसके आठ भेदो का कथन किया है।[५] सामान्य का विशेष के साथ एव विशेष का सामान्य के साथ समर्थन मे दो प्रकार हुये। पुन कार्य का कारण के साथ, कारण का कार्य के साथ समर्थन मे इसके दो भेद हुये। इन चारो के भी साधर्म्य और वैधर्म्य के रूप मे आठ भेद हुये।

रुय्यक के मत का जयरथ[६] एव पण्डितराज[७] ने खण्डन किया है कि कार्यकारण भाव के समर्थन मे अर्थान्तरन्यास न होकर काव्यलिङ्ग अलङ्कार होगा।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट द्वारा मान्य अर्थान्तरन्यास के चार भेदो को तो स्वीकार किया ही है पर

रु

---

१. उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा॥
हि शब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये।
अयमर्थान्तरन्यास· सुतरा व्यज्यते यथा॥ काव्यालकार २।७१, ७३॥

२. ज्ञेय सो अर्थान्तरन्यास· सुतरां प्रस्तुत्य किञ्चिन्।
तत्साधन समर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुन॥
विश्वव्यापी विशेषस्थः श्लेषाविद्धोविरोधवान्।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्यय॥ काव्यादर्श २/१६९/१७०

३ काव्यालंकार सारसग्रह २/४, ५।

४ सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यन्तुसोऽर्थान्तरन्यास. साधर्म्येणेतरेण वा॥ काव्यप्रकाश १०/१०९

५ सामान्य विशेष कार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमार्थन्तरन्यास। अलकार सर्वस्व पृ० १३९

६ विमर्शिनी, पृ० १३९

७ रसगगाधर, पृ० ६३८

व्यक से प्रभावित हो कार्य का कारण के साथ एव कारण का कार्य के साथ समर्थन ये दो प्रकार के अर्थान्तरन्यास के भेद भी माने है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने दण्डी द्वारा स्वीकृत 'श्लेषाबिद्ध' इस भेद को भी माना है।

व्यतिरेक

उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष वर्णन मे व्यतिरेक अलकार होता है। व्यतिरेक शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का आधिक्य। अर्थात् गुण विशेष के कारण उपमान की अपेक्षा मे उपमेय मे अधिक उत्कर्ष दिखाना। व्यतिरेक अलकार के नियोजन मे कवि का उद्देश्य उपमेय को ही ऊँचा उठाना रहता है। इसमे भी उपमा के समान दो तत्त्व होते है—भेद और अभेद या साधर्म्य और वैधर्म्य। इसमे उपमा से भिन्नता इस अर्थ मे होती है कि उपमा मे उपर्युक्त दोनो ही तत्त्व समान या तुल्य होते है और व्यतिरेक मे वैधर्म्य तत्त्व की ही प्रधानता रहती है। यह व्यतिरेकगम्य औपम्यमूलक भेद प्रधान अलंकार है। इसमे औपम्य वाच्य न होकर आर्थ होता है। व्यतिरेक मे उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के अपकर्ष वर्णन मे कारण भी उपन्यस्त किये जाते है। इसमे कवि उपमेय के सौन्दर्यातिशयित्व पर ही दृष्टि डालता है। अलकार महोदधिकार ने भी उपमेय की शोभातिशयता को स्वीकार करते हुये उपमान से उपमेय के आधिक्य एव हीनत्व दोनो मे ही व्यतिरेक अलंकार माना।[१] व्यतिरेक अलंकार का निरूपण भामह से लेकर अर्वाचीन आचार्यो तक निरन्तर होता रहा।

भामह ने उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणाधिक्य वर्णन मे व्यतिरेक अलकार माना।[२]

दण्डी ने भामह की अपेक्षा नवीन विचार अभिव्यक्त किये।[३]

उद्भट ने उपमेयोत्कर्ष के अतिरिक्त उपमानोत्कर्ष का भी कथन करते हुये व्यतिरेक का विवेचन किया।[४]

रुद्रट ने भी दोनों स्थितियो मे व्यतिरेक माना।[५] यही से व्यतिरेक विवेचन की दो परम्पराये प्रारम्भ हुई। मम्मट ने उपमेय के उत्कर्ष मे ही व्यतिरेक माना[६] जबकि रुय्यक ने उपमान की उपमेय के गुणाधिक्य और उपमान की अपेक्षा उपमेय की न्यूनता मे भी व्यतिरेक अलकार माना।[७] इन्होने रुद्रट के मत का पोषण किया। आचार्य सूरि ने अपनी परिभाषा का आधार रुय्यक से ग्रहण किया। मम्मट की ही भॉति आचार्य सूरि ने व्यतिरेक के

---

१ विच्छित्तये यदन्यस्मादुपमेयस्य बध्यते।
आधिक्यमथ हीनत्वं व्यतिरेकः स कीर्तित.॥ अलंकार महोदधि ८/३८

२ उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेके तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा॥ भामह काव्यालकार २/७५

३ शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयो।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेक स कथ्यते॥ काव्यादर्श २/१८०

४ विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययो।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु स·॥ का० अल० सारसंग्रह २-६॥

५ रुद्रट—काव्यालंकार ७/८७

६ उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक. स एव स।
हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत्त्रिरष्ट तत्। काव्य प्रकाश

७ भेद प्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेक·। अलकार सर्वस्व पृ० १०१

अनेक भेदोपभेद का वर्णन किया।[1] जबकि रुय्यक ने व्यतिरेक के मात्र दो भेद माने है।

व्यतिरेक मे उपमान से उपमेय के न्यूनत्व रूप वर्णन का उदाहरण विशेष व्याख्या का विषय है क्योकि—

"क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति-यातं तु॥"

इस श्लोक मे काव्यप्रकाशकार ने उपमेयगत आधिक्य वर्णन रूप व्यतिरेक मानकर उपमानभूत 'चन्द्रमा' के 'स्थैर्य' की अपेक्षा उपमेयभूत 'यौवन' मे 'अस्थैर्य' का वर्णन, उपमेय के आधिक्य का ही वर्णन है। परन्तु इस श्लोक मे आचार्य सूरि ने 'अलकार सर्वस्वकार' की मान्यता के अनुसार उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनगुणत्व मे व्यतिरेक सिद्ध किया है। कारण यह है कि उपमानगत आधिक्य के रूप मे 'स्थैर्य' का प्रतिपादन है और उपमेयगत न्यूनत्व के रूप मे 'अस्थैर्य' का और यह सब के लिये स्पष्ट है कि चन्द्रमा की अपेक्षा यौवन अस्थिर हुआ करता है जिससे यहाँ उपमेयगत 'न्यूनत्व' वर्णन रूप 'व्यतिरेक' निसदिग्ध सिद्ध हो जाता है।

विनोक्ति अलंकार

जहाँ एक वस्तु के बिना दूसरी वस्तु शोभित या अशोभित वर्णित की जाये वहाँ विनोक्ति अलकार होगा।

विनोक्ति का अर्थ है विनार्थक शब्द का कथन या 'बिना' शब्द के अर्थ की उक्ति। इसमें बिना, रहित, हीन आदि शब्दो का प्रयोग होता है। किसी वस्तु के बिना किसी वस्तु का शोभन या अशोभन होने पर दोनो ही स्थितियो मे विनोक्ति अलकार होता है।

आलोचकगण विनोक्ति की कल्पना सहोक्ति से ही मानते है। यह सहोक्ति का प्रतिपक्षी अलंकार है। विना शब्द के अभाव मे नञ्, निर्, वि आदि विनार्थक शब्दो के योग में भी विनोक्ति अलकार होता है।

विनोक्ति के लक्षण के विषय मे आचार्यो मे मतैक्यता है। प्रकारान्तर से सब वही बात कहते है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी एक वस्तु के बिना दूसरी वस्तु के शोभन या अशोभन (सत्वासत्वविपर्ययः) को विनोक्ति मानते है।[2] इस प्रकार विनोक्ति दो प्रकार की हुई, किसी के बिना किसी का शोभित होना अथवा अशोभित होना। इस प्रकार 'बिना' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध को विनोक्ति कहते हैं। विनोक्ति अलकार की स्थिति काव्यप्रकाश से पूर्व प्राच्यग्रन्थो मे नही है। ये सत्य है तथापि विमर्शिनीकार के "ग्रन्थकृता पुनरियं चिरन्तनलक्षितत्वाल्लक्षिता" इस कथन से इसकी प्राचीनता प्रतीत होती है।

लेकिन फिर भी आलोचकगण मम्मट को ही इसका उद्भावक मानते है।

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ एक के बिना दूसरा न सुन्दर हो या न असुन्दर हो वहाँ विनोक्ति

---

१ गोचरश्चोपमा श्लेषोपमा श्लेषोऽथ रूपकम्।
प्रसिद्धेश्च विपर्यास. सादृश्य चास्य कीर्तित.॥ अलंकार महोदधि ८/३९

२ विना किञ्चिद् यदन्यस्य सत्वासत्वविपर्यय.।
विनोक्ति· सा।—अलकार महोदधि ८/७९१ हृ·

अलकार होता है। यह शोभन एव अशोभन रूप से दो प्रकार की होती है।[१]

अर्वाचीन आचार्यो को विनोक्ति का यही स्वरूप मान्य है।

रुय्यक ने भी रमणीयता और अरमणीयता की प्रतीति के कारण इसके दो ही भेद माने है।[२]

(१) प्रथम प्रकार की अशोभनरूप विनोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत है—

"विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥"

कवि की इस उक्ति मे 'विनोक्ति' का चमत्कार झलक रहा है॥ 'विनय' के असद्भाव मे 'श्री' भी असद्भूत है—इसका अभिप्राय है 'विनय' के रहने पर ही 'श्री' के रहने मे ही सुन्दरता है अर्थात् 'श्री' की चिन्ता छोड़ विनय की ही चिन्ता की जाये, आदि।

(२) शोभन की विनोक्तिरूप द्वितीय—

मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहार प्रतिभा प्रगल्भः
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः॥

इस श्लोक मे मृगनयनी एव दुष्ट मित्र के न होने पर राजपुत्र की शोभनता का वर्णन होने से दूसरे प्रकार की विनोक्ति का उदाहरण है।

परिकर अलंकार

जहाँ साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग किया जाये वहाँ परिकर अलकार होता है। परिकर का अर्थ है उपकरण या उत्कर्षक वस्तु।[३] इसमे साभिप्राय विशेषण शोभाकारक होकर विशेष्य का उपस्कारक होता है। जिस प्रकार उपकरणो के द्वारा किसी पदार्थ का सौन्दर्य बढ़ जाता है, उसी प्रकार आशययुक्त विशेषणो के समावेश से किसी कथन मे चमत्कार की वृद्धि होती है। इस अलकार का मूलाधार विशेषण वैचित्र्य है। विशेषणो के प्रयोग मे तभी वैचित्र्याधान हो सकता है जब उनके माध्यम से किसी अभिप्राय विशेष की अभिव्यक्ति हो।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के मतानुसार साभिप्राय विशेषणो के द्वारा किये गये कथन को परिकर अलकार कहते हैं।[४]

परिकर अलकार का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट[५] ने किया। कालान्तर मे इसका प्रवाह अर्वाचीन आचार्यो तक चला। आचार्य मम्मट के मतानुसार साकूत या अभिप्राययुक्त विशेषणो से वर्णनीय अर्थ की पुष्टि का होना

---

१. विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्य सन्न नेतर.। काव्य प्रकाश १०/११३

२. विना किञ्चिदन्यस्य सदसत्वाभावो विनोक्ति। अलकार सर्वस्व पृ० १०६

३ विशेषणाना साभिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भाकार·। अतएव प्रसन्नगम्भीरपदत्वान्नाय ध्वनेविषय। एव च प्रतीयमानाशस्य वाच्योन्मुखत्वात् परिकर इति सार्थक नाम। अलकार सर्वस्व, १२०

४. परिकरः साभिप्रायविशेषण —अलंकार महोदधि, ८/४०

५ काव्यालकार। ७/७२॥

परिकर अलङ्कार है।[१] परवर्ती आचार्यो मे रुय्यक[२], विश्वनाथ,[३] दीक्षित[४], पण्डितराज[५] एव विश्वेश्वर[६] ने मम्मट के ही मत का अनुमोदन करते हुये परिकर अलकार का विवेचन किया।

रुद्रट से पण्डितराज तक परिकर अलकार के स्वरूप-विकास के अधिक अवसर न आ सके और न ही विशेष नवीन तत्त्वो का समावेश हो सका। रुय्यक, पण्डितराज और सूरि आदि आचार्यो ने प्रतीयमानार्थगर्भता को ही इस अलकार का विशेष तत्त्व मानते हुये इसे प्रकृतार्थ का उपपादक या उपस्कारक स्वीकार किया। इस पर प्रतीयमानता का वाच्य के उपस्कारक होने के कारण इसे ध्वनि नही कहा जा सकता।[७] और ये अलकार के रूप मे ही मान्य हुआ। यथा—

"राज्ञोमानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याग्रत:
प्रत्यक्षं कुरुबान्धवस्य मिषत. कर्णस्य शल्यस्य च ।।
पीतं तस्य मयाऽद्य पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिण: ।
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्ण करजक्षुण्णादसृग् वक्षस ।।

यहाँ पर विशेषणो का प्रयोग साभिप्राय हुआ है। इस कारण यहाँ परिकर अलकार है।

समासोक्ति

जहाँ प्रस्तुतधर्मी से सम्बन्ध रखनेवाला व्यवहार, केवल सामान्य विशेषणो के द्वारा उपस्थित कराये हुये अप्रस्तुतधर्मी से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहार से अभिन्न प्रतीत होता है। वह समासोक्ति है। प्रकारान्तर से कह सकते है यदि प्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा अप्रस्तुत वृत्तान्त का ज्ञान हो तो सक्षिप्त उक्ति के कारण समासोक्ति अलंकार होता है।

समासोक्ति का अर्थ है सक्षिप्त कथन अर्थात् सक्षेप मे ऐसे दो अर्थो का कथन जिसमे प्रकृत एव अप्रकृत वृत्तान्त का निबन्धन किया जाये तो वहाँ समासोक्ति होगी। समासोक्ति मे श्लिष्ट विशेषणो का प्रयोग होता है पर विशेष्य कभी भी श्लिष्ट नही होते। इसमे प्रस्तुत सदा वाच्य होता है और अप्रस्तुत व्यंग्य। प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना समान विशेषणो के ही कारण होती है। यह व्यञ्जना कार्यसाम्य एवं विशेषण साम्य द्वारा सभव है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार विशेषण साम्य और कार्य साम्य के कारण अप्रस्तुत का गम्य होना समासोक्ति

---

१ विशेषणैर्मत्साकूतैरूरिक्त. परिकरस्तु स.। —का० प्रकाश १०/१८२
२ विशेषणसाभिप्रायत्व परिकर·। अलकार सर्वस्व, पृ० १२०
३. उक्तिर्विशेषणै: साभिप्रायै: परिकरो मत.। साहित्य दर्पण, १०/५७
४. अलंकार: परिकर: साभिप्राये विशेषणे। कुवलयानन्द, ६२
५ विशेषणाना साभिप्रायत्व परिकर.। रसगगाधर, पृ० ५१७
६ साभिप्राय-विशेषण विन्यास: परिकर. प्रोक्त:। अलकार कौस्तुभ, पृ० ३५४
७. साभिप्रायाणि प्रतीयमानार्थगर्भाणि विशेषणानि यत्र स परिकर·।
प्रसन्नगम्भीरपदत्वादय न ध्वनेर्विषय. प्रतीयमानाशस्य वाच्यपरिकरत्वात्। —अलकार महोदधि, पृ० २७९

अलकार है।[१] अर्थात् कही विशेषण की साम्यता के कारण, कही कार्य की समानता के कारण और कही दोनो की समानता के कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति ही समासोक्ति है। इसके इन्होने तीन भेद बताये है—विशेषण की समानता, श्लिष्ट शब्दो के कारण, साधारण और औपम्यगर्भ होने से तीन प्रकार की होती है। आचार्य सूरि ने अपने पूववर्ती आचार्यो के विचारो का ही अनुवर्तन किया है।

समासोक्ति अलकार का विवेचन सभी आचार्यो ने किया है। सर्वप्रथम इसका निरूपण भामह ने किया। भामह ने तीन तथ्यो पर विचार किया—समान विशेषण का प्रयोग, प्रकृत अर्थ से अप्रकृत अर्थ की प्रतीति, सक्षिप्त कथन.।[२] दण्डी ने अपने समासोक्ति निरूपण मे किसी नवीन तथ्य का उद्‌घाटन नही किया, प्रकारान्तर से इन्होने भामह के ही मत को व्यक्त किया।[३] उद्‌भट ने भामह को भाव ग्रहण करते हुये भी प्रस्तुत एव अप्रस्तुत का स्पष्टतः सन्निवेश कर नवीन विचार दिया। उद्‌भट का लक्षण अर्वाचीन आचार्यो के ज्यादा निकट है।[४] प्राचीन आचार्यो मे दण्डी के अतिरिक्त किसी ने भी समासोक्ति के भेदो का कथन नही किया। दण्डी ने तुल्य विशेषण एव तुल्यातुल्य विशेषण के रूप मे इसके दो विभाग किये।

आचार्य मम्मट ने अपनी परिभाषा मे 'श्लिष्टि विशेषणो' का समावेश कर नया विचार दिया। इनके मतानुसार श्लिष्ट विशेषणो के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होना ही समासोक्ति है।[५] इन्होने बताया कि समासोक्ति मे विशेषण सदा श्लिष्ट होते है। श्लेष मे विशेष्य श्लिष्ट होते है।

रुय्यक ने समासोक्ति का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया। इनके अनुसार विशेषण साम्य के कारण अप्रस्तुत कां गम्य होना समासोक्ति अलकार है।[६] इन्होने विशेषण की विच्छत्ति को महत्त्व दिया। रुय्यक के समासोक्ति के लक्षण और निरूपण का प्रभाव अर्वाचीन आलंकारिको पर विशेष रूप से पड़ा।

आचार्य सूरि के समासोक्ति निरूपण मे विशेषण साम्य के अतिरिक्त कार्यसाम्य को भी स्वीकार किया गया, जो कि रुय्यक के मत का ही अनुसरण है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी विशेषण साम्य के अतिरिक्त कार्य साम्य एव लिग साम्य पर विचार

---

१ क्वचिद् भेदकसाम्येन कार्यसाम्येन वा क्वचित्।
क्वचिच्चोभयसाम्येन यदप्रस्तुतगम्यता॥ ४१ ॥
सम्मता सा समासोक्तिस्तत्र भेदकतुल्यता।
श्लिष्टतौपम्यगर्भत्व साधारण्यैस्त्रिधा भवेत्॥४२ ॥ अलकार महोदधि ८/४१-४२

२ यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषण।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा सक्षिप्तार्थतया यथा॥ काव्यालकार २/७९॥

३ वस्तु किश्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुन।
उक्तिः सक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते॥ काव्यादर्श २/२०५॥

४. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणै।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥ काव्यालकार सारसग्रह २/१०

५ परोक्तिर्भेदकै श्लिष्टैः समासोक्तिः। काव्य प्रकाश ८/६७

६ विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्ति। अलकार सर्वस्व, पृ० १०७

किया है।[१]

हेमचन्द्र के मतानुसार उपमेय के श्लिष्ट विशेषणो के द्वारा जहाँ उपमान की प्रतीति हो उसे सक्षेप मे दो अर्थो के कथन के कारण समासोक्ति अलकार कहते है। मम्मट का ही अनुकरण है।[२]

श्लिष्ट पद द्वारा विशेषण साम्य का उदाहरण है—

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंस्थुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि। पादपतनेन सहस्ररश्मिः।

औपम्यगर्भ के द्वारा विशेषण साम्य का उदाहरण है—

दन्तप्रभा पुष्पचिता पाणि पल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा॥

इस श्लोक में मृगाक्षी कामिनी का वर्णन है अनेक विशेषणो मे से 'मृगाक्षी' एक विशेषण है। 'सुवेषा' शब्द प्रकृतार्थ को कामिनीपरक वर्णन मे नियत कर देता है, क्योकि लता सुन्दर वस्त्र नही पहनती है, कामिनी ही पहनती है। अतः शेष पदो का पहले कामिनीपरक अर्थ ही लगाना पड़ता है। यद्यपि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि पदों मे 'दन्तप्रभा एव पुष्पाः तैश्चिता' यह रूपक समास भी किया जा सकता है पर उपर्युक्त आधार पर पहले उपमागर्भ समास करना आवश्यक है।[३] इसके बाद जबकि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि मे 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' आदि रूप से मध्यमपदलोपी समास किया जाता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विशेषणो की महिमा से, जो कि प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनो मे समान रूप से अन्वित हो सकते है, प्रकृत 'मृगनयनी' पर 'लता' के व्यवहार का समारोप किस प्रकार हुआ है। इस प्रकार यहाँ औपम्यगर्भ विशेषण साम्य मे समासोक्ति की रूपरेखा स्पष्ट दिखायी देने लगेगी।

साधारण शब्द के द्वारा विशेषण साम्य का उदाहरण है—

"तन्वी मनोरमा बाला लोलाक्षी पुष्पहासिनी।
विकासमेति सुभग ! भवद्दर्शनमात्रतः॥"

इसमे 'बाला' का वर्णन प्रकृत है। उसी के लिये 'विकासमेति' का प्रयोग हुआ है। विकास नायिका का नहीं अपितु लता का होता है अतः लता मे रहने वाले इस धर्म का उपचार से प्रकृतार्थ मे भी प्रयोग होता है।

---

१. समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन॥ साहित्यदर्पण १०/५६

२ श्लिष्टविशेषणैरुपमान धीः समासोक्तिः।
श्लेषवद्भिरुपमेयविशेषणैर्योपमानस्य प्रतीतिः सासमासेन सक्षेपेणार्थद्वय कथनात्समासोक्तिः।—काव्यानुशासन पृ० ३२८

३ अत्र दन्तप्रभा पुष्पाणीवेत्युपमागर्भत्वेन कृते समासे पश्चाद् दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेति शार्क पार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपि-समासान्तराश्रयणेन विशेषणसाम्यमहिम्ना लताव्यवहार प्रतीतिः। रूपगर्भत्वेन विशेषणसाम्यमेकदेश विवर्ति रूपकस्यैव विषयो नास्याः। —अलंकार महोदधि, पृ० २८०

लतागत धर्म का नायिका के लिये यह औपचारिक प्रयोग तन्वी, मनोरमा आदि विशेषणो की सहायता से सहृदय को नायिका.मे लता के व्यवहार की प्रतीति करा देता है।

समासोक्ति के अन्य भेदो का वर्णन और उदाहरण भी पूर्णतया अलकारसर्वस्व के अनुसार ही हुआ है जिन-जिन स्थलो पर रुय्यक ने समासोक्ति स्वीकार की है, उन्ही-उन्ही स्थलो पर आचार्यसूरि ने भी समासोक्ति को माना है। मम्मट ने केवल एक ही उदाहरण दिया है, वह श्लिष्टविशेषण समासोक्ति का है। विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि आचार्यो ने भी रुय्यक की भेद-व्यवस्था का ही अनुसरण कर, शास्त्रीयवस्तु पर शास्त्रीय या लौकिक वस्तु के व्यवहार-समारोप आदि भेदो का सोदाहरण विवेचन किया है।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार

अप्रस्तुत प्रशसा का अर्थ है अप्रस्तुत का वर्णन करना। यहाँ प्रशसा शब्द वर्णन का ही वाचक है, स्तुति का नही। इसमे अप्रस्तुत वृत्तान्त के वर्णन के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की व्याख्या होती है अर्थात् प्रसगगत बात को न कहकर अप्रासंगिक बात के वर्णन द्वारा प्रसंग बात का बोध कराया जाता है। अप्रस्तुत प्रशंसा मे कवि का प्रधान उद्देश्य प्रस्तुत व्यग्य को ही प्रकट करना या महत्त्व देना होता है। इस अलकार मे कवि अप्रस्तुत को वर्णन का विषय बनाकर प्रस्तुत के सौन्दर्य का बोध कराता है तथा अप्रस्तुत का उद्देश्य प्रस्तुत की सौन्दर्यवृद्धि कराना होता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा के मूल मे सादृश्य ही रहता है, किन्तु वह वाच्य न होकर गम्य होता है।

अप्रस्तुत प्रशसा के स्वरूप-निर्धारण मे आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने आचार्य मम्मट के ही मत का अनुवर्तन किया है।[१] आचार्य सूरि ने मम्मट के समान ही अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत के सम्बन्ध का विचार करते हुये पहले इसकी पॉच स्थितियो का निर्देश किया—

१. जिसमे कार्य से कारण की अभिव्यक्ति हो।

२ जिसमे कारण से कार्य की अभिव्यक्ति हो।

३. जिसमे सामान्य से विशेष की अभिव्यक्ति हो।

४. जिसमें विशेष से सामान्य की अभिव्यक्ति हो।

५ जिसमें अप्रस्तुत के द्वारा अपने सदृश प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो, यह भी साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से दो प्रकार की हो सकती है।

अप्रस्तुत द्वारा अपने सदृश प्रस्तुत की अभिव्यक्ति कही स्तुति रूप मे, कहीं निन्दा रूप मे, कही उभयरूप मे और कही अनुभय रूप मे हो सकती है।

---

१. अप्रस्तुतप्रशंसा सा यत्र कार्ये प्रकारणे।
सामान्ये च विशेषे च प्रस्तुतेऽन्यस्य शंसनम्॥ ४३ ॥
तुल्ये तुल्यस्य साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तु तद् द्विधा। —अलंकार महोदधि ८/४३।

इसका निर्देश भी अलकार महोदधिकार ने किया।[१] यह अप्रस्तुतप्रशसा इस दृष्टि से भी तीन प्रकार की हुआ करती है—(१) कही तो अप्रस्तुत रूप वाच्यार्थ असभाव्य रहा करता है, (२) कही वह सभाव्य हुआ करता है, और (३) कही वह सभाव्य और असभाव्य दोनो रूपो मे अवस्थित दिखायी पड़ा करता है।[२]

अप्रस्तुतप्रशसा का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया तत्पश्चात् पडितराज जगन्नाथ एवं आचार्य विश्वेश्वर तक इसका वर्णन होता रहा। भामह ने भेदो का उल्लेख न करके केवल अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति को ही अप्रस्तुतप्रशसा अलकार माना है।[३] दण्डी के अनुसार प्रस्तुत की निन्दा के निमित्त अप्रस्तुत की प्रशसा ही अप्रस्तुत प्रशसा है।[४]

प्राचीन आचार्यो का अप्रस्तुत प्रशसा निरूपण इसके वास्तविक रूप को प्रकट नही करता है। प्राचीनो ने प्रशसा के अभिधेयार्थ पर ही ध्यान देते हुये इसका प्रयोग स्तुति के ही अर्थ मे किया। अर्वाचीन आचार्य प्रशसा का अर्थ प्रकथन या वर्णन के अर्थ मे करते है। मम्मट ने ही सर्वप्रथम व्यवस्थित परिभाषा दी और परवर्ती आचार्यो ने मम्मट के ही मत का अनुवर्त्तन किया। मम्मट के अनुसार अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की व्यञ्जना को प्रस्तुतप्रशसा अलंकार माना।[५] इनके मतानुसार अप्रस्तुत प्रस्तुत की प्रतीति पॉच सम्बन्धो के कारण होती है—कार्य कारण, कारणकार्य, सामान्य विशेष, विशेष सामान्य एव सारूप्य सम्बन्ध।

परवर्ती आचार्यो मे रुय्यक[६], विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यो ने मम्मट के ही आधार पर अपनी परिभाषाये प्रस्तुत की। उनकी छाया पर ही अप्रस्तुत प्रशसा का निरूपण किया गया। कार्य से कारण की अभिव्यक्ति का उदहारण है—

'याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि।
लज्जामन्थर तारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥'

यहॉ किसी मित्र के द्वारा यात्रा का विचार क्यो छोड़ दिया, इस कार्य रूप अर्थ के पूछे जाने पर नायक ने उसके कारण का कथन किया है। कारण से कार्य की अभिव्यक्ति का उदाहरण है—

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव,
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा।

---

१ एतच्च तुल्ये तुल्याभिधान क्वचित् स्तुतिरूप, क्वापि निन्दारूपं क्वचिच्चोभयरूपं, क्वचिदनुभयरूप च दृश्यते।—अलंकार महोदधि, पृ० २८४

२ वाच्योऽप्यर्थस्त्रिधैवास्या सम्भवा सम्भवोभयैः। अलकार महोदधि ८/४४

३ अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशसेय प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी॥ काव्यालकार २/२९

४ अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुति ॥ काव्यादर्श २/३४०

५ अप्रस्तुतप्रशसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।
कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति॥
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ काव्य प्रकाश १०/९८-९९

६ अप्रस्तुतात्सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुप्रशसा। अलकार सर्वस्व पृ० १३२

कार्कश्यं कलयाऽपि कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं।
सीताया पुरतश्च हन्त। शिखिनां बर्हा सगर्हा इव'॥

यहाँ 'चन्द्रमा आदि मे कालिख की पुताई आदि अप्रस्तुत रूप कार्यो की जो सम्भावना की गयी है, उसके द्वारा, उनके कारणभूत, सीता के मुख आदि के सौन्दर्य विशेष की, जोकि यहाँ प्रस्तुत है, स्पष्टतया प्रतीत हो उठती है।

'पिबन् मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपङ्कजे।
अप्यसन्नद्धसौरभ्यं पश्य चुम्बति कुड्मलम्॥'

यह भ्रमर और कामुक, पङ्कज और प्रौढ़ाङ्गना एव कुड्मल एव मुग्धाङ्गना द्वारा अपने सदृश प्रस्तुत की अभिव्यक्ति होने से साधर्म्य के द्वारा तुल्य प्रस्तुति का उदाहरण है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि की शेष भेदव्यवस्था मम्मट और रुय्यक पर ही समाश्रित है। उदाहरण भी वही से ग्रहीत है।

पर्यायोक्त अभीष्ट अर्थ को प्रकारान्तर से कहना ही पर्यायोक्त अलकार है। अर्थात् जब विवक्षित वस्तु का भग्यन्तर या प्रकारान्तर से कथन या प्रतिपादन हो तो वहाँ पर्यायोक्त अलकार होगा।

पर्याय और उक्त दो शब्दो के योग से पर्यायोक्त शब्द बना है। इस अलकार मे वांछितार्थ या इच्छित बात का प्रकारान्तर या व्यञ्जना वृत्ति से कथन किया जाता है। अर्थात् अभीष्ट बात सीधे ढंग से न कहकर घुमा-फिराकर कही जाती है अर्थात् अभीष्टार्थ को विशेष भगी से व्यक्त करना ही पर्यायोक्त है। इस अलकार मे व्यंग्य अर्थ को वाच्यार्थ के रूप मे प्रकट किया जाता है। जब व्यंग्य रूप से विवक्षित अर्थ काव्य रूप मे प्रतिपादित किया जाये तो वहाँ पर्यायोक्त का सौन्दर्य परिलक्षित होगा। इसमे वाच्यार्थ एव व्यंग्यार्थ दो अर्थ होते है किन्तु दोनो ही प्रस्तुत होते हैं। इसमे किसी ब्याज से भी इष्ट-साधन का वर्णन होता है।

पर्यायोक्त मे वाच्य या विवक्षित अर्थ का व्यजनावृत्ति द्वारा कथन किया जाता है। इसमे व्यग्य अर्थ अत्यन्त स्फुट या प्रकट होता है तथा वह वाच्यार्थ की भाँति चमत्कारक नही होता है। व्यग्यार्थ का उक्ति वैचित्र्य की भाँति चमत्कारक न होने के कारण इसमे चित्रकाव्य की स्थिति मानी जायेगी, ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य की नही।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण अर्थात् प्रस्तुत कार्यरूप वाचकत्व के द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यग्यता के बोध मे पर्यायोक्त अलंकार माना है।[१] आचार्य सूरि गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से कथन करने मे पर्यायोक्त मानते है।

पर्यायोक्त अत्यन्त प्राचीन अलकार है जिसका सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। परवर्ती आचार्यो में सभी प्रसिद्ध आलकारिको ने इसका निरूपण किया।

---

१ प्रस्तुतत्वे द्वयोः कार्यात् कारणं यत्र गम्यते।
पर्यायेणोच्यमानत्वात् पर्यायोक्तं तदुच्यते॥ अलकार महोदधि ८/४५

भामह के अनुसार अन्य प्रकार के कथन करने मे जो चमत्कार होता है उसे पर्यायोक्त कहते है।[१] दण्डी व्यजना द्वारा वाच्यार्थ की सिद्धि मे पर्यायोक्त मानते है।[२]

उद्‌भट ने भामह के लक्षण को उद्धृत कर एक अन्य बात कही, व्यग्य रूप से व्यजित या प्रतीत होने वाले अर्थ को पर्यायोक्त मे वाच्यरूप से प्रकट किया जाता है।[३]

आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम पर्यायोक्त का वैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत किया। इनके अनुसार व्यजना व्यापार द्वारा वाच्यार्थ का प्रतिपादन या बोधन ही पर्यायोक्त अलंकार है। मम्मट ने व्यग्यार्थ के अभिधावृत्ति द्वारा प्रतिपादन का कथन कर इसे ध्वनि से गौण बना दिया और अलकार रूप मे ही इसकी प्रतिष्ठा हुई।[४]

रुय्यक गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से कथन करने मे पर्यायोक्त अलंकार मानते है।[५]

इस सम्बन्ध मे रुय्यक ने एक प्रश्न उठाकर उसका उत्तर दिया है। इनके अनुसार एक अर्थ का एक ही ढंग से, एक ही समय मे प्रतीयमान एव वाच्य होना संभव नही, अतः इसका कथन कार्य द्वारा होता है। रुय्यक ने प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण अर्थात् प्रस्तुत कार्यरूप वाचकत्व के द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यग्यता के बोध में पर्यायोक्त अलकार माना है। इस प्रकार के विवेचन से पर्यायोक्त का क्षेत्र परिसीमित हो गया।

आचार्य सूरि, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यो ने रुय्यक के ही आधार पर पर्यायोक्त का निरूपण किया।

पर्यायोक्त मे वाच्यार्थ एव व्यग्यार्थ दोनो ही प्रस्तुत होते है, किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा मे वाच्य अर्थ प्रस्तुत होता है और व्यग्यार्थ अप्रस्तुत होता है।

आक्षेपालंकार

जब अभीष्ट वस्तु की विशेषता प्रतिपादन करने के लिये उसका निषेध-सा किया जाये तो आक्षेप अलकार होता है। आक्षेप का अर्थ है निषेध, प्रतिषेध या बाधा डालना। इस अलकार मे कवि अभिलाषार्थ को कुछ कहकर बिना उसे पूर्ण किये ही बीच मे छोड़ देता है, अतः इसे आक्षेप कहते हैं। अभीष्ट वस्तु को अपूर्ण छोड़ना ही आक्षेप है। इस प्रकार के वास्तविक व्यवधान या ठहराव से कथन मे अधिक चमत्कार आ जाता है। ऐसी स्थिति मे जो निषेध किया जाता है, वह वास्तविक निषेध न होकर उसका आभास मात्र होता है।

---

१. पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते॥ काव्यालंकार ३/८

२. इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥ काव्यादर्श १२/२९५

३ पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचक वृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ काव्यालंकार सारसग्रह २१

४. पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः। काव्यप्रकाश १०/११५
वाच्यवाचक भावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं
तत्पर्यायेण भङ्ग्यान्तरेण कथनात्पर्यायोक्तं॥ वही

५ गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तं। अलकार सर्वस्व पृ० १४१

इस प्रकार आकस्मिक विरति या ठहराव के कारण वक्तव्य मे अत्यधिक चारुता आ जाती है।

यदि निषेध की झलक न होकर वास्तविक निषेध होगा तो इस अलकार का प्राण ही नष्ट हो जायेगा। आक्षेप अलंकार मे वक्ता के कथन मे वाक्चातुरी का होना आवश्यक है। इसमे वक्ता जब अपनी बात कहने को होता है तब, एव जब कथ्य को कह चुका होता है, तभी उसका निषेध करता है।

दोनो ही स्थितियो मे वक्तव्य मे भगीभणिति या वाच्यवैचित्र्य का होना आवश्यक है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने पूर्ववर्ती आलकारिको की परिभाषा के समान ही आक्षेप का स्वरूप निरूपण किया। इनके अनुसार "विशेषता के प्रतिप्राप्त के लिये उक्त या वक्ष्यमाण विवक्षितार्थ का निषेधाभास ही आक्षेप है।"[१] आक्षेप मे वस्तु निषेध एव वस्तु कथन निषेध होने से इसके दो भेदो का वर्णन आचार्यसूरि ने किया।

आक्षेप अलकार का निरूपण प्राय. सभी आचार्यो ने किया। इसका सर्वप्रथम निरूपण भामह के काव्यालकार मे हुआ। उनके अनुसार किसी कथन की विशेषता के प्रतिपादनार्थ इष्ट वस्तु का निषेध-सा किया जाना आक्षेपालंकार है।[२] भामह ने उक्तविषय एव वक्ष्यमाण विषय के रूप मे इसके दो भेदो का वर्णन किया। दण्डी ने वास्तविक निषेध को आक्षेप कहकर इसकी त्रिकालात्मकता का सन्निवेश कर इसका क्षेत्र विस्तृत किया और इसके २४ भेदो का वर्णन किया।[३] मम्मट ने आक्षेप के स्वरूप निर्माण मे नया तत्त्व न जोड़कर भामह के ही विचार का अनुसरण किया। इनके अनुसार कथन की विशेषता के प्रतिपादन के लिये उसका निषेध सा किया जाये, जो वक्ष्यमाण विषयक एवं उक्तविषयक नामक दो भेदो वाला हो।[४]

रुय्यक के विचारानुसार प्रकरण प्राप्तार्थ की विशेषता के प्रतिपादन के लिये उक्त अथवा वक्ष्यमाण अर्थ का निषेधाभास ही आक्षेप है।[५] इन्होने एक अन्य आक्षेप का भी वर्णन किया जिसमे अनिष्ट के विधान का आभास वर्णित हो। इसका अनुवर्तन साहित्यदर्पण और अलकार महोदधि[६] मे भी प्राप्त होता है। आक्षेप के स्वरूप निर्धारण मे अन्य परवर्ती विश्वनाथ हेमचन्द्रादि आचार्यो ने अपने प्राचीनो का अनुकरण ही किया है। विवेचन मे किसी प्रकार की नवीनता नही है।

(१) वस्तुनिषेध मे आक्षेप का उदाहरण है—

"वा (बा) लय ! नाहं दूई तीइ पिओसि त्ति नम्ह वावारो।

---

१ उक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वक्तुमिष्टस्य बध्यते।
विशेषाय यो निषेध इवाक्षेपः सा लक्षित। अलकार महोदधि ८/४६

२. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति वं सन्तः शसन्ति द्विविधं यथा॥ काव्यालकार २/६८

३ प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता॥ काव्यादर्श २/१२

४. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषयाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः सः आक्षेपो द्विधामतः॥ काव्य प्रकाश १०/१०६

५ उक्तवक्ष्यमाणयो. प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतीत्यार्थ—निषेधाभास. आक्षेप.। अलकार सर्वस्व पृ० १४४

६. यः स्याद् विधिरिवानिष्टवस्तुन. सोऽपि नापर॥ अलकार महोदधि पृ० २९०

सा मरइ तुज्झ अयसो एअं धम्मक्खरं भणिमो ।।
बालक ! नाहं दूती तस्या प्रियोऽसि इति न मे व्यापार ।
सा म्रियते तवायश एतद् धर्माक्षरं भणामः ।।"

यहाँ यह स्पष्ट है कि उक्त दूतीस्वरूप का निषेध किया गया है।

वस्तु कथन के निषेध मे आक्षेप

"ज्योत्सना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः ।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर
व्यापाराय भवन्ति हन्त ! किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ।।"

यहाँ नायक के प्रति दूती का कथन है। यहाँ कथन कहकर पुन. उसका निषेध किया गया है। इस प्रकार दो भेद दिखाकर आचार्य ने रुय्यक की ही भाँति वक्ष्यमाण विषयक के भी दो भेद दिखाये—सामान्य की उक्ति हो जाने पर विशेष का निषेध तथा अश की उक्ति हो जाने पर अशान्तर का निषेध।[१]

किसी विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ जिसमे अनिष्ट के विधान का आभास वर्णित हो-आक्षेप के इस प्रकार का उदाहरण है—

"गच्छ गच्छसि चेत् कान्त ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ।।"

यहाँ जो अनिष्ट अर्थ है, वह प्रियतम का प्रवास रूप अर्थ है। इस अनिष्ट अर्थ का 'गच्छ गच्छसि चेत्' के रूप मे जो विधान है वह अपने आप मे असंगत है और अन्ततः गमन के निषेध का ही अर्थ रखता है। जिससे यह विशेष अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है कि 'ऐसी अवस्था मे अन्यत्र जाना सर्वथा अनुचित है।

व्याजस्तुति अलंकार

यदि स्तुति के बहाने निन्दा और निन्दा के बहाने स्तुति प्रकट की जाये तो व्याजस्तुति अलकार होता है।

व्याजस्तुति का अर्थ है बहाने से प्रशसा करना। इसमे व्याज का अर्थ है बहाना या छल और स्तुति प्रशसा का बोधक है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ छलपूर्वक या बहाने से स्तुति।

इसके दो तत्त्व है—स्तुति पर्यवसायिनी निन्दा एवं निन्दामुखेन स्तुति। व्याजस्तुति अलकार मे आपाततः निन्दा का भाव व्यक्त होता है किन्तु उसका पर्यवसान होता है स्तुति मे। 'निन्दा तथा स्तुति के बहाने तद्विपरीत का प्रतिपादन करने के कारण व्याजस्तुति विशेष चमत्कारक होती है।[२] इसमें दो अर्थ होते है—वाच्य एव व्यग्य। यदि वाच्यार्थ स्तुतिपरक हुआ तो व्यग्यार्थ निन्दापरक होगा यदि और व्यग्यार्थ के निन्दापरक होने पर वाच्यार्थ

---

१. वक्ष्यमाण विषये तु कथनमेव निषिध्यते।
तच्च क्वापि सामान्योक्तौ विशेषनिष्ठत्वेन क्वचित्
पुनरंशोक्तावंशान्तर गतत्वेनेत्यत्रापि द्वौ भेदौ। अलंकार महोदधि पृ०, २८९

२ डॉ० हरिदत्तशास्त्री—काव्यप्रकाश पृ० ४६१

स्तुति पर्यवसायी होगा। अर्थात् शब्दो की अभिधायक शक्ति द्वारा निन्दा का ज्ञान हो किन्तु पदार्थ पर्यालोचन के बाद उसका अर्थ स्तुतिपरक प्रकट होता है।

इस अलकार के प्रयोग मे कवि निन्दा के बहाने स्तुति एव स्तुति के बहाने निन्दा करते हुये स्वय भी आन्दित् होता है और प्रयोक्ता मे भी आनन्दोन्मेष करता है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन मम्मट से ही प्रभावित है। सूरि ने बताया कि स्तुति से निन्दा अथवा निन्दा से स्तुतिपरक अर्थ की व्यजना हो तो व्याजस्तुति अलकार होगा।[१]

व्याजस्तुति का निरूपण प्राचीन आलकारिक भामह से लेकर अर्वाचीन विश्वेश्वर पडित तक अबाध गति से होता रहा।

भामह के अनुसार निन्दा के बहाने की जाने वाली स्तुति मे ही व्याजस्तुति का अलंकारत्व है।[२]

दण्डी ने श्लेष के कारण व्याजस्तुति मे अधिक चमत्कार नियोजन का उल्लेख किया तथा गुण-दोष का कथन कर नया विचार दिया। इन्होने श्लेष तथा अन्य अलकारो से सम्बन्धित अनेक भेदो का सकेत किया है।[३]

मम्मट के अनुसार व्याजस्तुति वहाँ होती है जहाँ किसी पदार्थ की प्रारम्भ में निन्दा या स्तुति अथवा बहाने से स्तुति या निन्दा की प्रतीति हो।[४]

मम्मट तक आकर इसका रूप स्थिर हो गया। परवर्ती आचार्यो ने किसी नवीन तथ्य का समावेश नही किया।

रुय्यक ने भी मम्मट का ही अनुकरण कर व्याजस्तुति का निरूपण किया। तथा इसकी दो संभावनाओ पर विचार किया—

(क) अप्रस्तुत स्तुतिपरक अर्थ से प्रस्तुत निन्दापरक अर्थ की व्यंजना।[५]

(ख) अप्रस्तुत निन्दापरक अर्थ से स्तुतिरूप अर्थ की प्रतीति।

विश्वनाथ[६], हेमचन्द्र[७] आदि आचार्यो का व्याजस्तुति विषय दृष्टिकोण प्राय: मम्मट से ही प्रभावित रहा।

स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा का उदाहरण है—

---

१ व्याजस्तुतिः सा या स्तुत्या निन्दया वा ऽन्यगम्यता। अलकार महोदधि ८/४८

२. दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा॥ काव्यालंकार। ३/३१

३. २/३४३/३४६

४. व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा। काव्य प्रकाश १०/११२।

५. स्तुतिनिन्दाभ्या निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः। अलंकार सर्वस्व, पृ० १४२

६. उक्ता व्याजस्तुति पुनः।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयो·। साहित्य दर्पण, १०/६०

७ स्तुतिनिन्दयोरन्यतत्परता व्याजस्तुति.। काव्यानुशासन, पृ० ३३१

"नामाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत तत् तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्यैर्गृहीतः करः
लोकश्चायमदृष्टदर्शनकृताद् दृग्वैशसादुध्दृतो
युक्तं काष्ठिक ! लूनवान् यदसि ताम्राम्रालिमा कालिकीम् ॥"

अर्थश्लेष

यदि स्वाभाविक एकार्थ प्रतिपादक शब्दो के द्वारा अनेक अर्थो का कथन किया जाये तो वहॉ अर्थश्लेष होगा।

अर्थश्लेष और शब्दश्लेष मे अन्तर होता है। शब्दश्लेष मे अनेकार्थक शब्दो का प्रयोग होता है, किन्तु अर्थश्लेष मे एकार्थ प्रतिपादक या एकार्थक शब्द प्रयुक्त होते है। अर्थश्लेष मे श्लेष अर्थाश्रित होता है और शब्दश्लेष मे शब्दाश्रित। अर्थश्लेष मे एक ही अर्थ को प्रतिपादक शब्दो से, एक वाक्य मे अनेक अर्थ का विधान किया जाता है। इसमे शब्द परिवृत्ति सहत्व होता है किन्तु शब्दश्लेष मे शब्द परिवर्तन संभव नही हो पाता। यदि यहॉ शब्द परिवर्तन कर दिया जाये तो अलंकार की चारुता नष्ट हो जायेगी।

अर्थश्लेष एवं शब्द शक्त्युद्‌भव ध्वनि से यह भेद होता है कि श्लेष में दोनो ही अर्थ वाच्य होते हैं किन्तु शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि मे एक अर्थ वाच्य तथा एक अर्थ व्यग्य होता है।

सस्कृत काव्यशास्त्र में श्लेषालंकार के शब्द एवं अर्थ रूप को लेकर मत-वैभिन्य दिखायी पड़ता है। भामह, दण्डी, उद्‌भट, वामन, रुद्रट, रुय्यक, जगन्नाथ आदि आचार्य श्लेष को अर्थ श्लेष मानने के पक्ष में हैं जबकि मम्मट और विश्वनाथ आचार्यसूरि आदि श्लेष को शब्द और अर्थ दोनो प्रकार का मानते है।

आचार्य सूरि के अनुसार जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ विभूषित होते है वहॉ श्लेष अलंकार होता है।[1]

रुय्यक ने सभंग पद श्लेष को शब्दालकार माना है और अभंग पद श्लेष को अर्थालंकार। सभंग पद श्लेष को वे शब्दालंकार मानने का यह कारण देते है कि जिस प्रकार जतु (लाख) लकड़ी से भिन्न होकर भी उससे चिपकी रहती है उसी प्रकार सभंग पद श्लेष मे भी पहले शब्द पर दूसरा शब्द चिपका रहता है। इसे आचार्य ने 'जतु काष्ठ न्याय' कहा है।

मम्मट आदि आचार्य इस विचार से सहमत नही हैं। मम्मट के अनुसार एकार्थ प्रतिपादक शब्दो के द्वारा अनेक अर्थ के विधान को अर्थ श्लेष कहा जाता है। इनके अनुसार इसमे एक ही वाक्य मे अनेक अर्थ स्फुट होते है।[2]

---

१ वाक्यमेकमनेकार्थं यत्र श्लेष. स भव्यते।
यत्र यस्मिन्नेकं वाक्यं पदसमुदायरूपमनेकार्थं द्वित्राद्यर्थविभूषितं भवति। अलकार महोदधि, पृ० २९१

२ श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्।
एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः॥ काव्यप्रकाश १०/९६

रुय्यक ने बताया कि जब विशेष्य के साम्य होने पर प्राकरणिक, अप्राकरणिक, प्राकरणिकाप्राकरणिक का श्लिष्ट पद के साथ उपनिबन्धन होना ही अर्थ श्लेष है।[१]

समासोक्ति एव अर्थश्लेष मे विभेद स्थापित करते हुये इन्होने कहा कि केवल विशेषण के साम्य मे समासोक्ति एव विशेष्ययुक्त विशेषण के साम्य मे श्लेष है।[२]

विश्वनाथ ने मम्मट के मत का ही अनुसरण करते हुये बताया कि स्वाभाविक एकार्थवाची शब्द के द्वारा अनेक अर्थ का प्रतिपादन करना अर्थश्लेष है।[३]

श्लेष के विषय मे आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि पूर्णतया मम्मटाचार्य से प्रभावित है, उन्होने श्लेष विषयक उदाहरण भी काव्य प्रकाश का ही उद्धृत किया है—

उदयमयते दिग्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्तयति क्रियाः।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्तनकर्तनं।
बत बत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः॥

विभाकर (सूर्य अथवा विभाकर नामक राजा) उदय (उदयाचल या उन्नति) को प्राप्त करता है। दिशा की मलिनता या प्रजा की दरिद्रता से उत्पन्न हुई मलिनता को दूर करता है। निद्रा की मुद्रा को नष्ट करता है। (निद्रा की दिशा को या निन्द्रा के समान निरुत्साह की स्थिति को) कामों में लगाता है (अग्निहोत्र आदि कार्यों में सूर्यपक्ष में) स्वैराचार की प्रवृत्ति का उच्छेद करता है (अभिसार या स्वच्छन्द आचरण की प्रवृत्ति) प्रसन्नता की बात है कि तेजपुञ्ज से सुशोभित विभाकर (सूर्य या राजा) शोभायमान है। (सूर्य पक्ष मे किरण, राजा पक्ष में कान्ति)।

इस उदाहरण में विभाकर नामक राजा की सूर्य के साथ समता दिखलाते हुये, स्तुति की गयी है। विभाकर यह शब्द विभाकर नामक राजा तथा सूर्य दोनो का वाचक है। उसका परिवर्तन कर देने पर दोनों अर्थ की प्रतीति न होने से श्लेष नही रहता है। अत· यह परिवृत्यसह है। अतः इस अश में शब्द श्लेष है। शेष सभी विशेषण राजा तथा सूर्य दोनों पक्षों मे घट जाते हैं और शब्दो का परिवर्तन करने पर भी अलंकार की चारुता या श्लेष की हानि नही होती है। इसलिये उनमे अर्थालङ्कार रूप श्लेष होता है।

विरोध अलंकार

विरोधमूलक अलकारो की शृंखला मे 'विरोध' अलकार सर्वप्रथम निरूपण किया।

जहॉ वास्तविक विरोध न होकर विरोध का आभास मात्र हो तो वहॉ विरोध या विरोधाभास अलंकार होगा। इसमे वास्तविक या यथार्थ विरोध न होकर विरोध की छाया या झलकमात्र दिखायी पड़ती है। आभास मात्र होने पर विरोध का शमन हो जाता है। इसमे दो विरोधी पदार्थ एक ही आश्रय मे वर्णित होते हैं। इस

---

१. विशेष्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेष। अलकार सर्वस्व पृ० १२१

२. केवल विशेषण साम्यं समासोक्तावुक्तम्। विशेष्ययुक्तविशेषण साम्य त्वधिकृत्येदमुच्यते। अलकार सर्वस्व, पृ० १२१

३. शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थ वाचनम्। साहित्य दर्पण, १०/५६

अलकार मे प्रथमत विरोध की प्रतीति होती है, किन्तु जैसे ही प्रसगप्राप्त अर्थ की स्पष्टता होती है, वैसे ही विरोध का परिहार 'हो जाता है। अर्थात् विरोध मे विरोध की स्थिति परिलक्षित होती है किन्तु अर्थ बोध के अनन्तर विरोध उपशमित हो जाता है और सामान्य स्थिति बनी रह जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इसमे विरोध अर्थाश्रित न होकर शब्दाश्रित होता है, अर्थ की प्रतीति हो जाने पर विरोध समाप्त हो जाता है।

विरोधाभास अलकार के लिये यह आवश्यक है कि विरोध के नियोजन मे उसके परिहार के लिये भी स्थान रहे, अथवा वहाँ अलंकारत्व सभव न हो सकेगा।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का 'विरोध' विवेचन रुय्यक से प्रभावित है। इन्होने विरोध मे विषय की एकता पर बल देते हुये जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य रूपो मे परस्पर विरोध की प्रतीति को विरोध कहा।[१]

मम्मट के मत का अनुमोदन करते हुये इन्होने जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के आधार पर विरोध के दस भेदो का वर्णन किया।

विरोध वास्तविक होने पर अलकारत्व नही रह जायेगा प्रत्युत दोष हो जायेगा। विरोध मे विषय की एकता को भी आचार्य सूरि ने महत्त्व दिया है।[२]

विरोधालंकार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया।[३]

दण्डी के अनुसार जहाँ प्रस्तुत के उत्कर्ष को बतलाने के लिये परस्पर विरुद्ध पदार्थो के सम्बन्ध को प्रतिपादित किया जाये विरोधालकार होगा।[४]

रुद्रट ने वास्तवमूलक अलकारो के अन्तर्गत विरोध का विवेचन किया तथा इसके १३ भेदो का वर्णन किया।[५]

विरोध का वास्तविक स्वरूप मम्मट की ही परिभाषा मे स्पष्ट होता है।[६]

पूर्ववर्ती आचार्यो ने वास्तविक विरोध को ही अलकारत्व प्रदान किया था। पर विरोध का सौन्दर्य विरोधाभास मे होता है, इसकी उद्घोषणा मम्मट ने की। मम्मट ने बताया कि जब दो पदार्थों मे परस्पर वास्तविक

---

१ विरुद्धत्वमिवार्थाना विरोधो विषयैक्यत। अलकार महोदधि ८/४९

२ प्ररूढस्य तु तस्य नालङ्कारता। प्रत्युत दोषत्व प्रसङ्गात्।
कस्माद् विरुद्धत्वमित्याह विषयैक्यत एकाश्रयत्वात्
भिन्नाश्रयत्वविरोधि पुनरसङ्गत्यादयो वक्ष्यन्ते स विरोधो नामालङ्कार.। अलकार महोदधि पृ० २९२

३ गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोध तं विदुर्बुधा॥ काव्यालकार ३/२५

४ विरुद्धाना पदार्थानाम् यत्र ससर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोध स्मृतो यथा। काव्यादर्श २/३३३

५. रुद्रट—काव्यालंकार ९/३०

६ विरोध. सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच·।
वस्तुवृत्ते ना विरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधान स विरोध। काव्यप्रकाश १०/११०

विरोध न होने पर भी उनमे विरोध का वर्णन किया जाये तो वहाँ विरोधालकार होगा। इन्होने जाति-गुण-क्रिया और द्रव्य के आधार पर इसके दस भेदो का उल्लेख किया।[१] जाति का जाति, द्रव्य, गुण एव क्रिया से विरोध होने पर चार भेद, तथा गुण का गुण, क्रिया एव द्रव्य से विरोध होने पर तीन भेद, क्रिया का द्रव्य एव क्रिया से विरोध होने पर दो भेद, द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध होने पर एक भेद होता है।

रुय्यक ने विरोध का सविस्तार वर्णन किया है। मम्मट से प्रभावित होते हुये भी नवीन विचारो को अभिव्यक्त किया है। रुय्यक ने विरोध परिहार की स्थिति पर विचार कर विरोधालकार मे नया तत्त्व जोड़ा। इन्होने विरोध मे विषय की एकता पर भी बल दिया। इनके अनुसार 'विरोध' अलकार का अभिप्राय आपाततः विरोध के प्रत्यायक है और इसलिये अन्ततः विरोध समाधायक वाच्यवैचित्र्य का अभिप्राय है।[२]

अर्थात् जाति-गुण-द्रव्य और क्रिया रूप चतुर्विध पदार्थ का अपने विरोधी सजातीय अथवा विजातीय पदार्थ से परस्पर सम्बन्ध ही 'विरोध' अलकार की कल्पना का मूल है। यदि इस विरोध का समाधान न किया जाये तब तो यह काव्यदोष है किन्तु जब इस विरोध का उपशमन कर दिया जाता है तब आपात मे विरोध की प्रतीति का एक नया चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और यह 'विरोध' एक काव्य सौन्दर्य का रूप धारण कर लेता है विरोध का समाधान होने के कारण 'विरोध' को दोषाभाव कहना ठीक नही क्योकि 'आभासमान विरोध' एक वैचित्र्यविशेष है। जिसके देखते 'विरोध' का अलकार रूप निर्विवाद सत्य है।

हेमचन्द्र ने पहले तो विरोध के वही काव्य प्रकाशोक्त दस भेद माने है, किन्तु उनमे वे परस्पर प्रतिबन्ध को विरोध कहते है।[३] फिर व्याघात को विरोध मानकर अन्य उदाहरण दिये है और अन्त मे ये निष्कर्ष निकाला है कि "विभावना, विशेषोक्ति, असगति विषम, अधिक व्याघात और अवद्गुण (ये सात अलकार) पृथक् अलंकार रूप मे नही कहे जाने चाहिये क्योकि इनका अन्तर्भाव विरोध मे हो जाता है। केवल उक्ति वैचित्र्य के कारण भेद होने पर लक्षण बनाये जाये तो अनन्त अलकार हो जायेगे"।[४] पर उनकी ये बात परवर्ती अलकारिको को कुछ भी प्रभावित न कर सकी।

विरोध के प्रथम भेद जाति का जाति से विरोध रूप विरोधालकार का उदाहरण है

'अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहन राशिः।
सुभग ! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते॥

यहाँ 'नलिनीत्व' आदि जातियो का विरोध 'दवदहनत्व' के साथ प्रदर्शित किया गया है। कमल आदि दावानल रूप होना कैसे सभव है, चूँकि यहाँ विरह व्यथा या ज्वाला का वर्णन है अतः इस विरोध का परिहार

---

१ जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभि।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥ काव्य प्रकाश १०/१११

२ विरुद्धायासत्वं विरोधः। इह जात्यादीना चतुर्णां पदार्थानाम् प्रत्येकं तन्मध्ये एव सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधिभ्यां सम्बन्धे विरोध.। स च समाधानम् विना प्ररूढोदोष. सति तु समाधाने प्रमुख एवाभासमानत्वाद्विरोधाभासः। अलंकार सर्वस्व, १५४

३. अर्थानां विरोधाभासो विरोधः। काव्यानुशासन—३२२

४ एव च विभावना विशेषोक्त्यसंगतिविषमाधिकव्याघाताततद्गुणा पृथगलङ्कारत्वेन न वाच्या·। विरोधएवान्तर्भावात् उक्तिवैचित्र्यमात्राद् भेदे च लक्षणकरणेऽलङ्कारनन्त्यप्रसङ्ग। काव्यानुशासन

असगति का परवर्ती विकास रुद्रट के ही आधार पर हुआ। मम्मट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने रुद्रट की परिभाषा के अनुसार ही असगति का विवेचन किया। मम्मट ने कहा कि कारण और कार्यरूप धर्मो का भिन्न स्थान मे एक साथ प्रतीति हो तो वहाँ असगति अलंकार होता है।[1]

रुय्यक ने भी कार्य और कारण की भिन्न देश मे स्थिति को असगति कहा।[2]

इस प्रकार महोदधिकार ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का अनुपालन करते हुये असंगति का स्वरूप निर्धारण किया। इसका स्पष्टीकरण भी मम्मट की ही भॉति किया—लोक मे जिस स्थान पर कारण होता है उसी स्थान पर कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। ऐसा नही है कि महानस (रसोई) स्थित आग से पर्वत पर धुऑ दिखाई पड़े। किन्तु जब कवि द्वारा कार्य कारण की भिन्न स्थान पर विद्यमानता का वर्णन किया जाये तो उसमे असंगति नामक अलंकार होता है।[3] तथा विरोध से असगति का पार्थक्य आधार की भिन्नता के कारण स्पष्ट किया। क्योकि 'विरोध' मे तो उन पदार्थो के समान आधार पर अवस्थान मे विरोध आभासित होता है, जिनकी भिन्न-भिन्न आधार पर अवस्थिति प्रसिद्ध है किन्तु 'असङ्गति मे जिन पदार्थो के भिन्न-भिन्न आधार पर अवस्थान वर्णन मे विरोध की प्रतीति होती है वे ऐसे हुआ करते है जिनकी समान आधार पर अवस्थिति प्रसिद्ध रहा करती है।

आचार्य सूरि आचार्य रुय्यक की मान्यतानुसार असंगति मे 'अभेदाध्यवसाय' की अन्तर्गर्भता आवश्यक मानते है। यथा—

सा बाला वयमप्रगल्भमनसः, सा स्त्री,—वयं कातरा
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते, सखेदा वयम्।
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा, गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्।

इसमे जो असंगति है उसमें अभेद का अध्यवसाय स्पष्ट है क्योकि बाल्यनिमित्त 'अप्रगल्भत्व' आदि और प्रेम निमित्त 'अप्रगल्भत्व' आदि मे 'अभेदाध्यवसाय' होने से ही भिन्न-भिन्न देश मे कार्य और कारण के अवस्थान मे जो 'विरोध' सभव है उसका समाधान किया जा सकता है। (बाल्यकृत स्मरकृतयोर प्रगल्भवचस्त्वयोरभेदाध्यवसायः।) अलकार महोदधि पृ० २९७। अलकार सर्वस्वकार ने भी कहा है 'अब बाल्यनिमित्तम प्रगल्भवचनत्वमन्यदन्यच्च स्मरनिमित्तकमित्यनयोरभेदाध्यवसायः। एवमन्यत्र ज्ञेयम्। पृ० १६४ विमर्शिनीकार ने इसे और भी स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'अतिशयोक्ति असंगति की अनुप्राणिका है, अन्यथा विरोध मिटाना कठिन हो जायेगा क्योकि प्ररुढ विरोध दोनो हो जाता है।"

---

१ भिन्नदेशतयाऽत्यन्तं कार्यकारणभूतयो.।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गति। काव्यप्रकाश १०/१२४

२ तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः। अलकार सर्वस्व, पृ० १६५

३. कार्य-कारणयोर्भिन्नदेशताया त्वसगतिः। इह यद्देशम् कारण तद्देशं कार्यमुत्पद्यमान दृष्टम्। न हि महानस्थो वह्निः पर्वतनितम्बस्थं धूमं जनयति। यदा पुनरेता व्यवस्थामपास्य कार्य-कारणयोः कथञ्चिद् भिन्नदेशता निबध्यते। तद् तस्यां सत्यामसंगतिर्नामलंकृतिर्भवति। तु शब्दः पूर्वस्मिन् विषयैक्यमस्या पुनर्विषयभेद इति व्यतिरेकार्थ। अ० सर्वस्व

विशेषोक्ति अलंकार

पर्याप्त एव पूर्ण कारण होते हुये भी कार्योत्पत्ति का न होना विशेषोक्ति अलकार है।

'विशेषोक्ति' का अर्थ है विशेष प्रकार की उक्ति या असाधारण कथन।

कारण के सद्भाव मे कार्य का अभाव या कार्य का न होना ही विशेष प्रकार की उक्ति है, अत अलकार को विशेषोक्ति कहते है। पूर्ण या अखड कारण के रहने पर भी कार्य का सम्पन्न न होना एक विलक्षण कथन है और यही इस अलकार का चमत्कार प्राण है। कारण के रहने पर कार्य का होना स्वाभाविक है, किन्तु इसके अन्यथा होने पर असाधारण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस अलकार मे सामान्य या लौकिक कथ्य के विपरीत कार्य देखा जाता है। अपने कथन मे अधिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिये ही या अभिप्रायगर्भित विशेष कथन के द्वारा उक्ति को प्रभावोत्पादक बना देता है। यह अलकार विभावना का विलोम है; क्योंकि विभावना मे कारण के अभाव मे कार्योत्पत्ति का वर्णन होता है। विशेषोक्ति मे कार्यानुत्पत्ति या प्रतिबंधक का कारण कही उक्त, कही अनुक्त एव कही अचिन्त्य होता है, और इसी आधार पर इसके तीन भेद किये जाते है।

आचार्य नदेन्द्रप्रभसूरि के मतानुसार कारण की समग्रता मे फल या कार्य का अभाव ही विशेषोक्ति है।[१] इन्होने भी कारण के उक्त, अनुक्त एव अचिन्त्य, इस आधार पर विशेषोक्ति के तीन भेद किये।[२]

इस अलकार का निरूपण प्राय· सभी आचार्यो ने किया। इसका सर्वप्रथम विवेचन भामह[३] ने किया। इन्होने अपूर्ण कारण से कार्य के होने मे विशेषोक्ति मानी है।

विशेषोक्ति के विवेचन मे प्राचीन एव अर्वाचीन आचार्यों के विचारो मे साम्यता नही है। प्राचीन आचार्यो मे भामह, दण्डी[४] एवं वामन[५] के लक्षण विशेषोक्ति के वास्तविक स्वरूप की विकृति नही करते हैं। सर्वप्रथम उद्भट[६] ने इसके वास्तविक स्वरूप की व्याख्या की।

विशेषोक्ति का परवर्ती विकास मम्मट के ही आधार पर हुआ और पण्डितराज तक इसका यही रूप मान्य हुआ। मम्मट ने विशेषोक्ति के स्वरूप को व्यवस्थित कर दिया।[७] मम्मट के अनुसार पूर्ण कारण के होते हुये भी कार्य या फल का न होना विशेषोक्ति है। विशेषोक्ति के भेद एव उदाहरण यथावत् बिना किसी परिवर्तन के काव्यप्रकाश से ले लिये गये है।

---

१ विशेषोक्ति· फलाभाव. साकल्ये हेतु सम्पद.। अलकार महोदधि ८/५१

२. सा च त्रिधा दधत्युक्तानुक्ताचिन्त्यनिमित्तताम्। वही ८/५१

३ एकदेशस्य विगमे या गुणान्तर सस्थिति·।
विशेषप्रथानायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥ काव्यालकार ३/२३

४. काव्यादर्श २/३२३

५ काव्यालकारसूत्र ४, ३, २३

६ काव्यालंकार सार सग्रह ५/४

७ विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच। काव्यप्रकाश १०/१६२

विभावना अलंकार

प्रसिद्ध कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति के वर्णन मे विभावना अलकार होता है।

विभावना का अर्थ है विशेष प्रकार की भावना या कल्पना। वैसे विद्वानो ने विभावना का अर्थ विविध प्रकार से किया है जैसे 'विभाव्यते अनुमीयते हेतुरस्यामिति विभावना' अर्थात् जहाँ कारण का अनुमान किया जाये वहाँ विभावना होती है। या फिर 'विभावयति कारणान्तर कल्पयतीति विभावना' अर्थात् जहाँ कारणान्तर की कल्पना की जाये वहाँ विभावना होगी। 'विरुद्धत्वेन प्रसिद्ध कारणाभावेऽपि भावना कार्यस्य उत्पत्तिः स्यात् अर्थात् प्रसिद्ध कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति के वर्णन को विभावना कहते है। इसके अतिरिक्त विभावना के अन्य अर्थ भी किये गये। इसकी विशेषता कारण के अभाव मे कार्योत्पत्ति के वर्णन में है। चूँकि कारण के अभाव मे कार्योत्पत्ति का वर्णन विशेष प्रकार की कल्पना से होता है, अतः इसी विशिष्टता के कारण चमत्कार उत्पन्न होने पर विभावना होती है। कारणाभाव मे कार्योत्पत्ति का वर्णन वास्तविक न होकर कवि-कल्पित होना चाहिये। वस्तुतः कारण के अभाव मे कार्य का होना एक असमान्य सी बात है। लौकिक नियम के प्रतिकूल कवि अपनी प्रतिभा के प्रगल्भ से कारणाभाव मे भी कार्योत्पत्ति द्वारा विशिष्ट कल्पना का भाव न करते हुये—सौन्दर्याभिव्यक्ति करता है। इस अलकार मे कवि प्रसिद्ध कारण के अभाव मे भी कारणान्तर या अप्रसिद्ध कारण की योजना करके विरोध का परिहार करता है।

आचार्य सूरि के अनुसार जहाँ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य रूप कारणो के अभाव मे भी कार्य की उत्पत्ति होने से, चमत्कारयुक्त अप्रसिद्धि कारण की योजना की जाये वहाँ विभावना अलकार होता है। जहाँ नैसर्गिक सौन्दर्य की विभावना की जाये वहाँ भी विभावना अलकार होगा।[१] इन्होने विभावना मे स्वाभाविक सौन्दर्य का सन्निवेश कर इसे परिपूर्ण एव औचित्यपूर्ण बनाया।

इस अलकार का वर्णन प्राय. सभी आचार्यो ने किया। इसके उद्भावक आचार्य भामह ही है। भामह के अनुसार क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी उसके फल का कथन करना विभावना है।[२]

विभावना के स्वरूप को दण्डी ने ज्यादा स्पष्ट किया तथा विभावना के तीन तत्वो का निदर्शन किया। प्रसिद्ध कारण का अभाव, कारणान्तर की योजना, अन्य कारण की स्वभावतः सिद्धि।[३]

वामन ने भामह के विचारो को गद्यरूप मे उद्धृत किया।[४] रुद्रट ने विभावना के विवेचन मे तीन नवीन तथ्यो का समावेश किया तथा इसके तीन भेदो का वर्णन किया।[५]

---

१ जात्यादीनामभावेऽपि कारणाना फलोदयात्। विभाव्यते चमत्कार कारण कारणान्तरम्॥
यद्वा नैसर्गिकं यत्र सौन्दर्य सा विभावना। अलकार महोदधि ८/५४

२ क्रियाया प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति॥ काव्यालकार २/७७

३ प्रसिद्ध हेतु व्यावृत्या यत् किञ्चित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्व वा विभाव्यं सा विभावना॥ काव्यादर्श २/१९९

४. क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्ध तत्फलव्यक्तिर्विभावना। काव्यालकारसूत्र ४, ३, १३

५ काव्यालंकार ९/१६

मम्मट ने भामह की ही बात को अपने ढग से प्रस्तुत की। इनके अनुसार कारण का प्रतिषेध करके भी फल का कथन करना विभावना है।[१]

'रुय्यक' ने क्रिया के स्थान पर कारण का व्यवहार कर इसका स्वरूप और भी स्पष्ट किया। इन्होने विभावना के मूल मे अतिशयोक्ति को माना तथा दो भेद किये।[२]

'हेमचन्द्र' ने तो विभावना को विरोध मे ही अन्तर्भूत कर दिया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि विभावना के विवेचन मे मम्मट और रुय्यक की अपेक्षा दण्डी और भोज से प्रभावित है। उदाहरण भी वही के उद्धृत किये है।

इन्होने पहले तो जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य के आधार पर विभावना के चार भेद किये। गुणाभावरूप विभावना का उदाहरण है—

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वन:
तथापि जितमेवाभूदमुना भुवनत्रयम् ॥

यहाँ पर आयुध के कठोरता और तीक्ष्णता से रहित होने पर भी कामदेव ने भुवनत्रय को जीत लिया। यहाँ पर प्रभावातिशय रूप कारणान्तर की योजना करके प्रसिद्ध कारण के अभाव मे भी विभावना अलकार है।

पुन: स्वाभाविक सौन्दर्य के विभावन मे विभावना अलंकार का निर्देश किया। इसके अनन्तर मालारूप विभावना का निर्देश किया। पुन: विभावना के स्वरूपान्तर रूप को भी दर्शाया। अर्थात् कारण के अभाव मे भी जहाँ विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्तिवर्णन हो वहाँ विभावना होती है।[३] यथा—

य: कौमारहर: स एवं हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते।
चोन्मीलितमालतीसुरभय: प्रौढ़ा कदम्बानिला: ॥
स चैवास्मि तथापि तत्र सुरत व्यापार लीलाविधौ।
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेत: समुत्कण्ठते ॥

यहाँ पर (उत्कण्ठारूप कार्य के सद्भाव मे) उत्कण्ठा कारण 'वर' आदि का अभाववर्णन उत्कण्ठा कारण के विरोधी के वर्णन द्वारा किया गया है, जिसमे विभावना स्पष्ट झलक रही है। इसी प्रकार उत्कण्ठाभाव का कारण होते हुये भी उत्कण्ठाभाव कार्य के न होने से 'विशेषोक्ति' अलकार भी हो सकता है। इस प्रकार आचार्य सूरि ने इसमे विभावना एवं विशेषोक्ति दो अलकारो की कल्पना करके और उनके सन्देह सङ्कर अलकार की स्थिति सिद्ध की। जबकि आचार्य मम्मट ने इस उदाहरण को 'स्फुटालकार-विरह' के उदाहरणरूप मे प्रस्तुत किया है।

विषम

विषम विरोधमूलक अलकार है। इसमे दो विरोधी या विसदृश पदार्थो के साथ होने मे कवि सौन्दर्य की

---

१ क्रियाया: प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। काव्य प्रकाश १०/१०७

२ कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना। अलंकार सर्वस्व पृ० १५७

३ अत्रापि कारणेऽभावस्तद्विरुद्धभव क्वाचित्। अलकार महोदधि ८/५५

सृष्टि करता है। इस प्रकार दो अननुरूप पदार्थो के ससर्ग का वर्णन ही विषम अलकार है।

विषम का अर्थ है सम का न होना अर्थात् विसदृश या अननुरूप होना।

विषम अलकार मे परस्पर विरोधी या प्रतिकूल स्वभाव वाले पदार्थो के सघटन मे ही कवि चमत्कार की सृष्टि करता है। इसमे स्वाभाविक विरुद्ध पदार्थो के सघटन का वर्णन न होकर कविकल्पित कथन होना चाहिये। इस अलकार मे मुख्यत: तीन बाते है—दो विरूप पदार्थो का ससर्ग, कारण तथा कार्य के गुण तथा क्रियाओ का परस्पर विरुद्ध होना। कर्ता को अभीष्ट की प्राप्ति न होकर अनिष्ट घटित होना। अलंकार-महोदधिकार के मतानुसार जब कारण और कार्य के गुण और क्रियाये परस्पर विरुद्ध रूप से वर्णित हो, अभीष्ट की प्राप्ति न होकर अनर्थ होना तथा दो विरुद्ध पदार्थो की परस्पर सघटना का उपनिबन्धन हो, तब विषम अलंकार होगा।[१]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा मान्य लक्षण का ही अनुमोदन किया है।[२]

विषम अलकार का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य रुद्रट के काव्यालकार मे ही हुआ है। रुद्रट के अनुसार जहॉ कारण और कार्य के गुण एव क्रिया मे विरोध दिखाई पड़े वहॉ विषम अलकार होता है।[३] इन्होने वास्तव एव अतिशय उभयवर्गो के अन्तर्गत विषम का विस्तारपूर्वक विवेचन किया। एव अनेक भेदो का वर्णन किया।

विषम अलकार का परवर्ती विकास का आधार रुद्रट द्वारा किया गया विस्तृत विवेचन ही है।

मम्मट ने रुद्रट को ही आधार बनाकर विषम का विवेचन किया। इन्होने इसकी सामान्य परिभाषा न देकर इसकी चार अवस्थाओ का वर्णन किया है।[४]

(१) दो पदार्थों मे विलक्षणता के कारण सम्बन्ध का अनुपयुक्त प्रतीत होना।

(२) जहॉ कर्ता को क्रिया के फल की ही प्राप्ति न हो अपितु अनर्थ भी लाभ हो जाये।

(३) जहॉ कार्य के गुण, कारण के गुण से विरुद्ध हो।

(४) जहाँ कार्य की क्रिया, कारण की क्रिया से विरुद्ध हो।

मम्मट ने रुद्रट कृत विविध भेदो को व्यवस्थित रूप प्रदान करते हुये उसके चार रूप स्थिर किये। रुय्यक

---

१ कार्यस्याननुरूपत्वमनर्थश्चार्थमिच्छत
यत्र तद् विषम या च घटनाऽननुरूपयो॰॥ अलकार महोदधि ८/५६

२ कारणानुरूप कार्यमुत्पद्यते इति प्रसिद्धौ यत्र कारणापेक्षया कार्यस्यगुणै क्रियया वाऽननुरूपत्वमसादृश्य तदेक विषयम्। तथा कस्यचिदर्थमिच्छतोऽर्थाय प्रवृतस्य न केवल तस्यार्थस्याप्रतिलभ्य, प्रत्युत कस्याप्यनर्थस्यावाप्तिरिति द्वितीयम्। या च परस्परमननुरूपयोरत्यन्तानुचितयोर्घटनासयोगस्तत् तृतीयम्। अलकार महोदधि ८/५६-वृत्ति।

३ कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोध परस्पर गुणयो॰।
तद्वत् क्रिययोरथवा सजायेतेति तद्विषमम्॥ काव्यालकार ९/४५

४. क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्तु॰ क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत्॥
गुण क्रियाभ्या कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मत.॥ काव्यप्रकाश १०/२६, २७

ने भी मम्मट का ही अनुकरण करते हुये विषम का स्वरूप निर्धारित किया।[१]

रुय्यक ने विषम के तीन भेद ही माने जो कि आचार्य सूरि ने भी यही से ग्रहण किये है। यथा—

कारण गुण से कार्य के विरोध मे विषम—

(१) *'सद्य. करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाण लेखा।*
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते॥'

यहाँ विषम अलकार की चारुता परिलक्षित हो रही है क्योकि यहाँ कारण के गुण ही कार्य के गुण के उत्पादक हुआ करते है। इस नियम के विरुद्ध 'असिलता' रूप कारण का 'नीलत्व' गुण कार्यभूत यथ मे नीलत्व का उत्पादन न करके शुक्लत्व का उत्पादन कर रहा है।

इसी तरह कारण की क्रिया से कार्य क्रिया के विरोध मे भी विषम अलकार हो सकता है।

(२) जहाँ अनुरूपतारहित दो पदार्थो मे परस्पर सबध संघटित किया जाये वहाँ भी विषम होता है।

शिरीषादपि मृदङ्गी केयमायतलोचना।
अयं क्व च कुकूलाग्नि कर्कशो मदनानलः॥

यहाँ कामाग्नि एव कोमलागी नायिका का सबध दो अननुरूप पदार्थो का ससर्ग है अतः विषम अलकार होगा। इसी प्रकार आरब्ध कार्य के वैकल्य मे अनर्थोत्पत्तिरूप 'विषम' अलकार भी होता है।

सम अलंकार

विषम का विपरीत सम है। इसमे एक प्रकार के पदार्थो के यथायोग्य सम्बन्ध का वर्णन होता है अर्थात् जहाँ दो अनुरूप पदार्थो के परस्पर योग्य सम्बन्ध का वर्णन हो वहाँ समालङ्कार होता है। सम की व्युत्पत्ति है—सहतुल्यतामीयते इति समम्—समानता के कारण दो पदार्थो मे सम्बन्ध स्थापन। यहाँ पर दो वस्तुओ के सम्बन्ध का वर्णन करते हुये यह बतलाया जाता है कि इनका यह सम्बन्ध प्रशसनीय है।

सम मे दो उत्तम अथवा अधम पदार्थो के यथायोग्य सम्बन्ध का वर्णन होता है।

आचार्यसूरि भी दो अनुरूप पदार्थो के परस्पर सम्बन्ध को समालंकार मानते है।[२] अभिरूप पदार्थों के परस्पर उचित सयोग से प्रथम भेद एव अनभिरूप पदार्थो के योग से द्वितीय भेद बताकर, दो प्रकार के समालंकार का वर्णन करके अपने पूर्ववर्ती मम्मट और रुय्यक मे ही अपनी सहमति स्पष्ट की है। उदाहरण भी काव्यप्रकाशोक्त हैं।

कुछ आलोचक समालकार के उद्भावक आचार्य रुद्रट को मानते हैं एव कुछ समालोचक आचार्य मम्मट

---

१. विरूपकार्यऽनर्थयोरुत्पत्तिर्विरूप संघटना विषमम्। अलकार सर्वस्व, पृ० १६५
२. तत् समं सङ्गमो यत्र द्वयोरप्यनुरूपयो। अलंकार महोदधि पृ० २९९
तत् समं नामालकारो यत्राभिरूपयोरनभिरूपयोर्धा द्वयोरप्यनुरूपयो
परस्परमुचितयोः सङ्गमो विज्ञश्लाघ्यो योगो भवति। अलकार महोदधि, पृ० २९९

को इसका श्रेय देते है।

रुद्रट के काव्यालकार मे साम्य के नाम से इसका वर्णन प्राप्त होता है।[१] तथा उन्होने इसके उदाहरणो को भी समुच्चय का ही उदाहरण माना है।

अत मम्मट को ही समालकार का उद्भावक आचार्य माना जा सकता है। मम्मट ने दो पदार्थो के श्लाघनीय या औचित्यपूर्ण सम्बन्ध को सम कहा। इनके अनुसार उत्तम का उत्तम के साथ एव निकृष्ट का निकृष्ट पदार्थ के साथ सयोग वर्णन मे योग्य सम्बन्ध होता है। यदि वर्णनीय वस्तु की औचित्यरूप मे प्रतीति हो तो समालकार होता है।[२] यह शोभन पदार्थो के योग मे, अशोभन पदार्थो के योग मे होने से दो प्रकार का होता है।

रुय्यक ने सम को विषम का विपर्यय माना तथा अनुरूप पदार्थो के सघटन एव अननुरूप पदार्थो के परस्पर सघटन से इसके दो भेद किये।[३]

अनुरूपपदार्थो के यथायोग्य सम्बन्ध मे सम-यथा—

"धातुशिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी।
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दन्तपत्रः स्मरस्य।
जातं दैवात् सदृशमनयोः सगतं यत्तदेतत्
शृंगारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम्॥"

यहाँ राजा एवं मृगनयनी दोनो के शोभन सौन्दर्य का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

दो अननुरूप पदार्थो के सम्बन्ध मे सम—यथा—

"चित्रं चित्रं बत बत महाचित्रमेतद्विचित्रम्।
जातो दैवादुचितरचना संविधाता विधाता
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया।
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः॥

यहाँ काक और निम्ब दो असत् पदार्थो का यथायोग्य सम्बन्ध होने से द्वितीय प्रकार का समालंकार है।

अधिक

आधार और आधेय मे से किसी एक की अधिकता का वर्णन करना अधिक अलकार है।

अधिक का अर्थ सुस्पष्ट है। इस अलकार मे आधाराधेय मे से किसी एक के आधिक्य का वर्णन किया

---

१. अथ क्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम्।
तत्सामान्य गुणादिक कारणया तद्भवेत्साम्यम्॥
सर्वाकार यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीत विशेषमन्यत्तत्॥ काव्यालंकार ८/१०५, १०७

२. सम योग्यतया योगो यदि सम्भावित. क्वचित्। काव्यप्रकाश १०/१२५
इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषयमध्यवसान चेतदा समम् तत्सद्योगेऽसद्योगे च। वही, १०/१२५

३. तद्विपर्ययः समम्। अलकार सर्वस्व पृ० १६७

जाता है। जिस वस्तु पर कोई वस्तु आश्रित होती हे उसे आधार एव जो वस्तु रखी जाती है उसे आधेय कहते है। आधार को आश्रय एव आधेय को आश्रित भी कहा जाता है। इसमे कही तो आधार की अपेक्षा आधेय को बड़ा दिखलाया जाता है और कही आधेय से आधार के आधिक्य का वर्णन होता है।

अधिक मे आधिक्य का वास्तविक वर्णन न होकर कवि कल्पना प्रसूत होता है। यह विरोधमूलक अलकार है,जिसमे आधाराधेय के आधिक्य वर्णन मे विरोध का भाव रहता है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार 'अधिक' अलंकार मे आधाराधेय भाव से युक्त दो पदार्थो का अननुरूप सघटन होता है[१] तथा इसके दो भेद है, प्रथम आश्रय के आधिक्य से आश्रयि की न्यूनता, द्वितीय आश्रयि की अधिकता मे आश्रय की न्यूनता का वर्णन रूप दो भेद है।

अधिक अलकार भी रुद्रट के ग्रन्थ मे ही सर्वप्रथम मिलता है।[२] इन्होने इसके दो भेद माने है। अधिक अलकार का परवर्ती विकास रुद्रट द्वारा कृत द्वितीय भेद के आधार पर हुआ। आचार्य मम्मट ने इसके स्वरूप को व्यवस्थित करते हुये अधिकालकार के दो भेदो का वर्णन किया।[३]

परवर्ती रुय्यक, सूरि, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने मम्मटाचार्य के वर्णन के आधार पर ही अधिकालंकार का निरूपण किया।

रुय्यक ने आधारधेयभाव से युक्त दो पदार्थो के अननुरूप सघटन को अधिकालकार कहा तथा आधाराधेयभाव की न्यूनता और अधिकता के आधार पर इसके दो भेद किये।[४]

आधेय से आधार की अधिकता रूप वर्णन—यथा—

"द्यौरत्र क्वचिदाश्रिता प्रविततं पातालमत्र क्वचित्।
क्वाप्यत्रैव धरा धराधरजलाधारावधिर्वर्तते।
स्फीतस्फीतमहो। नभः कियदिदं यस्येत्थमेवंविधै-
दूरे पूरणमस्तु शून्यमिति यन्नामापि नास्तं गतम्"

यहॉ पृथ्वी आदि के अपेक्षा गगनरूप आधार के आधिक्य का वर्णन है।

आधेय के आधिक्य वर्णन मे—यथा—

युगान्तकालप्रति संहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासतः।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः॥

---

१ अधिक नानुरूपत्वमाश्रयाश्रयिणोस्तु यत्। अलकार-महोदधि ८। ५७।

२. यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत् क्रियाप्रसिद्ध वा।
वस्तुद्वयमेक स्याज्जायते इति तद्भवेदधिकम्॥
यत्राधारे सुमहत्याधेयभवस्थित तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथञ्चित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम्॥ काव्यालकार ९। २६, २८।

३. महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रयो. क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनूत्वेऽप्यधिक तु तत्॥ काव्य-प्रकाश १०। १२८।

४ आश्रयाश्रयिणोरानुरूप्यमधिक। अलंकारसर्वस्व पृ० १६९।

यहाँ भगवान श्रीकृष्ण की अपेक्षा नारद मुनि के हर्ष को विशाल बताया गया है।

विचित्र

इस अलंकार मे अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये उसके विरुद्ध उद्योग किया जाता है। यह विरोधगर्भ अलकार है। अभीष्ट की सिद्धि के लिये उसके प्रतिकूल क्रिया के अनुष्ठान मे ही विचित्र का अलकारत्व अक्षुण्ण है। इसमे फल प्राप्ति के लिये किये गये प्रयास मे विरोध का भाव निहित रहता है। मन की इच्छा के विरुद्ध कार्य करना ही विचित्रता है तथा इसी पर आधृत होने के कारण इसे विचित्र कहा जाता है।

नरेन्द्रप्रभसूरि के मतानुसार इष्ट कार्य की सम्यग् निष्पत्ति के लिये, उस कार्य के विरुद्ध, क्रिया का करना ही विचित्र अलकार है।[१] इन्होने आचार्य रुय्यक के ही मत को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया।

इस अलकार का वर्णन अलकार सर्वस्व से पूर्व किसी ग्रन्थ मे नही मिलता है, अतः इसके उद्‌भावक आचार्य रुय्यक ही है। विमर्शिनीकार ने स्पष्ट ही लिखा है कि 'एतद्धि ग्रन्थकृताऽभिनवत्वेनोक्तम्'—अर्थात् ग्रन्थकार ने यह अलकार नवीन कहा है।

रुय्यक के अनुसार अपने अभीष्ट के विपरीत फल प्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्न को विचित्र अलकार कहते है। आश्चर्य प्रतीति का कारण होने से इसे विचित्र कहते है।[२]

रुय्यक के बाद प्रायः सभी अर्वाचीन आलंकारिको ने विचित्र अलकार को स्वीकार कर उसका वर्णन किया। यथा—

उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्ताशया
प्राणान् प्राणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया
सर्वं तद् विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक् सेवकः ॥

यहाँ विचित्र अलकार है क्योकि उन्नति के लिये नमति (झुकना) आदि क्रिया विपरीत होने से विचित्रता है। यहाँ मन की इच्छा के विरुद्ध कार्य हुआ है। कवि ऐसे ही वक्तव्य के द्वारा विचित्र अलकार का वर्णन करते हुये जीवन की विचित्रता का उल्लेख करता है।

पर्याय

एक वस्तु की क्रम से अनेक स्थानो मे स्थिति हो या अन्य के द्वारा की जाये तो वहाँ पर्याय अलङ्कार होता है।

पर्याय शब्द का अर्थ है क्रम—पर्यायोऽवसरेक्रमे इसमे एक वस्तु की या एक आधेय की क्रमशः अनेक

---

१. यस्मिन्निष्टस्य कार्यस्य सम्यग्निष्पतिहेतवे।
तद्विरुद्धक्रियारम्भस्तद् विचित्रमितीरितम् ॥ अलकार-महोदधि ८। ५८।

२. स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नोविचित्रम्। यस्य हेतोर्यत्फल तस्य यदा तद्विपरीत भवति तद् तद्विपरीतफलनिष्पत्यर्थ कस्यचित्प्रयत्नः उत्साहो विचित्रालङ्कार। आश्चर्य प्रतीति हेतुत्वात्। अलंकार सर्वस्व पृ० १६८।

आधारो मे स्वत· स्थिति होती है या दूसरे के द्वारा की जाती है। इसमे वस्तु का वर्णन क्रमश या एक के बाद दूसरे का होता है तथा एक साथ न होकर कालभेद से होता है।

पर्यायालङ्कार मे आधार, आधेय का वर्णन चमत्कारपूर्ण होना चाहिए।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के मतानुसार एक वस्तु की अनेक मे, अथवा अनेक की एक मे क्रम से स्थिति का वर्णन किया जाये तो वहाँ पर्यायालङ्कार होगा।[१] इसका प्रथम भेद वहाँ होता है, जहाँ एक आधार मे अनेक आधेयो की स्थिति हो, द्वितीय प्रकार का पर्याय वहाँ है जहाँ एक आधेय की स्थिति अनेक आधारो मे दिखायी जाये। इनके भी दो भेद आधार और आधेय के सहत एव असहत रूप होते है। इस प्रकार इसके चार भेद हुये।

'अलकार-महोदधि' का पर्याय-निरूपण 'अलकार-सर्वस्व' का ऋणी है।

पर्यायालङ्कार का सर्वप्रथम निरूपण रुद्रटकृत काव्यालकार मे हुआ है। रुद्रट के बाद प्राय: सभी आचार्यो ने इसका उल्लेख किया।

रुद्रट ने पर्याय के दो भेदो का कथन किया। पर्याय का परवर्ती विकास रुद्रटकृत द्वितीय भेद के आधार पर हुआ तथा प्रथम भेद को मान्यता प्राप्त न हो सकी। इन्होने इसके द्वितीय भेद के भी दो-उपभेद किये।[२]

मम्मट ने पर्याय के व्यवस्थित स्वरूप को प्रस्तुत किया। इनके अनुसार एक वस्तु क्रम से अनेको मे हो या की जाये तो वहाँ पर्याय होगा। इसके दूसरे भेद का वर्णन करते हुये आचार्य मम्मट ने कहा कि अनेक पदार्थो की एक मे स्थिति हो या करायी जाये तो उक्त भेद होगा।

रुय्यक ने पर्याय के चार प्रकारो का वर्णन किया पर परिभाषा मम्मट सम्मत ही प्रस्तुत की।[३] रुय्यक के परवर्ती आचार्यो ने रुय्यक का ही अनुगमन किया है। यथा—

मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो। प्रथमं पृथु व्यनक्ति।
अथ कथयति मोहहेतुरन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव॥

यहाँ अमृतवचन और विष कथन रूप अनेक अर्थ एक खलवचन में क्रम से होते हैं। अतः यहाँ एक

---

१. पर्यायोऽनेकमेकस्मिन् क्रमात् तद्व्यत्योऽपि यत्।
यदनेकमाधेय द्वित्र्यादिकं क्रयादेकस्मिन्नाधारे भवति स एकः पर्यायः।
तद्व्यत्ययोऽप्यनेकस्मिन् आधारे क्रमादेकमाधेयमिति द्वितीय पर्याय।
क्रमवत्वाच्चास्यान्वर्थता। अनेकश्चार्थोऽस्मिन्नसहत सहतश्चेति द्विविध.। अलंकार-महोदधि पृ० ३०१।

२. यत्रैकमनेकस्मिन्नेकमेकत्रं वा क्रमेण स्यात्।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियते वान्य. स पर्याय।
वस्तुविवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृश तस्य।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत्स पर्याय.॥ काव्यालकार ७। ४४।

३ एकंक्रमेणानेकस्मिन्पर्याय.।
एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् भवति क्रियते वा स पर्यायः।
अन्यस्तोऽन्यथा।
अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्य·। काव्यप्रकाश १०। ११७।

ही आधार मे अनेक आधेयो का वर्णन होने से पर्यायालङ्कार है।

विकल्प

विकल्प का अर्थ है दो मे से एक। इसमे समान बल वाली दो वस्तुओ के परस्पर विरोध का वर्णन होता है तथा दो मे से एक की स्थिति का रहना दिखाया जाता है। इस प्रकार तुल्य बल वाले परस्पर विरोधी पदार्थो की एक ही समय मे एकत्र स्थिति दिखायी जाये तो विकल्प अलकार होता है। इसमे औपम्यगर्भता के कारण ही चमत्काराधान होता है। इसमे अनिश्चितता की स्थिति होने से ही इसे विरोधगर्भ अलङ्कार माना जाता है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार तुल्य बल वाले पदार्थो मे विरोध होने से विकल्पालंकार होता है।[१]

विकल्पालकार मे कविचातुरी का होना आवश्यक है। इस अलकार की कल्पना राजानक रुय्यक ने की थी। रुय्यक के पूर्ववर्ती आचार्यो ने इसे स्वतत्र अलकार स्वीकार नही किया है। "प्राचीन आलकारिक विकल्प का स्वरूप विवेक नही कर पाये थे।"[२] ऐसी रुय्यक की मान्यता है। आचार्य रुय्यक ने 'समुच्चय' अलंकार के प्रतिपक्षरूप से 'विकल्प' अलकार की कल्पना की।

आचार्य रुय्यक समान बल वाले दो वस्तुओ मे विरोध होने से विकल्पालकार होता है। "दो विरोधियो के—जो समान प्रमाण से विशिष्ट होने से समान बल वाले होते है—एकत्र पाये जाने पर विरोध होने से एक साथ रह पाना जहाँ सम्भव न हो तो वहाँ विकल्पालङ्कार होता है। औपम्यनिष्ठ होने के कारण इसमे चारुता होती है।"[३]

लौकिक या लोकसिद्ध विकल्प के वर्णन मे रुय्यक अलकारत्व न मान कर कविप्रतिभा निवर्तित विकल्प मे ही अलंकारता स्वीकार करते है। इसलिये इन्होने विकल्पालकार के लिये औपम्यगर्भता एवं श्लेषोत्थापित औपम्यगर्भता को आवश्यक माना है।

विकल्प का परवर्ती विकास रुय्यक की ही मान्यताओ के आधार पर हुआ। यथा—

"नमन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्या वा।"

यहाँ विकल्प का चमत्कार स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है। 'शिरोनमन' एव 'धनुर्नमन' मे तुल्यबलता इसलिये है क्योकि दोनो मे परस्पर स्पर्धा सी दिखायी जा रही है। यहाँ 'चातुर्य' अथवा वैचित्र्य का अभिप्राय परस्पर औपम्य अथवा 'सादृश्य-निर्देश' का अभिप्राय है। यही बात 'आज्ञा कानो तक ले जाये या प्रत्यञ्चा कानों तक ले जाये' आदि मे लागू है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण है—

---

१. विकल्प· स्याद् विरुद्धत्वे समानबलशालिनो। अलकार-महोदधि ८। ५९।

२ पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम्—अलकार-सर्वस्व पृ० २००।

३. तुल्यबलविरोधी विकल्पः। विरुद्धयोस्तुल्यप्रमाणविशिष्टत्वातुल्यबलयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ विरुद्धत्वादेव यौगपद्यासभवे विकल्पः। औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्। क्वचिच्छलेषावष्टम्भेनाप्यय दृश्यते।—। तस्मात्समुच्चयप्रतिपक्षभूतो विकल्पाख्योऽङ्कार· पूर्वैरकृत विवेकोऽत्र दर्शित इत्यवधातव्यम्॥ अलकार सर्वस्व पृ० १९७-१९८।

'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्द्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावणस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरे.।

'विकल्प'—बन्ध है इसमे श्लेषनिबन्धन औपम्यगर्भता का वैचित्र्य झलक रहा है क्योकि 'आप के पाप-सताप की शान्ति भगवान विष्णु की ऑखे करे या उनकी देह करे' की उक्ति मे ऑखो और देह की समस्पर्धिता स्पष्ट है तथा दोनो सादृश्यगर्भता भी है।

व्याघात अलंकार

व्याघात विरोधमूलक अलकार है। व्याघात का अर्थ है विशेष प्रकार का आघात। किसी व्यक्ति द्वारा सिद्ध किये गये कार्य को यदि दूसरा उसी साधन से अन्यथा या विपरीत कर दे तो वहॉ व्याघात अलकार होगा। इसमे कवि दो विरोधी साधनो का वर्णन करता है अर्थात् एक क्रिया के दो प्रतिकूल साधन वर्णित होते है।

जिस उपाय द्वारा जो वस्तु एक व्यक्ति ने सिद्ध की है, उसको अन्य व्यक्ति विजय की इच्छा से उस उपाय के द्वारा ही जो अन्य अर्थात् विपरीत सिद्ध कर देता है वह पूर्वसाधित वस्तु के व्याघात का हेतु होने से व्याघात अलंकार होता है। इस प्रकार इस अलकार मे दो परस्पर विरोधी साधनो का कथन करते हुये चमत्कार की सृष्टि की जाती है।

आचार्य सूरि के अनुसार, "जिस उपाय से किसी ने कार्य किया, उसी उपाय से दूसरा उसे अन्यथा कर दे तो वह व्याघात अलकार होगा।"[१]

व्याघात के भी आविर्भावक रुद्रट ही है। रुद्रट के मतानुसार दूसरे कारणो से प्रतिहत न होते हुये भी जहॉ कारण कार्य का जनक नही कहा जाता वहॉ व्याघात होता है।[२]

रुद्रट की परिभाषा परवर्ती आचार्यो के लक्षण से एकदम भिन्न है। परिणामस्वरूप इसको परिष्कृत रूप मे निरूपित करने का श्रेय आचार्य मम्मट को ही है। मम्मट ने बताया कि व्याघात अलकार वहॉ होता है जब व्यक्ति के द्वारा सिद्ध किये गये कार्य को अन्य व्यक्ति उसी साधन से उसे विपरीत सिद्ध कर दे।[३] वृत्ति मे अपने विचार को स्पष्ट करते हुये मम्मट ने बताया कि जिस उपाय से किसी वस्तु को एक व्यक्ति ने सिद्ध किया है यदि अन्य उपाय से अन्य व्यक्ति विजयेच्छा से उसके विपरीत कार्य कर दे तो वहॉ व्याघात होगा।

आचार्य सूरि की परिभाषा पूर्णतया मम्मट से ही प्रभावित है।

---

१ साधितं यद् यथैकेन तथैवान्यस्तदन्यथा।
यत् साधयति स ज्ञेयो व्याघात। अलकार-महोदधि, पृ० ३०३।

२ अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयते व्याघातः स इति विज्ञेय.॥ काव्यालकार ९। ५२।

३ यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात· इति स्मृत·। काव्यप्रकाश १०। १३८।

आचार्य रुय्यक भी मम्मटाचार्य के ही विचारो को प्रकारान्तर से अभिव्यक्त करते है। इनका कहना है कि जहाँ सिद्ध किये गये कार्य को अन्य के द्वारा अन्यथा कर दिये जाने का वर्णन हो तो वहाँ व्याघात अलकार होगा। अर्थात् किसी व्यक्ति के द्वारा किसी उपाय विशेष का अवलम्ब लेकर सिद्ध किया कार्य यदि उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी के द्वारा किसी उपाय विशेष से अन्यथा या असिद्ध कर दिया जाये तो वहाँ व्याघात होगा।[१] विश्वनाथ ने भी रुय्यक का ही अनुगमन किया है।

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरुपाक्षस्य जयिनीस्ता. स्तुवे चारुलोचना।

यहाँ नेत्र से पहले जिस कार्य को किया गया उसी से उसके विरुद्ध कार्य करने का वर्णन है। जिस दृष्टि से शिव ने कामदेव को जला दिया उसी दृष्टि से सुन्दरियो ने उसे जला दिया।

यहाँ तक व्याघात निरूपण मम्मट के ही अनुसार है। इसके बाद आचार्य सूरि ने दूसरे प्रकार का व्याघात निरूपण किया आचार्य रुय्यक के अनुसार।[२] जिस सौकर्य के साथ, किसी के द्वारा निष्पादित कार्य के अन्यथाकरण के वर्णन मे देखा जाया करता है। यहाँ जो कार्य है वह वस्तुतः कार्य का विरोधी होने पर भी कार्यरूप ही है नकि अनर्थरूप। किसी कार्य की निष्पत्ति की अपेक्षा उसके विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति अधिक सुगम हुआ करती है क्योकि वहाँ जो कारण हो सकता है वह कार्य विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति के लिये अधिक उपयुक्त हो सकता है।

आचार्य सूरि का द्वितीय प्रकार का व्याघात निरूपण आचार्य रुय्यक से पूर्णतया प्रभावित है। रुय्यक के अनुसार जिसमे किसी व्यक्ति द्वारा किसी कार्य को सुगमतापूर्वक अन्यथा कर देने का वर्णन किया जाता है।[३]

आचार्य विश्वनाथ ने भी व्याघात के द्वितीय प्रकार का वर्णन रुय्यक की ही भाँति किया है।[४]

अन्योन्य अलङ्कार

यह विरोधमूलक अलकार है। अन्योन्य का अर्थ है परस्पर। इसमे दो पदार्थ परस्पर उपकारक होते है इस अलकार मे पारस्परिक सहयोग का भाव दृष्टिगोचर होता है जिसमे लौकिक व्यवहारिकता का औचित्य है। इसमे पारस्परिक सहयोग का चमत्कारपूर्ण वर्णन होना चाहिए। इसके दो प्रधान तत्त्व है—दो पदार्थों का एक दूसरे को प्रभावित करना तथा दोनो की एक ही क्रिया का होना।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार, 'जब दो पदार्थो का एक ही क्रिया द्वारा परस्पर उपकार किया जाये तो 'अन्योन्य' नामक अलकार होता है।'[५]

---

१ यथासाधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरण व्याघात.॥ अलकार सर्वस्व १७३
य कचिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनाचिद्यन्निष्पादित वस्तु तन्नतोऽन्येन केनाचित्प्रतिद्वन्द्विना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादित वस्तु व्याहतिर्हेतुत्वाद्व्याघात। वही १७३।

२. सोऽपरः पुनः। मुख्यकार्यविरुद्धस्य या सौकर्येण निर्मिति॥ ८। ६० अलकार-महोदधि।

३ सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च व्याघात.। अलकार सर्वस्व पृ० १७५।

४ सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्ध क्रियते यदि। साहित्य दर्पण। १०। ७५।

५. अन्योन्यमुपकारित्व वस्तुनो क्रियया मिथ। अलकार-महोदधि ८। ६१।

इस अलकार का सर्वप्रथम विवेचन आ० रुद्रट ने ही किया। रुद्रट के अनुसार क्रिया के द्वारा दो पदार्थो मे परस्पर विशिष्टता को परिपुष्ट करने वाला कारक भाव हो तो अन्योन्य अलकार होता है।[१]

परवर्ती आचार्यो मे मम्मट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यो ने इसका वर्णन किया।

मम्मट ने बताया कि जब एक ही क्रिया दो पदार्थो का परस्पर कारण बने तो वहाँ अन्योन्य अलकार होगा।[२]

रुय्यक के अनुसार जहाँ परस्पर क्रिया की जनकता का वर्णन किया जाये वहाँ अन्योन्य अलकार होगा। इन्होने बताया कि अन्योन्य की कल्पना मे विरोध का हाथ है। इसमे दो पदार्थ परस्पर एक ही क्रिया को उत्पन्न करते है।[३] इनके अनुसार अन्योन्य की कल्पना 'विरोध' की रूपरेखा पर आश्रित है प्रस्तुत श्लोक मे 'शोभाक्रिया' के द्वारा परस्परजनकता का कितना सुन्दर वर्णन है—यथा—

'कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तुलस्य।।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ।।

साहित्यदर्पण मे उद्धृत सूक्ति भी बड़ी सुन्दर है।

त्वया सा शोभते तन्वी तया त्वमपि शोभसे।
रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी।।

यहाँ पारस्परिक सहयोग की भावना के कारण ही अन्योन्य अलकार है।

विशेष अलंकार

विरोधमूलक अलकारो की शृखला मे अन्तिम अलकार के रूप मे विशेषालकार का निरूपण किया गया है। 'विशेष' शब्द का अर्थ है असाधारण या विलक्षण। इस अलकार मे आधार के बिना आधेय की स्थिति का वर्णन किया जाता है, इसी कारण इसे विशेष कहते है। इस प्रकार का वर्णन असम्भव एव प्रकृति विरुद्ध होता है, किन्तु कवि ऐसे विषयो के निरूपण मे चमत्कार उत्पन्न करते हुये विशेषालकार की सिद्धि करता है। इसकी तीन स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती है—

(क) प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय का वर्णन,

(ख) एक वस्तु की एक स्वभाव से, एक समय मे अनेक स्थानो पर स्थिति,

---

१. यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेयो क्रियया।
संजायते स्फारिततत्त्व विशेषस्तदन्योन्यम्॥ काव्यालकार ७। ९१।

२. क्रियया तु परस्परम्।
वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्। काव्यप्रकाश १०। १२०।

३. परस्परक्रियाजननेऽन्योन्यम्।
इहापि विरोधप्रस्ताव एव निर्देशकारणम्। परस्पर जननस्य विरुद्धत्वात्। क्रियाद्वारक यत्र परस्परोत्पादकत्वम् (परस्पर निष्पादकत्वम्), न स्वरूप निबन्धनं स्वरूपस्य तथात्वोक्ति विरोधात्, तत्रान्योन्याख्योऽलंकार.। अलकार सर्वस्व पृ० १७०।

(ग) एक कार्य को करते हुये किसी अन्य अशक्य कार्य की सिद्धि का होना। विशेषालकार मे लौकिक आधाराधेय का कथन न होकर कवि कल्पना प्रसूत आधाराधेय होते है।

आचार्यो ने इसी कारण इसके मूल मे अतिशयोक्ति की कल्पना की है। मम्मट ने कहा है कि, "इस प्रकार के विषय मे सर्वत्र अतिशयोक्ति ही प्राणरूप मे स्थित होती है क्योकि उसके बिना प्राय. अलङ्कारत्व ही नही बनता है।[१] अपने इस मत के समर्थन के लिए मम्मट ने भामह की 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति' इस सूक्ति को उद्धृत किया है।

आचार्य सूरि ने भी विशेष के विषय मे अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का अनुसरण करते हुये उसकी तीनो स्थितियो का सोदाहरण विवेचन किया है।[२]

विशेषालकार का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य रुद्रट ने किया, तत्पश्चात् मम्मट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यो ने रुद्रट के ही आधार पर इसका विवेचन किया। रुद्रट द्वारा निरूपित स्वरूप ही अन्त तक मान्य रहा।[३]

रुद्रट ने बताया कि यदि निश्चित आधार वाली वस्तु को भी बिना आधार का बताया जाये तो ऐसे कथन मे प्रथम प्रकार का विशेषालङ्कार होगा। इसके द्वितीय प्रकार मे एक ही वस्तु की अनेक स्थानो मे एक साथ विद्यमानता दिखलायी जाती है। तृतीय विशेष वहाँ होता है जहाँ एक कार्य करते हुये असम्भव दूसरा कार्य भी किया जाये। मम्मट ने रुद्रटकृत भेदो को ही अपने शब्दो मे रखा। अन्य कोई नवीन बात नही कही।[४]

रुय्यक ने बताया कि बिना आधार के आधेय, एक पदार्थ की अनेक स्थानो पर गोचरता, एक कार्य करते हुये अशक्य अन्य कार्य की सिद्धि होने पर विशेषालङ्कार होता है।[५] अन्य परवर्ती आचार्यो ने भी विशेषालङ्कार के स्वरूप-निर्धारण मे किसी नवीनता का प्रदर्शन नही किया।

प्रथम विशेष—

दिवमप्युष्यातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते बन्द्याः।

यहाँ कवि आधार एव कवि की वाणी आधेय है। कवि रूप प्रसिद्ध आधार के बिना भी कवि वाणीरूप आधेय की स्थिति के वर्णन मे यहाँ विशेष है।

१ सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते ता बिना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्। काव्य-प्रकाश पृ० ५४९।

२ अनाधारं यदाधेयमेक वाऽनेकगोचरम्।
विशेषोऽयमशक्यस्य कृतिश्चान्यस्य वस्तुन ॥ अलंकार महोदधि, ८। ६२।

३. काव्यालंकार, ९। ५, ७, ९।

४ बिना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थिति।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुन।
तथैव कारण चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृत.॥ काव्यप्रकाश १०।१३५-१३६।

५. अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणविशेष। अलंकार सर्वस्व पृ० १७१।

द्वितीय विशेष—

प्रसादे सा पथि-पथि च सा पृष्ठत सा पुरः सा
पर्यङ्के सा दिशि-दिशि च सा तद्वियोगाकुलस्य।
हंहो चेत ! प्रमितिरपरा नास्ति ते काऽपि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ?

यहाँ एक ही नायिका का एक ही समय मे अनेक प्रासादो मे स्थित रहना द्वितीय प्रकार का विशेष है।

तृतीय विशेष—

स्फुरदभूतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम्
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च।

यहाँ राजा के निर्माण रूप एक कार्य को करते हुये विधाता ने उसी प्रयत्न से दूसरे कामदेव सूर्य तथा बृहस्पति रूप अशक्य कार्य को उत्पन्न किया।

विशेष के तीनो प्रकारो मे विरोध का भाव विद्यमान रहता है। आधार के अभाव मे आधेय का वर्णन विरोध ही है। विरोध की सीमा अति विस्तृत है, किन्तु विशेष को तीन स्थितियो मे परिमित कर दिया गया है।

कारणमाला अलङ्कार

विरोधमूलक अलकारो के निरूपण के अनन्तर शृङ्खलामूलक अलकारो के विवेचन प्रक्रिया मे सर्वप्रथम कारणमाला का स्वरूप निर्धारित करते है।

इस अलंकार मे माला की तरह अनेक कारण एकत्र होते है अर्थात् कारण की माला (शृंखला) होती है। इसमे पूर्व मे कथित पदार्थ आगे कहे जाने वाले पदार्थो के कारण बनते चले जाते है। इस कारण वहाँ कारणो की माला तैय्यार हो जाती है। यहाँ माला शब्द समूह का बोधक न होकर शृखला का प्रत्यायक है। इसके मूल मे कार्य कारण का अनुक्रम रहता है तथा कवि कार्य कारण की शृंखला का निर्माण कर चमत्कार उत्पन्न करने मे समर्थ होता है। इसमे कारणो की माला के साथ-साथ कार्यो की भी माला या शृंखला बनती चलती है परन्तु कवि को अभिप्रेत कारण होता है अर्थात् कारणो की प्रधानता रहती है।

इस प्रकार "जहाँ पूर्व-पूर्व मे कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थो के कारण बनते चले जाये वहाँ 'कारणमाला' अलकार होता है" आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि इस प्रकार कारणमाला का स्वरूप वर्णित करते है।[१]

कारणमाला अलकार के भी सर्वप्रथम प्रवर्तक आचार्य रुद्रट ही है। उन्होने बताया कि "कारणमाला वहाँ होती है जहाँ वर्णनीय अर्थो के मध्य से पूर्व पूर्व अर्थ उत्तरगत अर्थो की कारणता को प्राप्त होता है, जिसका प्रकार ये है कि ये सब पूर्व पदार्थ से उत्पन्न होता है।[२]

---

१. सा तु कारणमाला स्यादुत्तरोत्तरहेतुता पूर्व पूर्वस्ययत्। अलकार-महोदधि पृ० ३०५।
२. "कारणमाला सेय यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्।
अर्थानां पूर्वार्थाद् भवतीदं सर्वमेवेति"॥ काव्यालंकार ७।८४।

रुद्रट के बाद अबाध गति से इसका विवेचन होता रहा। मम्मट के विचार से जहाँ उत्तर-उत्तर अर्थ के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ हेतु के रूप मे वर्णित हो तो वहाँ कारणमाला अलकार होगा। मम्मट प्रकारान्तर से रुद्रट के लक्षण की ही पुनरावृत्ति करते है। कोई नवीन तथ्य न जोडकर सरलीकरण अवश्य कर दिया।

रुय्यक ने इस अलकार के लक्षण और उदाहरण दोनो ही मम्मट के अनुसार दिये है। विशेषता इतनी सी है कि इन्होने केवल शृखला को ही महत्त्व न देकर उसकी कल्पना के पीछे विशेष निमित्त को भी स्थान दिया अर्थात् किसी विषय या वस्तु की महत्ता सिद्ध करने के लिए ही कारणो की परम्परा प्रस्तुत की जाती है न कि केवल शृंखला तैय्यार करना ही ध्येय होता है। अत रुय्यक ने कार्य-कारण क्रम मे चारुत्व निदर्शन को ही कारणमाला के चमत्कार का हेतु माना।

ये तो स्पष्ट ही है कि आचार्य सूरि अपने पूववर्ती आचार्यो से ही प्रभावित हो कारणमाला का स्वरूप और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यथा—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य साधनं गुण प्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः॥

जितेन्द्रियत्व विनय का कारण है और विनय से गुणो का प्रकर्ष प्राप्त होता है। गुणो के प्रकर्ष से लोगो का अनुराग प्राप्त होता है और जनानुराग से सम्पत्ति प्राप्त होती है।

यहाँ उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व की हेतुता को उपलक्षण मानकर पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर की हेतुता वर्णित होने से कारणमाला अलकार है।

सार अलंकार

सार का अर्थ है तत्त्व या उत्कर्ष। इस अलंकार मे पूर्व मे कथित पदार्थों से उत्तरोत्तर कथित पदार्थों का अधिक उत्कर्ष बतलाया जाता है। कहने का अभिप्राय है पहले जो बात कही गयी उससे आगे कही जाने वाली बात अधिक उत्कृष्ट रूप मे कही जाये। कहीं-कही वस्तुओ के उत्तरोत्तर अपकर्ष वर्णन मे भी सार अलकार होता है। यह भी शृखलामूलक अलकार है। इसमे क्रमश. एक दूसरे से उत्कृष्ट पदार्थों का वर्णन रहता है तथा यह उत्कर्ष कही तो पदार्थो का और कही उनके धैर्य का होता है।

इस अलकार मे वर्णनीय वस्तु का उत्कर्ष चरमसीमा तक दिखलाया जाता है। कवि किसी पदार्थ को उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए उसकी उच्चता को क्रमबद्ध रूप से चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देता है।

आचार्य सूरि भी 'पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर प्रकर्ष के वर्णन को 'सार' अलकार कहते हैं।[१]

सार अलकार का भी प्रथम विवेचन रुद्रटकृत काव्यालकार मे ही प्राप्त होता है। इनके अनुसार 'जो-जो समुदाय है, उनके एक-एक देश को क्रमश. जहाँ चरमसीमा तक अत्यन्त गुणवान् निश्चित किया जाता है वहाँ

---

१ सार· प्रकर्षस्तूत्तरोत्तरम्। अलकार-महोदधि ८। ६३।

सार अलकार होता है।[1] यहाँ रुद्रट ने पदार्थों के उत्कर्ष की चरमसीमा का वर्णन किया है।

सार अलकार का परवर्ती विकास मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ एव विश्वेश्वर पण्डित तक होता रहा और इसमे नवीन तथ्य जुडते चले गये।

मम्मट ने रुद्रट के ही लक्षण को सक्षिप्त और सरल कर अपनी परिभाषा दी। ये वर्ण्यवस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का चरमसीमा तक वर्णन करने को सार कहते है।[2] मम्मट ने 'परावधि' के द्वारा इस तथ्य की व्यञ्जना की कि पदार्थ के उत्कर्ष का वर्णन किसी वाक्य के अन्त तक या पद्य के अन्त तक होना चाहिए।

रुद्रट के विवेचन मे सार का प्रारम्भिक विकास दिखाई पडता है किन्तु मम्मट ने अपनी परिभाषा के द्वारा इसके वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन किया। इन्होने उत्कर्ष के धारावाहिक स्वरूप का उल्लेख कर नवीन विचार प्रस्तुत किया।

रुय्यक ने इसे उदार सज्ञा दी है। इन्होंने पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कर्ष के वर्णन को सार या उदार अलंकार कहा है।[3] विश्वनाथ आदि ने रुय्यक के विचार को अपनाते हुये ही 'सार अलकार' का वर्णन किया।

आचार्य सूरि ने उदाहरण भी मम्मटकृत काव्यप्रकाश का ही दिया। यथा—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वाराङ्गनानङ्ग सर्वस्वम्॥

राज्य का सार वसुधा है, वसुधा का सार नगर, नगर का सार प्रासाद, प्रासाद का सार पलंग, पलग का सार कामदेव की सर्वस्वरूपा सुन्दरी है।

एकावली अलङ्कार

एकावली का अर्थ है एक लड की माला। जिस प्रकार कई मोतियो को आपस मे पिरोकर एक माला तैयार की जाती है उसी प्रकार एकावली मे कई विशेषणो की लड़ी पिरोयी जाती है। इसमे कही तो विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध की स्थापना और कही निषेध का वर्णन होता है। विशेष्य-विशेषण का माला के कारण ही इसे एकावली कहते हैं।

यह शृङ्खलामूलक अलकार है। इसमे पूर्व-पूर्व मे कथित पद उत्तरोत्तर पद के या तो विशेषण होते हैं या विशेष्य तथा विशेषणो का मुख्य उद्देश्य विशेष्य की उत्कृष्टता प्रदर्शित करना होता है। शृखला का सौन्दर्य ही इस अलकार मे चमत्कार का कारण होता है। इसमे प्रत्येक विशेषण का प्रयोग प्रसगानुकूल, अभीष्ट की पुष्टि करने

---

१ यत्र यथा समुदायाद्यथैकदेश क्रमेण गुणवदिति।
निधार्यते परावधि निरतिशय तद्भवेत्सारम्॥ काव्यालकार ७। ९६।

२ उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः। काव्यप्रकाश १०। १२३
पर. पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः। (काव्यप्रकाश) पृ० ५३३।

३ उत्तरोत्तरमुत्कर्षणमुदार।
पूर्वापूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्ष निबन्धनत्वमुदाख्योलकार॥ अलकार सर्वस्व पृ० १०९।

वाला एव सार्थक होना चाहिए। आचार्य सूरि के अनुसार, “जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु विशेषण रूप से रखी जाय या हटायी जाये तो एकावली अलकार होता है।”[१] विशेष्य विशेषण भाव की स्थापना एव निपेध के आधार पर इसके दो भेद किये गये है।

इस अलकार के प्रतिष्ठापक आचार्य रुद्रट ही है। इनके बाद लगभग सभी आलकारिको ने इसका विवेचन किया। रुद्रट ने स्थापन और अपोह के रूप मे दो प्रकार की एकावली स्वीकार की।[२]

एकावली का लक्षण प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने बताया कि पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु का वीप्सा के विशेषण भाव से स्थापन अथवा निषेध होने पर एकावली अलंकार होता है।[३]

परवर्ती आचार्यों मे रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने मम्मट के ही विचारो का अनुवर्तन किया। विशेषणभाव से स्थापन की एकावली—

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गनारूप पुरस्कृताङ्गयाः।
रूपं समुन्मीलित सद्विलासमस्त्रं विलासा कुसुमायुधस्या॥

यहाँ प्रथम चरण मे ‘पुर’ का विशेषण है ‘वारागना’ तथा द्वितीय चरण मे ‘वाराङ्गना’ का विशेषण ‘रूप पुरस्कृताङ्गय.’ है। इस प्रकार क्रमपूर्वक विशेषण की स्थापना की गई है।

निषेध की एकावली—

न तज्जलं यन्न सुचारु पंकजं न पंकजं तद्यदलीन षट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ कलगुञ्जितौ न न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥

यहाँ पर जल में पङ्कज की, पङ्कज मे षट्पदो की, षट्पदो में गुञ्जन की और उसमे मनोहारिता की विशेषणता के उत्तरोत्तर निषेध की योजना कर लेनी चाहिए।

एकावली और कारणमाला दोनो ही शृखलामूलक अलकारों मे पूर्व-पूर्व पद का उत्तर-उत्तर पद के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। परन्तु एकावली मे विशेष्य-विशेषण भाव की शृंखला होती है। कारणमाला मे कार्य-कारण भाव की। शृंखला के कारण ही दोनो मे चमत्कार होता है।

मालादीपक अलंकार

यदि पूर्व-पूर्व पदार्थ के द्वारा उत्तरोत्तर पदार्थ का उपकार किया जाता है तो मालादीपक अलंकार होता है। मालादीपक मे माला शब्द एक विशेष अर्थ का द्योतक होता है। यहाँ माला का अर्थ है शृङ्खला या रशना। जिस प्रकार माला मे अनेक पुष्प गुफित होकर माला रूप धारण करते है उसी प्रकार मालादीपक मे भी एक गुण

---

१. पर पर यथापूर्वं स्थाप्यतेऽपोह्यतेऽथवा।
विशेषणतया यस्यामाहुरेकावलीति ताम्॥ अलकार महोदधि ८। ६४।

२. एकावलीति सेयं यत्रार्थं परम्परा यथालाभम्।
आधीयते यथोत्तर विशेषणा स्थित्योहाभ्याम्॥ काव्यालकार ७। १०१।

३ स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं पर-परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावलीद्विधा॥ काव्यप्रकाश १०। १३१।

का अनेक पदार्थो के साथ सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार एक दीपक के द्वारा अनेक पदार्थ प्रकाशित होते है उसी प्रकार इस अलकार मे एक गुण अनेक वस्तुओ के साथ सम्बद्ध होता है। मालादीपक नाम की यही सार्थकता है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मालादीपक अलकार का विवेचन शृङ्खलामूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत किया है। इनके अनुसार जैसे पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तरोत्तर पदार्थ का उपकार करता है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर पदार्थ पूर्व-पूर्व पदार्थ का उपकार करे तो मालादीपक अलकार होता है।[1] आचार्य सूरि ने पूर्वगृहीत परिभाषा का अनुसरण करते हुये यह ग्रहण किया जिस प्रकार पूर्व कथित पदार्थ के द्वारा उत्तरोत्तर पदार्थ उपकृत होते है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर के द्वारा पूर्व पदार्थो का भी उपकार किया जाता है।

मालादीपक का सर्वप्रथम उल्लेख दण्डी ने किया, पर उन्होने इसे दीपक के भेदो मे ही माना।[2] उद्भट और रुद्रट ने इसकी चर्चा नही की है। भोजराज ने भी इसे दीपक का ही भेद माना है। उन्होने इसका चक्रवालदीपक नामक एक भेद और किया है। मम्मट ने भी इसे दीपक के साथ ही लिखा है। इनके अनुसार जहॉ पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तरोत्तर वर्णनीय वस्तु मे उपकारक होती है वहॉ मालादीपक होता है।[3]

मालादीपक की एक पृथक् अलङ्कार के रूप मे कल्पना इसलिये की गयी क्योकि इसमे भी शृङ्खलाबन्ध का एक अतिरिक्त वैचित्र्य दिखायी दिया करता है। रुय्यक तो वर्गीकरण के प्रधान आचार्य है, अतः उन्होने ही इसे दीपक से पृथक् स्थापित कर कहा कि "इस अलङ्कार मे माला होने के कारण एक प्रकार की सुन्दरता है, उसी का आश्रय लेकर दीपक के प्रकरण का उल्लङ्घन करके यहॉ लक्षण बनाया गया है।"[4] लक्षण काव्यप्रकाश के अनुसार ही है। उदाहरणार्थ—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवताचापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं।
तेन त्वं भवता च कीर्तिश्तुला कीर्त्या च लोकत्रयम्॥

यहॉ संग्राम इत्यादि मे कोदण्ड के द्वारा 'शर' शत्रु-शिर तक पहुँचाये जाते है, अतः 'शर' मे उत्कर्षाधान किया जाता है 'शर' के द्वारा 'अरिशिर' मे उत्कर्षाधान किया जाता है।

इसी प्रकार जहॉ उत्तर-उत्तर वस्तु पूर्व-पूर्व की उपकारक हो तो मालादीपक का द्वितीय भेद हो सकता है।

काव्यलिङ्ग अलंकार

जहॉ वाक्यार्थ या पदार्थ किसी कथन का कारण हो तो वहॉ काव्यलिङ्ग अलकार होता है। काव्यलिङ्ग

---

१ तत्मालादीपक ज्ञेयमुत्तरोत्तरसम्पदे।
पूर्व-पूर्वं भवेद् यत्र-यत्र तद्व्यत्ययोऽपि वा। अलकार-महोदधि ८। ६५।

२ काव्यादर्श २। १०८।

३ मालादीपकमाद्यम् चेद्यथोत्तरगुणावहम्॥ काव्यप्रकाश १०। १०४।

४ पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम्॥
"मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपक प्रस्तावोल्लङ्घनेनेह लक्षण कृतम्। उत्तरोत्तर पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली। पूर्व पूर्वस्योत्तरोत्तरोत्कर्षनिबन्धनत्वे तु मालादीपकम्। अलकार सर्वस्व पृ० १७८।

के स्थान पर प्राचीन ग्रन्थो मे 'हेतु' अलकार था। 'हेतु' अति प्राचीन अलकार है। अनुमान भी इसी के अन्तर्भूत था।

काव्यलिङ्ग मे 'काव्य' और 'लिङ्ग' दो शब्द हैं। 'लिङ्ग' का अर्थ है कारण या हेतु। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ 'काव्य का कारण'—इससे अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के कारण का उपयोग केवल काव्य मे किया जाता है।

महोदधिकार के मतानुसार जब वाक्यार्थरूप अथवा पदार्थरूप से हेतु का कथन किया जाये तो वहाँ काव्यलिङ्ग अलकार होता है।[१] इस अलकार मे जिस बात को सिद्ध करना होता है, उसका कारण वाक्य के अर्थ मे अथवा पद के अर्थ मे दे दिया जाता है। इस प्रकार इसके दो प्रकार होते है—वाक्यार्थगत काव्यलिङ्ग एवं पदार्थगत काव्यलिङ्ग। इस अलकार मे कविकल्पना प्रसूत अर्थ की सिद्धि के लिए हेतु का कथन किया जाता है। काव्यलिङ्ग का हेतु लौकिक या तर्कशास्त्र के हेतु से सर्वथा भिन्न एव चमत्कारपूर्ण होता है। इसमे कवि किसी कथन की सिद्धि के लिये उसका कारण उपस्थित करता है, जो चमत्कारपूर्ण एव कविकल्पित होता है।

सर्वप्रथम उद्‌भट ने प्राचीन 'हेतु' को 'काव्यलिङ्ग' नाम दिया और लक्षण दिया कि जो एक वस्तु काव्य मे श्रुत होकर अन्य वस्तु के स्मरण अथवा अनुभव का हेतु हो जाता है वहाँ काव्यलिङ्ग अलकार कहा जाता है।[२]

मम्मट ने इसके स्वरूप को और व्यवस्थित किया जिसके आधार पर परवर्ती आचार्यो द्वारा इसका विवेचन हुआ। इनके अनुसार काव्यलिग वहाँ होता है, जहाँ वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप मे कारण का कथन किया जाता है।[३]

रुय्यक ने मम्मट का ही अनुसरण किया है।[४] पर रुय्यक के टीकाकार ने काव्यलिङ्ग की अलङ्कारता पर सन्देह प्रकट करते हुये कहा कि वाक्यार्थ एव पदार्थ दोनो हेतु का निबन्धन कर देने से ही इसमे किसी प्रकार की विच्छित्ति प्रकट नही होती अत: काव्यलिग को अलङ्कारता प्रदान नही की जा सकती। कवि प्रतिभा की प्रधानता एव चमत्कार के कारण ही अलङ्कारत्व प्रदान किया जाता है। काव्यलिङ्ग मे दोनो का अभाव है।[५]

किन्तु पश्चाद्वर्ती आलङ्कारिको ने मम्मट एव रुय्यक का ही प्रभाव ग्रहण कर परम्परा का अनुसरण करते हुये 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' का निरूपण किया।

---

१. पदार्थस्याविशेषेण विशेषणगतिस्पृश।
यत्र स्फुरति हेतुत्व वाक्यार्थस्तु निबध्यते॥
हेतुभावं स्पृशन्नेव काव्यलिङ्ग तदुच्यते। अलकार महोदधि । ८। ६६।

२. श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुता प्रतिपद्येत काव्यलिङ्ग तदुच्यते॥ काव्यालकार सार सग्रह, ६। ७।

३ काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्य पदार्थता। काव्यप्रकाश, १०। ११४।

४ हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गम्। अल० सर्व०, पृ० १८१।

५ विमर्शिनी, पृ० १८३-८४।

अनुमान अलंकार

अनुमान न्यायशास्त्र का विषय है किन्तु काव्य मे चमत्कारपूर्ण ढग से प्रयुक्त होने पर ही यह अलङ्कारत्व प्राप्त करता है। 'मितेन लिङ्गेन अर्थस्य अनुपश्चात् मानम्' (न्यायदर्शन) अर्थात् "प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिङ्ग द्वारा अर्थ के पीछे से होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते है।" अनुमान शब्द का प्रयोग जब काव्य मे होता है तो उसका एक भिन्न अर्थ होता है। इस अलकार मे साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान होता है। सिद्ध की जाने वाली वस्तु को साध्य एव जिससे वह सिद्ध होती है उसे साधन कहते है। जहाँ साध्य और साधन को कविप्रतिभा द्वारा चमत्कारित किया जाता है वही अलकार होगा। अर्थात् अनुमान कविकल्पित और चमत्कार से परिपूर्ण होना चाहिए। कविकल्पनाप्रसूत होने के कारण नैयायिको की भाँति इसका तर्कसगत होना आवश्यक नही है। परन्तु न्याय की प्रणाली के आधार पर ही इसमे व्याप्ति और लिङ्ग परामर्श होता है किन्तु यह न्यायशास्त्रसम्मत नही होता।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि 'साध्य साधनभाव' के मनोहारी कथन को अनुमान कहते है।[१] इन्होने लौकिक अनुमान से अनुमानालङ्कार मे विलक्षणता का रहना आवश्यक बताया है। इन्होने अनुमान के तीन भेद माने, कही कारण से कार्य की प्रतीति, कही कार्य से कारण की प्रतीति, कही अविनाभाव से अनुमान होता है।[२] इसका सर्वप्रथम विवेचन रुद्रट ने किया है। तत्पश्चात् सभी आचार्यो ने इसका निरूपण किया।

रुद्रट ने इसके दो लक्षण और छह उदाहरण दिये है। "जहाँ परोक्ष वस्तु को साध्य रूप मे लिख कर फिर उसका साधक लिखा जाये अथवा इसके विपरीत हो तो अनुमान होता है।"[३] दूसरा लक्षण है "जहाँ बलवान् कारण को देखकर न हुये को ही हुआ अथवा भावी कहा जाये वह दूसरा अनुमान है।"[४]

आचार्य मम्मट ने साध्य-साधनभाव के कथन को अनुमानालङ्कार माना।[५] इन्होने रुद्रट की उभय भेद व्यवस्था का खडन कर कहा कि साध्य और साधन का अपर भाव बदल जाने पर कोई चमत्कार नही होता।

रुय्यक ने मम्मट के ही आधार पर इसका स्वरूप निर्देश किया।[६]

यथा—अविनाभाव से अनुमान—

---

१. अनुमानं तु साध्याय साधनोक्तिर्मनोहरा। अलंकार-महोदधि ८। ६७।

२. तत्र क्वचित् कारणात् कार्यस्य प्रतीति, क्वचित् कार्यात् कारणस्य क्वचित् पुनरविनाभावेन वस्त्वन्तराद् वस्त्वन्तरस्य।

३. वस्तुपरोक्ष यस्मिनसाध्यमुपन्यस्य साधक तस्य।
पुनरस्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम्॥ काव्यालकार ७। ५६।

४. यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति।
भावीति वा तथान्यत्कथ्येत तदन्यदनुमानम्॥ काव्यालकार ७। ५९।

५. अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः।
साध्यसाधनयो पौर्वापर्यविकल्पेन किंचिद्वैचित्र्यमिति तथा न दर्शितम्। काव्यप्रकाश १०। ११७।

६. साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्।
विच्छित्तिविशेषश्चात्रार्थादाश्रयणीयः।
अन्यथा तर्कानुमाकिं वैलक्षण्यम्। अलकार सर्वस्व १८४।

आविर्भवन्ती प्रथमं प्रियाया सोच्छ्वासमन्त करणं करोति

संतापदग्धस्य शिखण्डियूनो वृष्टेः पुरस्तादचिरप्रमेव।

जैसे विद्युत से वृष्टि का अनुमान होता है, उसी प्रकार यहाँ कामन्द की भी का **'अविनाभाव' से अनुमान** कर रहा है।

अविरलविलोलजलदः कुटजार्जुनन सुरभिवनवातः
अयमायतः कालो हन्त हता पथिकगेहिन्य

यहाँ कारणभूत वर्षा ऋतु से कार्यभूत विरहिणियो के मरण का अनुमान होने से **कारण से कार्य का अनुमान होने से,** अनुमान अलङ्कार का प्रथम भेद है।

यथासंख्य अलङ्कार

शृखलामूलक अलकारो के स्वरूप निर्देशन के बाद 'विशिष्ट वाक्यसन्निवेश मूलक' अलङ्कारो के क्रम मे आचार्य सूरि ने सबसे पहले यथासख्य का निरूपण किया।

जहाँ पूर्वकथित पदार्थो का उसी क्रम से अन्त तक निर्वाह किया जाये वहाँ यथासख्य अलङ्कार होता है। यथासख्य क़ा अर्थ है सख्यानुसार।—इसमे जिस क्रम से जो बात पहले कही जाती है उसका पुनः उसी क्रम से अन्त तक निर्वाह किया जाता है। इसमे कवि कल्पना द्वारा पूर्वकथित पदार्थो एव पश्चात् कथित पदार्थो के क्रमिक सम्बन्ध का स्थापन करता है। कुछ आचार्य इसे क्रमालकार भी कहते है। आचार्य भोज ने इसके लिए क्रम शब्द का ही प्रयोग किया है।

आचार्य सूरि कहते है कि जहाँ पूर्वनिवेशित अर्थो का पश्चात् निर्दिष्ट अर्थों के साथ उसी क्रम से सम्बन्ध का निर्वाह किया जाये वहाँ यथासख्य अलकार होता है।[१] बाद मे कहा कि शब्द और अर्थ का कथन क्रमपूर्वक होना चाहिए। पुनः शब्द के पदगत और वाक्यगत दो भेद किये।

यथासंख्य अलङ्कार का सर्वप्रथम निर्देश आचार्य भामह ने किया। भामह के बाद सभी परवर्ती आचार्यो ने इसका निरूपण किया। इसके मूल स्वरूप में भामह से लेकर पण्डितराज तक की विवेचनपरम्परा मे किसी प्रकार का विशेष अन्तर नही आ सका है। तथापि कतिपय नूतन तथ्यो का सन्निवेश किया गया है। भामह के अनुसार विभिन्न धर्मो वाले अनेक पूर्वकथित अर्थो का उसी क्रम से निर्देश करना यथासंख्य अलङ्कार है।[२] दण्डी, वामन, उद्भट आदि ने भामह का आधार ग्रहण करते हुये यथासख्य का निरूपण किया।

वामन ने इसे क्रमालकार के नाम से अभिहित किया।[३]

---

१ सम्बन्ध प्राग् निबद्धानामर्थानामुत्तरै क्रमात्।
शाब्दश्चार्थश्च य सम्यक् तद् यथासख्यमिष्यते॥ अलकार महोदधि । ८ । ६८

२ भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्य तदुच्यते॥ काव्यालंकार २। ८९।

३ उपमेयोपमानानां क्रम सम्बन्ध. क्रम । काव्यलकारसूत्र ४, ३, १७।

रुद्रट ने पूर्वकथित पदार्थो के उसी क्रम के निर्वाह मे विशेष्य-विशेषण भाव का भी समावेश किया, इनके मतानुसार अधिक विशेषण के प्रयोग से यथासख्य मे अधिक चमत्काराधान होता है।[१]

मम्मट ने बताया कि क्रम से कह गये पदार्थो का उसी क्रम से वर्णन करना ही यथासख्य है।[२] कवि प्रतिभा के द्वारा ही इस अलङ्कार का वर्णन होना चाहिए।

रुय्यक के अनुसार पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थो का पश्चात् निर्दिष्ट पदार्थो के साथ उसी क्रम से सम्बन्ध का निर्देश करना यथासख्य है।

रुय्यक ने इसे वाक्यन्यायमूलक अलकार मानते हुये इसमे वाक्यविधान के वैशिष्ट्य के कारण चमत्कार माना है।[३]

नरेन्द्रप्रभसूरि का यथासख्य निरूपण रुय्यक पर आधारित है। मम्मट ने यथासख्य का एक ही उदाहरण दिया है, भेद नही किये है। रुय्यक ने शाब्द एव आर्थ में दो भेद किये है। वे असमस्त पदो में शाब्द और समस्त पदो मे आर्थ भेद मानते है। अलङ्कारमहोदधिकार ने शाब्द के पदगत और वाक्यगत दो भेद किये।

पदगत यथासख्य का उदाहरण है—

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र देव। द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च।
तापं च समदरसं च रतिं च पुष्णन् शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया चा॥

यहाँ क्रमानुसार वर्णन होने से यथासख्य अलकार है। द्वितीय चरण मे क्रम से कहे गये 'द्विषाम्', 'विदुषाम' और 'मृगीदृशाम्' का तृतीय चरण मे कहे हुये 'सम्मदरसम्' और 'रतिम्' के साथ तथा चतुर्थ चरण मे कहे गये 'शौर्याष्मणा,' 'विनयेन' और 'लीलया' के साथ उसी क्रम मे अन्वय हुआ है। शेष उदाहरण 'सरस्वती कण्ठाभरण' से लिये गये है। यथासख्य के क्रम निर्वाह मे औचित्य एव सगति के दर्शन होते हैं।

परिवृत्ति अलङ्कार

सम अथवा असम पदार्थो के परस्पर विनिमय को परिवृत्ति अलङ्कार कहते हैं। इस अलङ्कार में एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से विनिमय का वर्णन होता है। इस प्रकार का विनिमय सम का अधिक के साथ अथवा अधिक का न्यून के साथ होता है। इसमे आदान-प्रदान का वर्णन वास्तविक न होकर कवि कल्पना प्रसूत होना चाहिए अन्यथा वहाँ अलकारत्व नही होगा। यदि यहाँ विनिमय वास्तविक होने लगेगा तो अलंकारत्व की हानि तो होगी ही और वास्तविक आदानप्रदान की प्रक्रिया तो सामाजिक तत्त्व है। आचार्य सूरि ने परिवृत्ति के विवेचन मे समगुण वाले पदार्थ का त्याग कर उसी प्रकार की वस्तु का ग्रहण करना, तथा उत्कृष्ट वस्तु को देकर हीन कोटि की वस्तु लेना एव हीन गुण की वस्तु का त्याग करके उत्कृष्ट गुण की वस्तु के ग्रहण करने मे परिवृत्ति की तीन स्थितियाँ

---

१. निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा ययैव परिपाटया।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तस्यैव तत्स्याद्यथासख्यम्॥ काव्यालंकार ७। ३४।

२. यथासंख्यं क्रमेनैव क्रमिकाणा समन्वयः। काव्यप्रकाश १०। १०८।

३ उद्दिष्टानामर्थानाम् क्रमेणानुनिर्देशो यथासख्यम्। अलकार सर्वस्व पृ० १८७।

बतायी। इस प्रकार इन्होने भी परस्पर विनिमय को ही परिवृत्ति कहा।[1]

यह अति प्राचीन अलङ्कार है जिसका सर्वप्रथम वर्णन आचार्य भामह ने किया। इनके पश्चात् सभी परवर्ती आचार्यो ने इसका निरूपण किया।

भामह ने अन्य वस्तु के त्याग से विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति के वर्णन मे परिवृत्ति अलकार माना है।[2] भामह के वर्णन मे परिवृत्ति का प्रारम्भिक स्वरूप अवश्य ही प्रस्फुटित हुआ परन्तु इसका वास्तविक स्वरूप परवर्ती आचार्यो द्वारा निर्धारित किया गया।

दण्डी ने वस्तुओ के विनिमय को ही परिवृत्ति कहा।[3] उद्भट का परिवृत्ति निरूपण पूर्ववर्ती आचार्यो की अपेक्षा अधिक पूर्ण एवं विस्तृत है। इन्होने सम, न्यून एव अधिक के वैशिष्ट्य से युक्त पदार्थो के साथ किसी पदार्थ के परिवर्तन को परिवृत्ति अलङ्कार माना।[4] वामन ने समान एव असमान वस्तुओ के परिवर्तन को परिवृत्ति कहा।[5]

रुद्रट कुछ अश तक भामह से ही प्रभावित दिखते है।[6]

आचार्य मम्मट ने इसके दो प्रकार माने है—समपरिवृत्ति एव असमपरिवृत्ति। इन्होने बताया कि वास्तविक विनिमय मे परिवृत्ति अलंकार नही हो सकता है, इसमे जो वचनवक्रता है उसमे उपमानोपमेय भाव की अभिव्यक्ति होती है।[7]

रुय्यक ने और भी स्पष्ट परिभाषा देते हुये इसकी तीन स्थितियो पर विचार किया। 'सम का सम के साथ, न्यून का अधिक के साथ और अधिक का न्यून के साथ विनिमय परिवृत्ति है।[8] अन्य परवर्ती आचार्यों ने मम्मट और रुय्यक के विचारो का ही अनुवर्तन किया।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी रुय्यक का ही अनुसरण किया है। यथा—

तस्य च प्रवासयो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव (ह) शोच्यतेऽधुना ?
येन जर्जरकलेव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥

यहाँ जर्जर शरीर के बदले उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त करने का वर्णन होने से न्यून का अधिक के साथ विनिमय

---

१. सम-न्यूनाधिकानां तु यस्या विनिमयो भवेत्।
अर्थै. समाधिक-न्यूनै परिवृत्तिं गृणन्ति ताम्॥ ८। ६९।

२. विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुन.।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा॥ काव्यालकार ३। ४१।

३. आर्थानां यो विनिमय· परिवृत्तिस्तु सा स्मृता। काव्यादर्श २। ३५१।

४. समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित् परिवर्तनम्।
अर्थानर्थस्वभावं यत् परिवृत्तिरमाणि सा॥ काव्यालकार सार संग्रह ५। १६।

५. समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्ति.। काव्यालकारसूत्र ४३, १६।

६. काव्यालंकार ७। ७७।

७. परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थाना स्यात्समासमै·॥ काव्यप्रकाश १०। ११३।

८. समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमय परिवृत्ति। अलकार-सर्वस्व पृ० १९१।

होना चाहिए न कि लोकसिद्ध, तभी अलकारत्व अक्षुण्ण रहेगा।

परिसंख्या अलङ्कार

परिसख्या मे एक वस्तु की स्थिति अनेक स्थलो पर सम्भव होने पर भी उसे उन स्थलो से हटाकर एक स्थान मे स्थापित कर दिया जाता है अर्थात् किसी पदार्थ का एक स्थान से निषेध कर अन्यत्र स्थापित किया जाये तो वहाँ परिसख्या अलङ्कार होता है।

परिसख्या का अर्थ है छोड़कर वर्णन करना।[१] परि (वर्णन छोडकर) सख्या (वर्णनीय की गणना) अर्थात् जहाँ दूसरो की भी गणना की जा सकती थी पर उन्हे छोडकर एक की गणना करना। अर्थात् एक वस्तु की अनेक स्थलो पर स्थिति सम्भव होने पर भी अन्यत्र निषेध कर एक स्थान पर नियन्त्रित कर देना। ऐसा ही अलङ्कार महोदधिकार का भी परिसख्या के विषय मे मानना है।[२] इस प्रकार इसमे एक वस्तु को अन्य स्थानो से हटाकर एक स्थान पर नियन्त्रित या सीमित कर देते है। परिसख्या अलकार मे निषेध का वर्णन कविप्रतिभोत्थापित होना चाहिए। इसका चमत्कार निषेध मे ही रहता है। यह वाक्ययानमूलक अलकार है क्योकि एक स्थान पर निषेध या अन्य स्थान पर स्थापन की क्रिया मे एकवाक्यगत सगति होती है। महोदधिकार ने इसकी चार स्थितियो का निरूपण कर इसके चार भेद बताये है।[३] इनके अनुसार यह श्लेषमुक्त होने पर अधिक चमत्कारक होती है।[४] यह प्रश्नपूर्विका एव अप्रश्नपूर्विका होती है तथा इसके भी शाब्द और आर्थ नामक दो भेद होते है।

परिसख्यालङ्कार के उद्भावक आचार्य रुद्रट है। इस अलङ्कार का विकास रुद्रट की मान्यता के आधार पर ही हुआ।[५] रुद्रट ने इसके प्रश्नपूर्वक एवं अप्रश्नपूर्वक दो भेद बताये। मम्मट ने रुद्रट के ही आधार पर अपना लक्षण प्रस्तुत किया तथा इसके चार प्रकारो का वर्णन किया।[६] प्रश्नपूर्विका व्यग्यव्यवच्छेद्या, प्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या, अप्रश्नपूर्विकाव्यग्यव्यवच्छेद्या, अप्रश्नपूर्विकावाच्य व्यवच्छेद्या।

स्पष्टता की दृष्टि से रुय्यक कृत परिसख्या निरूपण भी अपना पृथक् महत्त्व रखता है। इनके अनुसार

---

१. परिवर्जने अष्टाध्यायी ८। १। ५
परिवर्जनेन कुत्रचित् सख्यान् वर्णनीयत्वेन गणन परिसख्या। अलङ्कार सर्वस्व, पृ० ७३।

२ एकस्यानेकसम्बन्धसम्भवे यन्नियन्त्रणम्।
एकस्मिन्नितरत्यागात् परिसङ्ख्या तु ता विदु। अलकार-महोदधि ८। ७०।

३ अप्रश्नपूर्विका प्रश्नपूर्विका चेति सा द्विधा।
परित्याजस्य शाब्दत्वादार्थत्वाच्च चतुर्विधा॥ वही ८। ७१।

४ श्लेषसम्पृक्तमत्यन्तसौन्दर्यनिबन्धनम्। वही ८। ७१ पृ० ३१५।

५ पृष्टमपृष्ट वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदाभाव प्रतीयते सेति परिसंख्या॥ काव्यालकार ७। ७९।

६ किंचित्पृष्टमपृष्ट वा कथित यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसख्या तु सा स्मृता। काव्यप्रकाश १०। ११२।

एक वस्तु को अनेक स्थानो से हटाकर एक स्थान मे नियमन कर देना ही परिसंख्यालङ्कार है।[1] इन्होने भी इसके चार भेद करते हुये, "कवि प्रतिभा निर्मित अन्य वस्तु के निषेध मे ही परिसख्या का अलङ्कारत्व स्वीकार किया, लोकसिद्ध वस्तु के निषेध मे नही"। इनके अनुसार यह श्लेषयुक्त होने पर अधिक चमत्कारक होती है।

आचार्य सूरि का विवेचन मम्मट और रुय्यक का ही अनुवर्तन है। उदाहरणार्थ—

कौटिल्यं कचनिचये कर-चरणाधरदलेषुरागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति॥

यहॉ केशादि की कुटिलता का कथन कर हृदय आदि की कुटिलता निषेध होने से परिसख्या का उदाहरण है। यहॉ निषेध प्रश्नोत्तर शैली मे न होने से अप्रश्नपूर्विका अर्थव्यवच्छेदिका परिसख्या का उदाहरण है। प्रश्नपूर्विका आर्थव्यवच्छेदिका परिसख्या का उदाहरण है—

किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरित.
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृत.।
कियाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति।

यहॉ गगातट, विष्णु के चरण युगल आदि का सेव्यत्व पुराणादि मे प्रसिद्ध है अत: यहॉ से सेव्यत्व का प्रतिपादन करना प्रयोजन नही है अपितु स्त्रीनितम्बादि अन्य सासारिक वस्तुओ की सेव्यता का निषेध करने के लिए इसकी रचना हुई अत· यहॉ परिसख्यालकार है।

अर्थापत्ति अलङ्कार

दण्डापूपिकन्याय से अन्य अर्थ की सिद्धि होने पर अर्थापत्ति अलङ्कार होता है।

अर्थापत्ति का अर्थ है अर्थ का आ जाना (आपत्ति) इसमें दण्डापूपिका न्याय से अन्य अर्थ का ज्ञान होता है। दण्डापूपिकान्याय के रुय्यक ने तीन विग्रह किये है, पर विमर्शिनीकार ने उसमे से प्रथम विग्रह को ही ठीक माना है—'दण्ड और अपूप के भाव को दण्डापूपिका कहते है। इसमे वुञ् प्रत्यय है, पर पृषोदरादिगण मे होने से, वृद्धि नही हुई। जैसे 'अहमहयिका' शब्द मे।[2]

इस न्याय का विशेष विवरण रुय्यक ने यो किया है—यहॉ चूहे के द्वारा डडे के भक्षण से उसके साथ होने वाले अपूप का भक्षण अर्थत. सिद्ध है। इस न्याय को 'दण्डापूपिका' शब्द से कहा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है जैसे डडे के भक्षण से अपूप का भक्षण अर्थ प्राप्त है वैसे किसी अर्थ की सिद्धि में समानन्यायत्वरूपी सामर्थ्य से जो अन्य अर्थ आ जाता है, उसे अर्थापत्ति कहते है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अर्थापत्ति का निरूपण

---

१. एकस्यानेक प्राप्तावेकत्र नियमन परिसख्या। अलकार सर्वस्व पृ० १९३
अत्र चालौकिक वस्तु गृह्यमाण क्स्त्वन्तरव्यवच्छेदे पर्यवस्यति इति व्यवच्छेद्यंवस्त्वन्तरशब्दमात्रं वेति नियमाभाव.।
अलौकिकत्वाभिप्रायेणैव क्वचित् प्रश्नपूर्वक ग्रहणम। अलंकार सर्वस्व। ९४।

२ दण्डापूपयोर्भावो दण्डापूपिका 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च।' ५। १। १५६
इति वुञ्। पृषोदरादित्वाच्च वृद्ध्यभाव यथाऽहमहमिकेत्यादाविति॥

रुय्यक के ही आधार पर किया है।[१] रुय्यक के ही अनुसार इसके दो भेद किये है और उदाहरण भी अलङ्कार सर्वस्व से उद्धृत है। 'अर्थापत्ति' का प्रयोग सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र मे हुआ जो कालान्तर मे अलङ्कार के रूप मे गृहीत हुआ। भरत के अनुसार अर्थान्तर के कथन से अन्य अर्थ की प्रतीति का होना ही अर्थापत्ति है तथा वह वाक्य माधुर्य सयुक्त रहे।[२]

अलङ्कार रूप मे सर्वप्रथम इसका निरूपण भोज ने किया—प्रत्यक्षादि प्रमाणो से प्रतीत पदार्थ उस तरह उत्पन्न नही होता और (अन्यथानुपपत्ति के द्वारा) अन्य पदार्थ को बोध करवाता है उसको अर्थापत्ति कहते है।[३] मम्मट ने अर्थापत्ति नही मानी। नागेश ने उद्योत मे अनुमान मे ही इसका अन्तर्भाव किया। इस अलङ्कार का वास्तविक स्वरूप रुय्यक द्वारा निरूपित हुआ।[४] इनके अनुसार दण्डापूपिकान्याय से अन्य अर्थ का आ जाना या प्रतीति ही अर्थापत्ति अलकार है। इन्होंने इसके दो प्रकार माने है—प्राकरणिक अर्थ से अप्राकरणिक अर्थ का आ जाना तथा अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की आपत्ति। इसके अतिरिक्त श्लेषमूलक अर्थापत्ति का भी उन्होने उदाहरण दिया। हेमचन्द्र ने इसकी चर्चा नही की। इस अलङ्कार मे वास्तविक अर्थापत्ति न होकर कविकल्पना प्रसूत चमत्कार का होना आवश्यक है। श्लिष्ट पदो के प्रयोग से इसमे अधिक चमत्कार होता है। उदाहरणार्थ—

'अलङ्कार शङ्काकरनकपालं परिकरो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको गतवयाः।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी॥

यहाँ विधौ पद मे श्लेष है। भाग्य के विपरीत हो जाने पर बड़े से बड़े व्यक्ति की दुरावस्था हो जाती है। साधारण पुरुषो की बात ही क्या है, इस बात का कवि शिव जी के उदाहरण द्वारा प्रतिपादन कर रहा है। शिवजी के मस्तिष्क पर चन्द्रमा की टेढ़ी कला स्थित है, अत· वक्र-विधु अर्थात् वक्र-विधि के मस्तक पर स्थिर होने के कारण उनकी यह दुरावस्था है। यह श्लेषमूलक अर्थापत्ति का सुन्दर निदर्शन है।

समुच्चय-अलंकार

किसी कार्य को करने के लिये एक साधक के होने पर भी साधकान्तर का कथन किया जाये तो वहाँ समुच्चय अलकार होता है।

समुच्चय का अर्थ है समूह या एक साथ इकट्ठा होना। इस अलङ्कार मे ये दिखलाया जाता है कि जहाँ किसी कार्य की उत्पत्ति एक कारण या साधन से सम्भव हो किन्तु कवि अन्य साधनो का इस प्रकार वर्णन करे

---

१. प्रस्तुतादितरस्माच्च दण्डापूपिकया बलात्।
योऽर्थादर्थान्तरापात सोऽर्थापत्तिर्द्विधा यता॥ अलकार-महोदधि ८। ७२।

२. अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्यार्थ. प्रतीयते।
वाक्यमाधुर्य सयुक्त सार्थापत्तिरुदाहृता॥ नाट्यशास्त्र १६। २२।

३. सरस्वतीकण्ठाभरण—२। २। ६।

४. दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्ति.। ततश्च यथा दण्डभक्षणादपूपभक्षणमर्थायात तद्वत्कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तौ सामर्थ्यात्समानन्यायत्वलक्षण यदर्थान्तरमापतति सार्थापत्ति। अलंकार सर्वस्व पृ० १९६।

कि वे परस्पर प्राथमिकता का भाव प्रदर्शित करते हुये उस कार्य की सिद्धि के रूप मे प्रस्तुत हो जाये। इसमे तुल्यबल वाले अनेक साधको का कथन होने से समुच्चय नाम की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। समुच्चय समुदाय का बोधक है।

अलङ्कार-महोदधिकार ने अपने पूर्ववर्ती मम्मट और रुय्यक से ही अनुप्रेरित हो 'समुच्चय' का निरूपण किया। इन्होने भी बताया जहाँ किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए एक कारण के विद्यमान होने पर भी अन्य कारण का वर्णन किया जाये वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है।[१] इसमे तीन प्रकार के साधक सम्भव है—कही सत्, कही असत् और कही सत् और असत् दोनो का एकीकरण हो जाने से तीन भेद हो सकते है। मम्मट का ही अनुगमन करते हुये इसके दूसरे भेद के विषय मे आचार्य सूरि का कथन है कि गुण और क्रियाओ का एक साथ वर्णन द्वितीय प्रकार का समुच्चय है।[२] इसके भी तीन भेदो का वर्णन किया।

समुच्चय के प्रथम दर्शन रुद्रटकृत काव्यालकार मे होते है। रुद्रट ने द्रव्य, गुण, क्रिया, स्वरूप अनेक पदार्थो के एक ही आधार मे शोभन वर्णन को 'समुच्चय' कहा है। इन्होने इसके तीन भेद किये—सत्, असत्, सदसत् के योग मे। रुद्रट ने एक अन्य समुच्चय का भी वर्णन किया है जिसमे भिन्नाधार वाले गुण या क्रिया का एक ही स्थान एव समान काल मे वर्णन किया जाता है। रुद्रट ने समुच्चय के शाब्दिक अर्थ पर विचार कर गुण एव क्रियाओ के एकत्रीकरण को समुच्चय अलकार माना।[३]

मम्मट के अनुसार समुच्चय अलकार वहाँ होता है जहाँ किसी कार्य को सिद्ध करने के लिये एक साधक के रहते हुये भी साधकान्तर का भी कथन किया जाये। मम्मट ने इसके दूसरे भेद मे बताया कि इसमे गुण और क्रियाओ का एक काल मे होना वर्णित किया जाये। मम्मट ने रुद्रटाभिमत के तीन भेद प्रथम प्रकार के समुच्चय के, तथा तीन भेद द्वितीय प्रकार के समुच्चय के माने है।[४]

रुय्यक ने मम्मट का ही आधार ग्रहण करते हुये समुच्चय का निरूपण किया, बस क्रम को बदल दिया। इन्होंने प्रथम प्रकार के समुच्चय मे गुण और क्रियाओ का युगपद् वर्णन होना बताया, द्वितीय प्रकार के समुच्चय मे बताया कि एक कारण के होते हुये भी, किसी कार्य को सिद्ध करने के लिये कारणान्तर का वर्णन किया जाये।[५] मम्मट की ही भाँति दोनो के तीन-तीन भेद किये। रुय्यक ने सर्वप्रथम समुच्चय के स्वरूप निर्माण मे

---

१ कुर्वाणे-कार्यमेकस्मिन् यत्रान्यदपि तत्करम्।
असत्-सदुभयावेशात् त्रिविधः स समुच्चय। अ० म० ८। ७३।

२. गुण-क्रियासमावेशो युगपद् यत्र सोऽपर। अ० म० ८। ७३।

३. यत्रैकात्रानेक वस्तुपर स्यात्सुखावहाद्येत।
ज्ञेय· समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योग·।
व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन्
उपजायेते देशे समुच्चय स्यात्तदन्योऽसौ॥ काव्यालकार ७। १९, २७।

४. तत्सिद्धहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्कर भवेत्।
समुच्चयोऽसौ, स त्वन्यो युगपत् या गुण क्रिया। काव्यप्रकाश १०/११६

५. गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः
यत्रैक· कस्यचित्कार्यस्य सिद्धहेतुत्वेन प्रक्रान्तस्तत्रान्योऽपि यदि तत्स्पर्धया तत्सिद्धिं करोति तदायमपर. समुच्चयः। अ० स० पृ० ९०।

'खलेकपोतिकान्याय' का उल्लेख किया। खलिहान मे आ जाने वाले अनेक कबूतरो की भाँति अनेक साधको के अप्रत्याशित 'रूप से या अहमहमिकया जुट जाने का वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार एक खलिहान मे एक कबूतर के आ जाने से अनेक, कबूतर स्वत पहुँच जाते है, उसी प्रकार समुच्चय अलकार मे भी एक साधक के होते हुये भी अन्य अनेक साधक जुट जाते है।

प्रथम प्रकार का समुच्चय का उदाहरण है—

१. *दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं*
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्।
स्त्रीत्व धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमी
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं मया॥

यहाँ पर काम के बाण (कारण) ही विरह को असह्य (कार्य) बना देते है और अपर से 'प्रियतमदूरस्थिति' आदि अनेक कारणो का ग्रहण किया गया है।

२. *'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी*
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगत. खलो मनसि सप्त शल्यानि मे॥

यहाँ धूसर शशि रूप शल्य के रहते अन्य व्यथा हेतुओ का ग्रहण किया गया है—यहाँ अनेक शोभनाशोभन वस्तुओ का समुच्चय है।

३. *विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु दैव विमलं च।*
प्रखलमुखानि नराधिप, मलिनानि च तानि जातानि॥

यहाँ 'विमलता' और 'मलिनता' दो गुणो का समुच्चय होने से समुच्चय के द्वितीय प्रकार का उदाहरण है।

समाधि-अलङ्कार

समाधि का अर्थ है कार्य का सुगमतापूर्वक या शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न हो जाना।[१] इस अलंकार में अन्य कारण के अनायास आ पड़ने से कार्य का सुगमतापूर्वक सम्पन्न होना वर्णित होता है। अतः आकस्मिक कारणान्तर के योग से कर्ता को कार्य की अनायास सिद्धि का होना ही समाधि अलंकार है। यह वाक्यन्यायमूलक अलंकार है। समाधि-अलंकार में कार्य की सम्पन्नता का श्रेय मूल कारण को न होकर अचानक उपस्थित होने वाले कारणान्तर का ही होता है और उसी कारण पर उसका अलकारत्व आश्रित है। इसका सौन्दर्य या चमत्कार अनायास उपस्थित हो जाने वाले कारण के द्वारा कार्य की सिद्धि मे निहित रहता है। आचार्य सूरि भी कारणान्तर के समागम से कार्य के सुगम हो जाने को 'समाधि' कहते हैं।[२] इन्होने उदाहरण भी मम्मट का ही दिया है। समाधि का सस्कृतशास्त्र में 'समाहित' नाम भी प्राप्त होता है। इस अलङ्कार का प्राचीन आचार्यों ने समाहित के नाम से विवेचन

---

१. सम्यक् आधिः, आधानम् उत्पादन समाधिः। बालबोधिनी पृ० ७१६।
२ समाधिः कार्यसौकर्यं हेत्वन्तरसमागमात्। अलंकार-महोदधि ८। ७४।

किया है। भामह[१] और दण्डी[२] कृत 'समाहित' का निरूपण परवर्ती आलकारिको के 'समाधि' निरूपण से मिलता-जुलता है।

वास्तव मे वर्तमान 'समाधि' के अलकार के प्रवर्त्तक आचार्य मम्मट ही है। मम्मट ने ही सर्वप्रथम 'समाधि' की वैज्ञानिक परिभाषा प्रस्तुत की।[३] मम्मट के अनुसार अन्य कारण के आ जाने से कार्य का सुकर हो जाना 'समाधि' है।

परवर्ती आचार्यो ने मम्मट के ही लक्षण को प्रकारान्तर से यथावत् स्वीकार कर लिया।

रुय्यक ने भी मम्मट का ही लक्षण और उदाहरण स्वीकार कर लिया।[४] रुय्यक ने 'काकतालीन्याय' का समावेश कर इस अलङ्कार के विवेचन मे नवीन विचार का सन्निवेश अवश्य किया। 'काकतालीन्याय' का अभिप्राय है, कौवे के तालवृक्ष पर बैठने से अकस्मात् तालवृक्ष गिर जाने के समान किसी घटना की अचानक उपस्थिति। समाधि अलंकार में कारण 'काकतालीन्याय' से अनायास ही उपस्थित हो जाता है।

मम्मट एवं रुय्यक के पश्चात् इस अलङ्कार के स्वरूप विकास मे किसी प्रकार की नवीनता का प्रवेश न हो सका और इसका स्वरूप व्यवस्थित हो गया। उदाहरणार्थ—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्॥

यहाँ मेघगर्जन रूप कारणान्तर के समागम से कार्य की सिद्धि होने से समाधि अलङ्कार है।

प्रत्यनीक अलङ्कार

वाक्यन्यायमूलक अलङ्कारो के विवेचन के अनन्तर लोकन्यायमूलक अलङ्कारो की शृंखला मे सर्वप्रथम प्रत्यनीक अलङ्कार का विवेचन किया गया। यदि कोई अशक्य व्यक्ति शत्रु को हानि पहुँचाने मे असमर्थ होकर उसके निकट सम्बन्धी को तिरस्कृत करे तो ऐसी स्थिति में प्रत्यनीक अलङ्कार होगा।

इसमें तिरस्कार का वर्णन वास्तविक न होकर कवि प्रतिभा-प्रगल्भ से युक्त होना चाहिए।

प्रत्यनीक शब्द प्रति + अनीक के योग से बना है जिसका अर्थ है सेना के प्रति या सेना का प्रतिनिधि। यहाँ लक्षणा से इसका अर्थ शत्रु का प्रतिनिधि हो जायेगा।[५]

---

१. काव्यालंकार ३।१०।

२. काव्यादर्श २।९८।

३. समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगत.।

४. कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः।
केनाचिदारब्धस्य कार्यस्य कारणान्तरयोगात्सौकर्यं यत् स सम्यगाधानात्समाधिः। अलङ्कार सर्वस्व पृ० २०५।

५. प्रत्यनीक मित्यत्र प्रतिशब्द. प्रतिनिध्यकर्थः। 'प्रतिप्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः।' इत्यमरात् 'प्रति प्रतिनिधिप्रतिदानयोः'। १।४।९२
इति पाणिनि स्मृतेश्च। अनीकं सैन्यम्। 'अनोकोऽस्त्री रणे सैन्ये' इति मेदिनी। तथा च प्रत्यनीकशब्देन सैन्यप्रतिनिधिरुच्यते। तत्साम्याच्च प्रकृतार्थे लक्षणया प्रयोगः। बालबोधनी पृ० ७२५।

प्रत्यनीक के विषयनिरूपण मे आचार्य सूरि, मम्मट और रुय्यक के ही ऋणी है।[१] इनका कहना है कि बलवान प्रतिपक्षी का तिरस्कार करने मे असमर्थ व्यक्ति यदि उसके सम्बन्धी का तिरस्कार करे तो वहाँ प्रत्यनीक अलकार होगा।

प्रत्यनीक अलङ्कार का सर्वप्रथम निरूपण रुद्रट कृत काव्यालकार मे हुआ। रुद्रट के विवेचन मे उपमेयोपमान भाव का निर्देश किया गया किन्तु प्रत्यनीक का वास्तविक रूप स्पष्ट न हो सका।[२] प्रत्यनीक का परवर्ती विकास उपमेयोपमान चर्चा से रहित एव प्रतिपक्षी के तिरस्कार पर ही आश्रित रहा।[३]

मम्मट के मतानुसार अपने प्रतिपक्षी का अपकार करने मे असमर्थ व्यक्ति यदि उसके किसी सम्बन्धी का, जिससे उसका उत्कर्ष प्रकट होता हो, तिरस्कार करे तो वहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार होगा। इन्होने दो प्रकार प्रत्यनीक का वर्णन किया—साक्षात् सम्बन्ध एव परम्परागत सम्बन्ध से। रुय्यक का प्रत्यनीक निरूपण आचार्य मम्मट से ही प्रभावित है। उनका भी वही कहना है कि प्रतिपक्षी का तिरस्कार करने मे असमर्थ व्यक्ति या पदार्थ यदि उसके सम्बन्धी का तिरस्कार करे तो वहाँ प्रत्यनीक अलकार होगा।[४] परवर्ती आचार्यों ने कोई स्वतंत्र विचार न प्रस्तुत कर मम्मट और रुय्यक का ही अनुगमन किया।

डॉ० राजवंश सहारा 'हीरा' ने ('अलकारानुशीलन' मे)[५] इस अलकार के मूल मे मनोविज्ञान की 'हीनभावना' का होना बताया है। सबल शत्रु से पराजित व्यक्ति उसके पक्ष वालो को दबाने का प्रयास करता हुआ अपनी हीन मनोवृत्ति की तृप्ति करता है तथा वह निर्बल व्यक्तियो को पीड़ित कर अपनी मानसिक-अशान्ति की परितृप्ति मे सहायक होता है। उदाहरणार्थ—

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दरः भवत्यनुरक्ता।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां ताडयत्यनुशयादथ कामः॥

हे सुन्दर, तुम कामदेव के सौन्दर्य को पराजित करने वाले हो और वह कामिनी आप में ही अनुरक्त है अतः कामदेव मानो द्वेष के कारण अपने पाँचो बाणो से एक साथ उस नायिका को अत्यन्त पीड़ित कर रहा है। यहाँ कामदेव उस नायक का तो कुछ बिगाड नही पा रहा है अत. नायिका को पीड़ित कर रहा है।

प्रतीप-अलङ्कार

प्रतीप अलङ्कार में उपमेय रूप मे प्रसिद्ध उपमान की कल्पना अथवा निष्फलता का प्रतिपादन किया जाता है। कुछ आचार्यों ने प्रतीप को उपमा मे ही अन्तर्भूत किया है पर प्रतीप एक स्वतत्र अलङ्कार है, उपमा का प्रकार

१. प्रतिपक्षं प्रतिक्षेप्तुमशक्तौ तत्प्रशस्तये।
यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीक तदीरितम्॥ अलंकार-महोदधि ८। ७५।

२. वक्तुमोपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्पयेत् प्रत्यनीक तत्॥ काव्यालकार ८। ९२।

३. प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते॥ काव्यप्रकाश १०/१२९

४. प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कार प्रत्यनीकम्॥ अलकार-सर्वस्व पृ० २०६।

५. अलङ्कारानुशीलन पृ० ४१४।

विशेष नही। क्योकि यहाँ उपमान के आक्षेप और उपमान की उपमेय कल्पना का वैचित्र्य ऐसा है जो 'उपमा' मे असभव है। प्रतीप का प्राण 'साधर्म्य' माना गया जो कि यहाँ अपने त्रिविधि रूप मे विराजमान रहता है। बिना 'साधर्म्य' और 'औपम्य' के प्रतीप का अलकारत्व अक्षुण्ण नही रह सकता है।

प्रतीप का अर्थ है—प्रतिकूल , अतएव उपमेय के द्वारा उपमान का अपकर्ष बोध कराना ही प्रतीप अलङ्कार है। इस प्रकार प्रतीप का आधार है—उपमान का तिरस्कार (उपमानतिरस्कारस्य अलङ्कारताबीजत्वात्-प्रदीप)। यह कार्य अनेक प्रकार से किया जाता है—उपमान का आक्षेप, उपमान की उपमेय रूप मे कल्पना, असाधारण गुण वाले पदार्थ की उपमान कल्पना।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का प्रतीप विवेचन पूर्णतया आचार्य मम्मट पर आधारित है इन्होने लक्षण और भेदनिरूपण का यथावत् अनुसरण कर लिया है। आचार्य सूरि के अनुसार जहाँ उपमान का आक्षेप किया जाये अथवा उपमान का तिरस्कार करने के लिये उसकी उपमेय रूप मे कल्पना की जाये।[१]

प्रतीप का भी आरम्भ रुद्रट से ही हुआ। दण्डी ने यद्यपि उपमा के भेदो में 'विपर्यासोपमा' के नाम से इसका उदाहरण दिया है, परन्तु न तो उसे प्रतीप नाम ही दिया है और न ही पृथक् किया है।

रुद्रट ने बताया कि जहाँ उपमेय की विशेष प्रशसा करने के लिये, उपमान के समान होने पर भी किसी दुरावस्था मे पतित होने के कारण उस पर दया या निन्दा की जाती है, वह प्रतीप है।[२]

आचार्य मम्मट ने कहा कि उपमान का तिरस्कार (जो किमर्थता से आक्षिप्त होता है) अथवा तिरस्कार के लिये उपमान की उपमेयरूपता के रूप मे कल्पना की जाये। यह दो प्रकार का होता है। इस तरह यद्यपि पहले इसके दो भेद ही माने तथापि उपमान का उपमेय बनाना तथा असाधारण गुणों के कारण उपमान न होने वाले की उपमानत्व से कल्पना मे दो उदाहरण और दिये। इस तरह इसके चार भेद दिखाये।[३]

रुय्यक ने प्रतीप का समान्य लक्षण नहीं किया अपितु दो प्रकार के 'प्रतीप' अलङ्कार का स्वरूप निर्देश किया।[४] प्रस्तुत उदाहरण मे उपमान की सत्ता पर आक्षेप होने से 'प्रतीप' अलङ्कार है यथा—

लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव !त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो!मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥

---

१ तत् प्रतीपं यदाक्षेपः कैमर्थ्यादुपमानग।
तिरस्काराय तस्यैव यच्च क्वाप्युपमेयता। अलकार-महोदधि ८। ७६।

२ यत्रानुकम्प्यते सममुपयान निन्द्यते वापि।
उपमेयमतिस्तोतु दुरवस्थमिति प्रतीप स्यात्॥ काव्यालकार ८। ७६।

३. आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धना। काव्यप्रकाश १०। १३३।

४ उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पन वा प्रतीपम्। अलंकार-सर्वस्व पृ० २०७।

यहाँ लावण्यादि गुणो से युक्त राजा के होने पर चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानो की व्यर्थता सूचित होने पर प्रतीप अलङ्कार है।

अहमेवगुरु सुदारुणानामिति हालाहल ! तात ! मा स्म दृप्य।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम्॥

यहाँ हालाहल का असम्भाव्य उपमानत्व दिखलाया है जो कि प्रसिद्ध नही है, यहाँ केवल दुर्जनवचनो के सामने उसकी हीनता दिखलाने के लिए उसको उपमान बनाया गया है।

मीलित अलङ्कार

जहाँ समान चिह्न वाली दो वस्तुओ मे एक स्वभावत: प्रबल होती है और दूसरी को तिरोहित कर देती है वहाँ मीलित अलङ्कार होता है। मीलित का अर्थ है मिल जाना। जब सादृश्य के कारण एक वस्तु दूसरी मे मिल जाये और दोनो मे किसी प्रकार का भेद लक्षित न हो तो वहाँ 'मीलित' अलङ्कार होगा। इसमे मुख्य एव गौण दो वस्तुये रहती है तथा दोनो मे गुण साम्य होता है। समान गुण के कारण गौण पदार्थ मुख्य पदार्थ मे मिलकर तिरोहित हो जाता है। दोनो वस्तुओ का समान धर्म या तो स्वाभाविक होता है या आगन्तुक। यह लोकन्यायमूलक अलङ्कार है। अलङ्कार महोदधिकार के अनुसार समानता के कारण एक वस्तु के दूसरी वस्तु मे छिप जाने पर मीलित अलङ्कार होता है।[१] इन्होने भी किसी नवीनता का समावेश न कर अपने पूर्ववर्ती मम्मट आदि के अनुसार ही मीलित का स्वरूप निरूपण किया तथा दो भेद बताये।

मीलित अलङ्कार के प्रतिष्ठापक आचार्य रुद्रट है।[२] कालान्तर मे भोज से लेकर विश्वेश्वर पडित तक सभी आलंकारिको ने इसका विवेचन किया। आचार्य रुद्रट ने बताया कि नित्य या आगन्तुक चिह्न के कारण हर्ष, कोपादि के चिह्न को अन्य चिह्नो द्वारा छिपा देना मीलित अलंकार है।

मम्मट ने इसके दो भेदो का उल्लेख किया तथा बताया कि स्वाभाविक एव आगन्तुक कारणो से बलवत्तर वस्तु द्वारा निर्बल का तिरोधान होता है तो वहाँ मीलित अलङ्कार होगा।[३]

रुय्यक ने मम्मट के ही मत का अनुवदन किया है।[४] सामान्य और मीलित मे अन्तर बताते हुये इन्होने बताया कि मीलित मे दो वस्तुओ का तिरोधान होता है जबकि सामान्य मे दो पदार्थो की अभिन्नता समान गुण के योग से बनती है।

मम्मट ने ही मीलितालङ्कार के स्वरूप को व्यवस्थित किया तथा इसका परवर्ती विकास मम्मट की मान्यताओ

---

१ समानेनैव धर्मेण स्थितेनौत्पत्तिकेन वा।
वस्त्वन्तरेण यद् वस्तु गोप्यते मीलित तु तत्॥ अलकार-महोदधि ८। ७७।

२ तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि॥ काव्यालकार ७। १०६।

३. समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्॥ काव्य-प्रकाश १०। १३०।

४ वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहन मीलितम्। अलकार सर्वस्व पृ० २१२।

के आधार पर हुआ और किसी नवीन तथ्य का समावेश न हो सका।

सूरि आचार्य ने तो उदाहरण भी काव्यप्रकाश के ही दिये है—यथा—

'अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्त्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम्।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते॥'

यहाँ पर नेत्रचञ्चलतादि सहजलीलाजन्य होने के कारण नायिका के स्वाभाविक चिह्न है। इस प्रकार के चिह्न मद्यपान आदि के मद मे भी होते है। किन्तु प्रसिद्ध होने के कारण लीला रूप वस्तु प्रबल है और उसके द्वारा मदरूप वस्तु तिरोहित हो जाती है।

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रेस्त्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते।
अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः॥

कम्प एव पुलक आगन्तुक शीतजन्य होने के कारण आगन्तुक है। इसी प्रकार के चिह्न भय मे भी होते है। किन्तु हिमालय के पास होने से शीतलरूप वस्तु प्रवल है तथा उसके द्वारा भयरूप वस्तु तिरोहित हो जाती है।

सामान्य अलङ्कार

प्रस्तुत एव अप्रस्तुत मे एकरूपता या तादात्म्य प्रतिपादन को सामान्य अलङ्कार कहा जाता है। सामान्य का अर्थ समानता किया गया है। इस अलङ्कार मे दो पदार्थो मे समानगुणता या एकधर्मता का कथन किया जाता है अर्थात् समान धर्म या गुण के कारण प्रस्तुत एव अप्रस्तुत मे अभेद प्रतीति होती है। यह लोकन्यायमूलक अलङ्कार है। इसमे तुल्यगुण वाले दो पदार्थो का वर्णन किया जाता है जो गुण साम्य के कारण परस्पर मिल जाते है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने बताया कि जहाँ प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ, समान गुण के साथ एकरूपता का कथन किया जाये तो वहाँ सामान्य अलङ्कार होगा।[१]

सामान्य अलङ्कार के उद्भावक आचार्य मम्मट है। मम्मट के अनुसार प्रस्तुत का अप्रस्तुत के योग मे दोनो के गुण साम्य की विवक्षा होने के कारण जब उनमे एकरूपता प्रतिपादित की जाये तो वहाँ सामान्य अलङ्कार होगा। उन्होने ऐसी स्थिति मे भी समान्य माना जहाँ प्रस्तुत एव अप्रस्तुत मे उत्तर काल मे भेद का ज्ञान होने पर भी पूर्व ज्ञात अभेद भासित होने का वर्णन हो। अर्थात् अन्य निमित्त से उत्पन्न होने वाली ी भेद प्रतीति पूर्व ज्ञात अभेद को दूर करने मे समर्थ न हो।[२]

रुय्यक पर मम्मट का ही प्रभाव है। इन्होने बताया कि जहाँ प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ, गुण साम्य के कारण, एकात्म्य का वर्णन किया जाय वहाँ 'सामान्य' अलङ्कार होता है। अर्थात् जब प्रस्तुत और अप्रस्तुत में

---

१ प्रस्तुतस्य तदन्येन साधारणगुणाश्रयात्।
यत्रैकात्मय निबध्नन्ति तत् सामान्य निगद्यते॥ अलकार-महोदधि ८। ८७।

२. प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
ऐकात्म्य बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम्। काव्य-प्रकाश १०। १३४।

गुणसाम्य के कारण एकरूपता दिखायी जाने मे सामान्य अलङ्कार होगा।[१] परवर्ती आचार्यो ने मम्मट एवं रुय्यक के मत का ही समर्थन एव अनुवर्त्तन किया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के दोनो उदाहरण भी काव्य प्रकाशोक्त है।

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः।
स्मिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः॥
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः।
प्रियवसतिं प्रति यान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः॥

यहाँ पर शुक्लता की समानता के कारण प्रस्तुत अभिसारिका तथा अप्रस्तुत चन्द्रिका की एकरूपता का वर्णन है, यहाँ पर 'अविभाव्यतागताः' इसके द्वारा एकात्मकता का प्रतिपादन किया गया है, अतः सामान्य अलङ्कार है।

कही प्रस्तुत एव अप्रस्तुत की उत्तरकाल मे भेद प्रतीति हो जाने पर भी पूर्वकालिक ऐक्यप्रतीति के भासित होने से सामान्य अलकार होता है, जैसे—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ?

यहाँ प्रस्तुत कपोल और अप्रस्तुत चम्पक मे भ्रमर पतन के बाद भेद प्रतीति हो जाती है। फिर भी पूर्व-कालिक एकरूपता को लेकर सामान्य अलङ्कार है।

तद्‌गुण-अलङ्कार

तद्‌गुण का अर्थ है उसका गुण। इस अलङ्कार मे एक पदार्थ अपना गुण छोड़कर अपने पास के अधिक गुण वाले दूसरे पदार्थ का गुण ग्रहण कर लेता है। इस अलङ्कार की कल्पना लोकन्याय या लोकसिद्ध व्यवहार पर हुई है। लौकिक व्यवहार मे प्रबल वस्तु के गुण की हीनवस्तु ग्रहण कर लेती है। इस अलङ्कार का भी यही आधार है।[२] उत्कृष्टतर गुणवाले पदार्थ के सम्पर्क मे आने पर अल्पगुणवाला पदार्थ प्रभावित होता है अर्थात् उससे अभिभूत होकर अपने गुण का त्याग करते हुये उसका गुण ग्रहण कर लेता है।

आचार्य सूरि के मतानुसार जहाँ अपने गुण का त्याग कर अपने से उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण को ग्रहण किया जाये वहाँ तद्‌गुण अलङ्कार होता है। आचार्य सूरि ने यहाँ भी मम्मट के विचारो का अनुवर्तन मात्र ही किया है।

इस अलङ्कार का प्रादुर्भाव रुद्रट के काव्यालकार मे ही हुआ। परवर्ती आलकारिको मे लगभग सभी ने इसका निरूपण किया। रुद्रट ने इसके दो प्रकारो का उल्लेख किया। तद्‌गुण का परवर्ती विकास रुद्रट द्वारा कृत द्वितीय भेद के आधार पर ही हुआ।

---

१ प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्। अलकार-सर्वस्व पृ० ९४।

२ तद्‌गुणः स्वगुणत्यागाद् योगेऽधिकगुणस्य यत्।
धत्ते तद्‌गुणतां वस्तु'। अलकार-महोदधि ८। ७९।

द्वितीय भेद मे बताया कि जो वस्तु समान गुणवाली न होने पर भी अत्यन्त अधिक गुणवाली वस्तु से मिलकर उसके गुण से युक्तता को धारण करे वह दूसरा तद्‌गुण है।[१]

मम्मट ने कहा कि जब न्यून गुणवाली वस्तु अपने गुण का त्याग कर निकटवर्ती उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के गुण को ग्रहण करे तो वहाँ तद्‌गुण अलङ्कार होगा।[२]

परवर्ती रुय्यक आदि आचार्यो ने मम्मट की ही मान्यताओ को स्वीकार करते हुये तद्‌गुण का स्वरूप निर्धारण किया। रुय्यक ने बताया कि अल्पगुण वाली वस्तु समीपस्थ अधिक गुण वाली वस्तु का गुण स्वीकार कर ले तो वहाँ 'तद्‌गुण' अलङ्कार होगा।[३]

रुय्यक और सूरि ने उदाहरण तो काव्यप्रकाश वाला ही दिया है। पर दोनो ने मीलित और तद्‌गुण का भेद स्पष्ट करते हुये बताया कि मीलित मे प्रस्तुत वस्तु का स्वरूप आच्छादित हो जाता है। तद्‌गुण मे तो प्रस्तुत वस्तु का स्वरूप अपना स्वरूप न छिपाये हुये ही अन्य वस्तु के गुण से उपरक्त होकर प्रतीत होता है।[४] उदाहरणार्थ—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचं रुचा स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः॥

यहाँ पर सूर्य के अश्वो की अपेक्षा गरुड के अग्रज अर्थात् अरुण के और उसकी अपेक्षा हरितमणियो के गुण प्रकर्ष का वर्णन है।

अतद्‌गुण अलङ्कार

यह अलङ्कार तद्‌गुण का विरोधी है। इसमे अल्पगुणवाली वस्तु उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के समीप रहकर भी उसके गुण को ग्रहण नही करती। यह लोकन्यायमूलक अलङ्कार अर्थात् इसकी कल्पना का मूलाधार ही लौकिक सिद्धान्त पर आश्रित है।

आचार्य सूरि ने पूर्वकारिका के आधार पर ही सूत्र बनाया और कहा कि यदि वस्तु समीपस्थ वस्तु के गुण को योग्यता सम्भव होने पर भी न ग्रहण करे तो अतद्‌गुण नामक अलङ्कार होता है।[५]

---

१ असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु।
ससृष्ट तद्‌गुणता धत्तेऽन्यस्तद्‌गुणः स इति॥ काव्यालकार ९। २४।

२ स्वमुत्सृज्य गुण योगादत्युज्ज्वल गुणस्य यत्।
वस्तु तद्‌गुणतामेति भण्यते स तु तद्‌गुण। काव्य प्रकाश। १०। १३७।

३ स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्‌गुण·। अलकार सर्वस्व पृ० २१३।

४ इह चानपहुतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तगुणेनोपरक्ततया प्रतीयते।
मीलिते तु प्रच्छादितत्वेनेति तस्मादस्य भेद·। अलंकार-महोदधि पृ० ३२२।

५ नैव चेत् तदतद्‌गुणः। अलकार-महोदधि ८। ७९
सम्भवन्त्यामपि योग्यताया यद्यधिकगुणस्य वस्तुनो गुणं
किञ्चिदपकृष्टगुणं वस्तु न कथञ्चित् स्वीकुरुते तदतद्‌गुणो नाम। वही।

भी काव्यप्रकाशोक्त दिये।[१]

इस अलङ्कार के भी प्रतिष्ठापक आचार्य रुद्रट ही है। इनके बाद प्राय सभी ने इसका विवेचन किया।[२]

रुद्रट ने इसे औपम्यवर्ग मे रखा। इनके अनुसार, "उत्तर वचन के श्रवण करने, पूर्व वचन का उन्नयन होना या प्रश्न से ही उत्तर निकलना उत्तर अलङ्कार है। इन्होने वहॉ भी उत्तर माना जहॉ वक्ता ज्ञात प्रसिद्ध उपमान से भिन्न उपमेय के पूछे जाने पर उपमान के सदृश कथन करता है।"[३]

मम्मट ने अपने विवेचन द्वारा उत्तरालकार का स्वरूप विस्तार किया तथा कतिपय नवीन तथ्यो का समावेश भी किया। इनके अनुसार उत्तर के श्रवण मात्र से प्रश्न की कल्पना की जाये एव प्रश्न के अनेक असम्भाव्य उत्तर दिये जाये तो उत्तर अलङ्कार होता है। मम्मट ने उत्तरालकार के द्वितीय भेद को प्रश्नपूर्विका परिसंख्या से पृथक् मानते हुये बताया कि परिसख्या मे अन्य के निषेध या व्यावृत्ति मे तात्पर्य होता है, किन्तु द्वितीय उत्तर मे अन्य का निषेध न होकर वाच्यार्थ मे ही विश्रान्ति होती है।[४]

रुय्यक पर मम्मट का ही प्रभाव है। सारी बाते मम्मट के ही समान है।

अलङ्कार महोदधिकार ने भी मम्मट और रुय्यक के विचारो का अनुवदन किया है। यथा—

वाणिअअ हत्थिदत्ता कुत्तो अम्हाणं वग्धकित्ती अ।
जात लुलितालअमुही धरम्मि परिसक्कए सोण्हा॥
(वाणिज्क ! हस्तिदन्ता,: कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृतिश्च।
यावद् विलुलितालकमुखी गृहे परिष्वष्कते स्नुषा॥)

यह व्याध का उत्तरवाक्य है। इसके सुनने मात्र से प्रश्नरूप मे हाथी दॉत और व्याघ्रचर्म लेना चाहता हूँ, तुम मूल्य लेकर उनको दो। इस क्रय करने वाले वाक्य की कल्पना इस उत्तर वाक्य के द्वारा हो जाने से उत्तरालङ्कार है। मम्मट ने अनुमान और काव्यलिङ्ग से भी इसे पृथक् स्थापित किया।

सूक्ष्म-अलङ्कार

सूक्ष्म का अर्थ है अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा जानने योग्य, बारीक या महीन। इस अलङ्कार मे आकार अथवा चेष्टा के द्वारा पहचानने योगय कोई सूक्ष्म वस्तु किसी अन्य उपाय से प्रकाशित हो जाती है। इसमे दो बाते देखी जाती हैं एक तो यह कि किसी चेष्टा या आकार को देखकर कोई व्यक्ति उसके गुप्त रहस्य के भेद

---

१ तदुत्तरं भवेद् यत्र प्रश्नोन्नयनमुत्तरात्।
असकृद् वा सति प्रश्ने यत्रासम्भाव्यमुत्तरम्। अलकार-महोदधि ८। ८०।

२ उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्व वचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तर यत्र॥ ७। ९३।
यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम्॥ वही ८। ७२। काव्यालंकार

३ उत्तरश्रुतिमात्रतः। प्रश्नोन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति।
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तर स्यात्तदुत्तरम्। काव्य-प्रकाश १०। १२१।

४ उत्तरात्प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम्। अलंकार सर्वस्व, पृ० २१६।

को समझ लेता है। दूसरी बात यह कि जाने हुये रहस्य को इङ्गित के द्वारा प्रगट कर उस व्यक्ति को इसकी सूचना दे देता है कि उसने उसके सकेत को समझ लिया है। इस प्रकार कह सकते है कि आकार एव चेष्टा से सलक्षित सूक्ष्म अर्थ किसी युक्ति से प्रकाशित हो तो वहॉ सूक्ष्म अलङ्कार होता है। ऐसी ही मान्यता अलङ्कार-महोदधिकार की भी है, उन्होने आकार तथा इङ्गित से लक्षित अर्थ को विदग्ध के प्रति प्रकाशन को सूक्ष्मालङ्कार कहा।[१]

सूक्ष्म अलङ्कार मे सहृदयमात्र सवेद्य हृदयगत सूक्ष्म भावनाओ की अभिव्यक्ति कर कवि इसके नाम की सार्थकता सिद्ध करता है। उसमे किसी बात को स्पष्ट रूप से नही कहा जाता बल्कि लक्षित रहस्य को किसी रहस्य द्वारा सूचित किया जाता है। सूक्ष्म प्राचीन एव अत्यन्त प्रसिद्ध अलङ्कार है जिसका विवेचन प्राय: सभी आचार्यो ने किया। भामह ने इसमे उक्ति वैचित्र्य का अभाव देखकर इसमे अलङ्कारता का निषेध किया।[२]

सर्वप्रथम दण्डी ने इसे वाणी का उत्तम आभूषण कहते हुये सूक्ष्म की अलङ्कारता को सिद्ध किया और कहा कि इगित और आकार के द्वारा लक्षित अर्थ सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म अलङ्कार माना जाता है।[३]

रुद्रट ने भी सूक्ष्म का विवेचन किया किन्तु इसका लक्षण सूक्ष्म के वास्तविक स्वरूप से नितान्त भिन्न है जिसमे सूक्ष्म की सगति नही बैठती है।[४]

मम्मट ने दण्डी के लक्षण को परिष्कृत रूप देते हुये बताया कि यह अलङ्कार तीक्ष्ण बुद्धि वाले व्यक्तियो द्वारा ही संवेद्य है अर्थात् सूक्ष्म सहृदय मात्र सवेद्य हुआ करता है।[५] मम्मट ने अपने लक्षण मे यह दिखलाया कि सूक्ष्म अर्थ को पहले स्वय जाना जाता है फिर दूसरो पर प्रकट किया जाता है। आकार या चेष्टा से लक्षित किया गया सूक्ष्म अर्थ असाधारण धर्म के द्वारा दूसरो पर प्रकाशित किया जाता है।

रुय्यक ने मम्मट के लक्षण को सक्षिप्त करते हुये भी उन्ही के विचारो का समर्थन मात्र करते हुये इसके दो भेदो की चर्चा की।[६]

(१) आकार द्वारा लक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन—

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दु प्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुंकुमं काऽपि कण्ठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्तीव तस्याः स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख॥

---

१. ज्ञात्वाऽकारेङ्गितादिभ्यः सूक्ष्मोऽप्यर्थ. प्रकाश्यते।
यद् वैदग्ध्येन केनापि तत् सूक्ष्ममिति लक्ष्यते। अलकार-महोदधि ८। ८०।

२. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मत। काव्यालंकार २। ८६।

३. हेतुश्चसूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। २। २३५।
इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः॥ काव्यादर्श २। २६०।

४. काव्यालंकार ७। ९८।

५ कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते।
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते॥ काव्यप्रकाश १०। १२२।

६. सलक्षितसूक्ष्मार्थ प्रकाशन सूक्ष्म।
इह सूक्ष्म स्थूलमतिभिरसलक्ष्यो योऽर्थ· स यदा कुशाग्रमतिभि-रिङ्गिताकाराभ्यां सलक्ष्यते तदा तस्य संलक्षितस्य विदग्धं प्रति प्रकाशन सूक्ष्ममलकार.। अलङ्कार सर्वस्व पृ० २१७।

यहाँ सखी के गले के पास विभक्त कुकम को देखकर उसकी सखी ने उसके रतिविलास को ज्ञात कर उसकी हथेली पर तलवार का चित्र खींचा इससे उसने यह सूचित किया कि मैने तुम्हारे विपरीत रतिभाव को जान लिया है। यहाँ नायिका के पुरुषत्व को अभिव्यक्त किया गया क्योकि पुरुषो के हाथ मे ही कृपाण होना उचित है।

(२) चेष्टा द्वारा लक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन—

संकेत काल मनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

यहाँ रात्रिकाल के सूचक कमल सकोचन द्वारा सन्ध्या समय मिलने का सकेत सूचित किया गया है।

व्याजोक्ति-अलङ्कार

गोपनीय तथ्य किसी प्रकार प्रकट हो जाये तो उसे किसी बहाने से छिपाया जाये तो वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार होगा। व्याजोक्ति मे दो शब्द है व्याज (बहाना) और उक्ति (कथन)। इसका अर्थ हुआ बहाने से छिपाना।

गुप्त बात को छुपाने के लिए वक्ता ऐसी युक्ति का आश्रय लेता है जो वास्तविक नही होती। इसमे कवि के अतिरिक्त किसी भिन्न पात्र की उक्ति का कथन किया जाता है। जो भी गुप्त वस्तु का स्वरूप किसी प्रकार चिह्न-विशेष द्वारा स्पष्टतया प्रतीति हो जाती है और उसे कल्पित कारण से छिपा लिया जाता है। इसी से इसका अलङ्कारत्व अक्षुण्ण रहता है।

अलङ्कार-महोदधिकार के अनुसार निगूढ़ वस्तु के किसी प्रकार से प्रकट हो जाने पर किसी बहाने से छिपाना ही व्याजोक्ति है अर्थात् उद्भिन्न वस्तु' का निगूहन ही व्याजोक्ति है।[१]

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम निरूपण वामन ने किया तत्पश्चात् सभी अर्वाचीन आचार्यो ने इसका उल्लेख किया।

वामन के अनुसार किसी बहाने से सत्य को छिपाना ही व्याजोक्ति है।[२]

नवीन आचार्यो ने भिन्न प्रकार से इसको परिभाषित किया। इनके अनुसार गोपनीय बात किसी प्रकार दूसरो पर प्रकट हो जाने पर पुन उसे छिपाना ही व्याजोक्ति है।

मम्मट ने इसके लक्षण को बदल कर सर्वथा नवीन रूप प्रदान कर कहा कि स्पष्टत· प्रकट हुई वस्तु को किसी व्याज से छिपाया जाये तो वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार होता है।[३]

रुय्यक के अनुसार भी प्रकट हुई वस्तु को किसी प्रकार छिपाने मे व्याजोक्ति अलङ्कार होता है। अन्य परवर्ती आचार्यो के लक्षणो मे भी किसी प्रकार की नवीनता दृष्टिगोचर नही होती है। मम्मटादि आचार्यों ने

---

१ व्याजोक्तिर्गोपन यत्र व्याजादुद्भिन्नवस्तुन। अलकार-महोदधि ८।८२।

२ व्याजस्य सत्यसारूप्य व्याजोक्ति। काव्यालकार सूत्र ४, ३, २५।

३ व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूप निगूहनम्। काव्यप्रकाश १०।११८।

व्याजोक्ति को स्वतत्र अलङ्कार घोषित करते हुये अपह्नुति से इसकी पृथक् सत्ता स्थापित की। अपह्नुति मे पहले गुप्त रहस्य को अपने से ही प्रकट कर बाद मे छिपाया जाता है जबकि व्याजोक्ति मे किसी प्रकार प्रकट हुये रहस्य को पुन. छिपाया जाता है। अपह्नुति मे उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाती है पर व्याजोक्ति मे किसी प्रकार निषेध नही होता है।[१] अपह्नुति प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साम्य पर निर्भर है, व्याजोक्ति नही।[२] उदाहरणार्थ—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसद्
रोमाञ्चादि विसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुल. ।
हा ! शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तः पुरमातृमण्डगणैर्दृष्टोऽवताद् वः शिवः ।

यहाँ पर रोमाञ्च और कम्पन (पार्वती विषयक शिवगत रतिभाव के) सात्विक अनुभाव के रूप मे प्रकट हो रहे है किन्तु हिमालय की शीतलता के कारण से होने वाला बताया गया है। अतएव उनका स्वरूप छिपाया गया है और वे व्याजोक्ति के प्रयोजक है।

स्वभावोक्ति अलङ्कार

स्वभावोक्ति मे किसी वस्तु की जाति, स्वभाव या गुण का यथावत् वर्णन किया जाता है। स्वाभावोक्ति का अर्थ है स्वभाव का कथन, जो वस्तु जिस रूप मे है, उसका उसी रूप मे कथन करना ही स्वभावोक्ति है। वस्तु के सूक्ष्म-सुभग स्वभाव वर्णन को 'अलङ्कार' इसलिये माना जाया करता है क्योकि इसमे सहृदय-हृदय एक चमत्कार का अनुभव किया करता है। लोक-जीवन की वस्तुओं के सूक्ष्म धर्मो के चित्रण मे सहृदय का जो हृदय सवाद हुआ करता है, वही स्वभावोक्ति की अलङ्कार-कल्पना का मूल कारण है।

स्वभावोक्ति का अभिप्राय सूक्ष्म अर्थात् कवि प्रतिभामात्र से संवेद्य वस्तु-स्वभाव की तद्रूप उक्ति है। केवल वस्तु-स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार नही अपितु कविप्रतिभामात्रवेद्य वस्तु स्वभाव का यथावद् वर्णन 'स्वभावोक्ति' है। चमत्कारशून्य वस्तु वर्णन 'स्वभावोक्ति' नहीं अपितु 'वार्ता' या 'बातचीत' है, इसमें वस्तु का वर्णन कवि-प्रतिभा-प्रसूत होने से चमत्कारपूर्ण लगा करता है।

आचार्य सूरि के अनुसार वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव चित्रण मे स्वभावोक्ति अलङ्कार मानते हैं,[३] इनकी स्वभावोक्ति का लक्षण पूर्णतया आचार्य रुय्यक पर आधारित है। अपनी वृत्ति मे अपने मत को स्पष्ट करते हुये

---

१. उद्भिन्नवस्तुनिगूहन व्याजोक्ति.। अलकार सर्वस्व पृ० २१८।

२. न चैषाऽपह्नुति· प्रकृतापकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात्। काव्यप्रकाश, वृत्ति, १० । ११८।

३ स्वभावोक्ति पुन. सूक्ष्म वस्तुसद्भाववर्णनम्—अलङ्कार-महोदधि। ८। ८२
न खलु वस्तुस्वरूपमात्रवर्णनमलङ्कारस्तत्त्वे सर्वत्राप्यलङ्कारप्रसङ्गात्।
न हि वस्तुस्वरूपमात्रवर्णनेन शून्यं किमपि काव्यमस्तीति सूक्ष्मग्रहणम्।
सूक्ष्मः कविमात्रगोचरो यो वस्तुन· सन् विद्यमानोभाव. परिस्पन्दविशेषस्तस्य वर्णन सुधासोदरया गिरा प्रकाशनः सा पुनः स्वभावोक्ति.। इय च सस्थानावस्थानवेष-व्यापारादिभि· स्वरूपैर्मुग्धाङ्गना-डिम्भ-तिर्यग-नीचादिभिराश्रयैदेश-काल-शक्ति साधनादिभिश्च हेतुभिरनेकधा भिद्यते। अलकार महोदधि।

आचार्य ने लिखा कि वस्तु के स्वभावमात्र का वर्णन ही स्वभावोक्ति नही, उसमे कवि प्रतिभा द्वारा वस्तुस्वभाव का तदनुरूप चित्रण होना चाहिए। सूरि के अनुसार स्वभावोक्ति के वस्तुसस्थान, वस्तुअवस्थान, वेष, व्यापार आदि के भेद से अनेक प्रकार के भेद हो सकते है। शिशु मुग्धा, पशु-पक्षी, सभ्रान्त, हीन व्यक्तियो के देश, काल, शक्ति, साधन आदि अवस्थोचित वर्णन मे ही स्वभावोक्ति का सौन्दर्य निहित है।

स्वभावोक्ति प्राचीन आलङ्कारिक मर्यादा का एक अलङ्कार है। इसका एक और अन्य नाम 'जाति' भी मिलता है।

इसका सर्वप्रथम निरूपण भामह ने किया। इसके बाद सभी परवर्ती आचार्यों ने स्वभावोक्ति का निरूपण कर प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा।

भामह के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे इसकी अलकारता स्वीकार नही थी। उनकी मान्यता है कि 'स्वभावोक्ति अलङ्कार है, ऐसा कुछ लोगो का कहना है। किसी पदार्थ का उसी अवस्था मे होना ही स्वभावोक्ति है।[१]

दण्डी ने सर्वप्रथम अलङ्कार रूप मे इसकी महत्ता को प्रतिष्ठापित कर इसके स्वरूप को स्पष्ट और विस्तृत किया। दण्डी के अनुसार पदार्थो के नाना अवस्था वाले रूप को प्रकट करती हुई अलंकृति स्वभावोक्ति एवं जाति के नाम से व्यवहृत होती है।[२] यह दण्डी का सर्वप्रथम अलङ्कार है।

उद्‌भट ने मृगशावक आदि की चेष्टाओ के यथावत् वर्णन को स्वभावोक्ति कहा।[३] इन्होने स्वभावोक्ति को संकुचित कर उसका क्षेत्र परिसीमित कर दिया।

रुद्रट ने इसे 'जाति' नाम से अभिहित कर इसके क्षेत्र का विस्तार किया।[४]

भोज ने इसका निरूपण जाति के ही नाम से किया। इनका कहना है कि जाति मे वस्तु स्वभाव का प्रदर्शन एवं विवरण उपस्थित किया जाता है, इसमे कवि प्रतिभा का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है।[५] मम्मट ने बालकादि की स्वाश्रित या आत्मगतक्रिया एव रूप के वर्णन को स्वभावोक्ति कहा है।[६]

रुय्यक के अनुसार वस्तु के स्वभावमात्र का वर्णन ही स्वभावोक्ति नही है, इसमें कवि प्रतिभा के द्वारा

---

१. स्वभावोक्तिरलङ्कार·इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥ काव्यालकार २। ९३।

२ नानावस्थं पदार्थाना रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ काव्यादर्श ८। ८।

३. क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकाना निबन्धनम्।
कस्याचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥ काव्यालंकार सार संग्रह।

४. संस्थानवस्थानक्रियादि यद्यस्य सदृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जाति·॥ काव्यालंकार ७। ३०।

५. नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुन।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गम्यस्तानि जाति प्रचक्षते॥ सरस्वती कण्ठाभरण ३। ४।

६. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे· स्वक्रियारूपवर्णनम्॥ काव्यप्रकाश १०। १११।

वर्णित वस्तु का तद्रूप चित्रण होना चाहिए अर्थात् कविप्रतिभा द्वारा वर्णित वस्तु का यथावत् अकन ही स्वभावोक्ति अलङ्कार है। इनका अभिप्राय यह है कि वस्तु के स्वभाव-कथन मे ही अलङ्कारत्व नही होता अपितु वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव चित्रंण मे अलङ्कारत्व होता है। वर्णन की सूक्ष्मता एव कवि-प्रतिभायुक्त वस्तु के यथावत् चित्रण का कथन रुय्यक की अपनी विशेषता है।

आचार्य सूरि आदि परवर्ती आचार्यो ने स्वभावोक्ति के निरूपण मे पूर्ववर्ती आचार्यो के ही मत को अगीकार कर अपने विवेचन का आधार बनाया। इस प्रकार कवि-प्रतिभा के सामर्थ्य से वस्तु स्वभाव के वर्णन मे स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है।[१]

भाविक-अलङ्कार

जहाँ कवि-भावना के द्वारा भूत और भविष्य के पदार्थो को प्रत्यक्षवत् दिखलाता है वहाँ भाविक अलङ्कार होता है। अभिप्राय ये है कि जब अतीत एव अनागत से सम्बद्ध आश्चर्यजनक वस्तुयें सहजबोधगम्य शैली मे प्रत्यक्ष की भाँति वर्णित हो तो वहाँ भाविक अलङ्कार होगा। यहाँ पर भूत एव भविष्य का वर्तमान की भाँति वर्णन किया जाता है।

सस्कृत काव्यशास्त्रियो ने भाविक शब्द की अनेकधा व्युत्पत्ति की है—

भाविक शब्द का अर्थ है सत्ता की रक्षा (भूसत्ता इक रक्षा)।[२]

कवि के अभिप्राय को भाव कहा जाता है।[३] इस अलङ्कार मे कवि भूत एव भविष्य के प्रत्यक्षवत् वर्णन की इच्छा करता है, अतः इसे भाविक कहते है।

सहज बोधगम्य भाषा के अभाव मे कवि अतीतानागत का प्रत्यक्षत् वर्णन करने मे समर्थ नही हो सकता, अतः शब्दार्थ योजना और विषय की विस्मयजनकता दोनो ही भाविक अलङ्कार की सफलता के आवश्यक साधन है। कवि वर्णनावैचित्र्य के द्वारा ही अप्रत्यक्ष पदार्थ का प्रत्यक्षीकरण होता है।

अलकार-महोदधिकार भी भूत एव भावी का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन करने को भाविक अलङ्कार कहते हैं।[४]

रुय्यक का ही अनुसरण करते हुये नरेन्द्रप्रभसूरि भाविक का विश्लेषण करते हैं। इसके अलङ्कारत्व पर विचार करते हुये आचार्य सूरि कहते है कि इस अलङ्कार मे कवि का हृदयगत भाव या अभिप्राय सहृदय के हृदय मे प्रतिबिम्बित होता है। इसे भाविक इसलिये कहते हैं कि इसी के द्वारा सहृदय अपने मन मे वर्ण्यवस्तु की कल्पना करते है। कवि की शब्दार्थ-योजना मे प्रसादगुण के होने से ही सहृदय के चित्त मे अलौकिक अनुभव का समावेश होता है तथा उसके वर्णन की अद्भुत शक्ति के चमत्कार के कारण भी सहृदय अलौकिक अनुभव

१. सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद् वर्णनम् स्वभावोक्ति.। अलंकार सर्वस्व पृ० २२३।

२. भू सत्ताया इक्।

३ भाव· कवेरभिप्राय·।

४ अत्यद्भुतत्वादव्यस्तसम्बन्धाद् भूत भाविनाम्।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्व भाविकं तद् विभाव्यते॥ अलकार-महोदधि ८। ८३।

का आनन्द करता है।

भाविक अत्यन्त प्रसिद्ध अलकार है। भामह इसे अलङ्कार न कहकर गुण मानते है तथा भाविक की अभिधा भाविकत्व करते है।[१]

भामह का विचार है कि "कवि एक ऋषि की भाति अपनी काव्य प्रतिभा के द्वारा भूत एवं भावी को वर्तमानवत् नयनगोचर करा देता है। काव्याध्ययन के समय पाठक मानसिक ऑखो के समक्ष पूरी कथा घटित होती हुई दिखाई पड़े तभी उसमे कवि की सफलता है।"

दण्डी का भाविक विवेचन भामह से ही प्रभावित है।[२] इन्होने इसे प्रबन्ध विषयक अलङ्कार स्वीकार किया है। उद्भट ने ही इसे सर्वप्रथम काव्यालकार के रूप मे प्रतिष्ठित कर इसे भाविक की संज्ञा प्रदान की।[३]

मम्मट ने उद्भट के ही आधार पर भाविक अलकार का विवेचन किया। इसके अनुसार जब भूत एवं भविष्य से सम्बन्धित वस्तुओ का इस प्रकार वर्णन किया जाये कि वे प्रत्यक्ष की भॉति दिखाई पड़े तो वहॉ भाविक अलङ्कार होगा। इन्होने भूत एवं भावी के आधार प्र दो भेदो का कथन किया है।[४]

रुय्यक ने मम्मट का ही आधार ग्रहण करते हुये भी इसके विवेचन को अधिक विस्तृत पीठिका प्रदान की। भूत एवं भावी का प्रत्यक्ष की भॉति वर्णन करने को ही रुय्यक भाविक अलङ्कार कहते है। कवि प्रतिभा और शब्द मूर्तन का ऐसा प्रभाव है कि जिसके कारण भूत एवं भविष्य वस्तु वर्तमान की भॉति प्रत्यक्षीभूत हो जाती है अन्यथा भूत एव भविष्य की वस्तु मे स्वयं इतनी शक्ति नही है।[५]

रुय्यक ने इसे भ्रान्ति, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग आदि अलङ्कारो से पृथक् सिद्ध किया।

हेमचन्द्र ने इसकी चर्चा नही की।

आचार्य सूरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का ही आधार ग्रहण किया है : यथा—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात् कुर्वे तवाकृतिम्॥

यहॉ भाविक का वैचित्र्य स्पष्ट है, किसी रमणी को भूतकाल किवा भविष्यकाल से सम्बद्ध अलौकिक रमणीयता का स्पष्टतया साक्षात्कार होने लगता है।

---

१. काव्यालकार ३। ५३, ५४।

२. काव्यादर्श २। ३६४-६६।

३. प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविन.।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्। काव्यालकार सार सग्रह ६। ६॥

४. प्रत्यक्षा इव यद् भावा. क्रियन्ते भूतभाविन।
तद् भाविकम्। काव्यप्रकाश (१०। ११४)

५ अतीतानागतयो प्रत्यक्षायमाणत्व भाविकम्। अलकार सर्वस्व।

उदात्त-लङ्कार

इस अलङ्कार मे किसी वस्तु की समृद्धि का वर्णन होता है जिससे उसकी महत्ता प्रतिष्ठित हो सके। उदात्त का आधार वस्तु की समृद्धि का ही वर्णन करना है। कवि प्रतिभाप्राप्त महाऐश्वर्यशाली वस्तु के अलौकिक वर्णन मे ही उदात्त होगा। कवि वस्तु की समृद्धि का वर्णन कर उसकी महनीयता का प्रतिपादन करता है।

उदात्त का अर्थ है—उत्कृष्ट—उत् (उत्कर्षेण) आदीयत (गृह्यते) स्म इत्युदात्तम् (उत् + आ + दा) उदात्त का अर्थ औदार्य एव ऐश्वर्य भी होता है—उदात्त शब्दस्य औदार्यम् ऐश्वर्य चार्थः।[१]

महोदधिकार के अनुसार अतिशय समृद्धिशाली वस्तु के वर्णन मे उदात्त अलङ्कार होता है। इसी प्रकार उदात्त के द्वितीय भेद मे महापुरुषो का चरित वर्णनीय का अङ्ग हो तो उदात्त अलकार होगा।[२]

इसके दूसरे भेद मे किसी वस्तु का वर्णन करते समय उसके वैशिष्ट्य प्रदर्शन के लिये कवि किसी महापुरुष के चरित का वर्णन करता है तथा महानो का चरित प्रधानरूप से न होकर अङ्ग रूप से या गौण रूप से उपस्थित किया जाता है। इस भेद मे महानो के चरित्र का ऐतिहासिक या पौराणिक होना आवश्यक है।

यह अत्यन्त प्रसिद्ध एव प्राचीन अलङ्कार है। उदात्त अलङ्कार सर्वप्रथम भामह कृत काव्यालंकार मे प्राप्त होता है। इसके लिये, उदार, उदात्त एव उत्कर्ष तीन नाम प्रयुक्त हुये है। भामह ने इसकी परिभाषा न देकर इसके उदाहरण ही प्रस्तुत किये है। इससे पता चलता है कि वे वस्तु की समृद्धि एव महानो के चरित्र-वर्णन को ही उदात्त कहते है।[३]

दण्डी ने भामह को ही आधार बनाते हुये उदात्तालकार को शास्त्रीय आधार प्रदान किया। इसके अनुसार आश्रय या सम्पत्ति का अतिशयवर्णन ही उदात्त है।[४]

उदात्त के परिष्कृत स्वरूप की विवृत्ति सर्वप्रथम उद्भट ने की और यही लक्षण परवर्ती आचार्यों का आधार बना। इन्होने वस्तु या सम्पत्ति की समृद्धि एवं महत् जनों के चरित्र की उपलक्षणता के प्रतिपादन को उदात्त कहा।[५]

मम्मट के विवेचन पर उद्भट का प्रभाव है। मम्मट के अनुसार वस्तु की समृद्धि के वर्णन एवं वर्ण्यवस्तु

---

१ समुद्रबन्ध—पृ० २०७।

२ उदात्तं तत् तु यत् कामभृद्धिव (म) द्वस्तुवर्णनम्।
यथास्थितवस्तुवर्णनावतः पूर्वस्यालङ्कारद्वयस्यारोपितैश्वर्यवस्तुवर्णनस्वरूपत्वेन विपक्षभूतं तत् पुनरुदात्तं नामालङ्कारो यत् काममतिशयेन ऋद्धिमतः कवि प्रतिभोत्थापितसम्पदुत्कत्कर्षयुक्तस्य वस्तुनः कस्याप्यर्थस्य वर्णनम्।
चरितं च महापुसः कुत्राप्यङ्गत्वमागतम्। अलंकार-महोदधि ८। ८४। सवृत्ति

३. काव्यालकार—३। ११-१३।

४. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्वमनुत्तमम्।
उदात्त नाम तं प्राहरलंकार मनीषिणः॥ काव्यादर्श २। ३००।

५. काव्यालकार सार संग्रह। ४। ८।

के अङ्ग के रूप मे महापुरुषो के चरित्र-वर्णन करने मे उदात्त अलङ्कार होता है।[१]

रुय्यक पर मम्मट का ही प्रभाव है।[२] आचार्य सूरि एव अन्य सभी परवर्ती आचार्यो ने मम्मट को ही आधार बना कर उदात्तालकार का विवेचन किया।

महनीय चरित के अङ्गभूत वर्णन मे उदात्त का उदाहरण है—

'तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः।

यहॉ दण्डकारण्य के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए रामचरित का वर्णन किया गया।

रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित

'रसवत्', 'प्रेय', 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' वे अलङ्कार है जिन्हे क्रमशः 'रस', 'भाव', 'रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रशम' को अङ्गरूप से अवस्थान मे देखा जाया करता है। कहने का अभिप्राय है कि रसो, भावो, उनके आभासो और उनकी प्रशमावस्थाओ के वर्णन से रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार होते हैं। जिसमे अङ्गरूप से रस अवस्थित रहा करता है, वहॉ रसवत् अलङ्कार होगा। जहॉ भावों का वर्णन अङ्गरूप से हो वहॉ प्रेय होता है।

'ऊर्जस्वि' वह अलङ्कार है जिसमे अनौचित्य प्रवृत्त रस और भाव (रसाभाव और भावाभास) रूप ऊर्ज, अथवा नल विद्यमान रहा करता है।

'समाहित', जिसे किसी भाव के परिहार (भावशान्ति अथवा भाव की प्रशाम्यदवस्था) के अङ्गरूप से उपनिबन्ध मे देखा जाया करता है।

महोदधिकार के मतानुसार जहॉ गुणीभूत होने पर रस, भाव, भावाभास और भावशान्ति आदि की अंगरूप से स्थिति रहेगी वहाँ ये क्रमशः रसवद्, प्रेय, उर्जस्वि और समाहित नामक अलङ्कार कहलायेगे।[३]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि भी रस की प्रधानता होने पर रस ही मानते हैं, पर जहॉ वे गुणीभूत हो जाते है

---

१. उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महता चोपलक्षणम्।
उपलक्षणमङ्गभाव· अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे॥ काव्य प्रकाश।

२. समृद्धिवस्तुवर्णनमुदात्तम्।
स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम्।
तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तुवर्णनात्मन उदात्तस्यावसर·।
तत्रासंभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनोवर्णनं कवि प्रतिभोत्थपितयैश्वर्यलक्षणमुदात्तम्। अलंकार सर्वस्व पृ० २३०।

३. रसा भावास्तदाभासा भावशान्त्यादयोऽपि वा।
यत्रात्मानं गुणीकृत्य धारयन्त्यपराङ्गताम्॥
अलङ्काराः क्रमात् तस्मिन् अमी कैश्चिदुरीकृता.।
रसवत्-प्रेय, ऊर्जस्वि-समाहितपुर. सराः॥ अ० महो० ८। ८५-८६।

वहाँ रसादि अलङ्कार हो जाते है।[१]

प्राचीन आलङ्कारिको ने रस को अलकार्य न मान कर अलङ्कार स्वीकार किया अर्थात् उनके अनुसार रस रसवत् अलङ्कार ही है। भामह ने रसवदादि को विशुद्ध अलङ्कार की ही श्रेणी मे रखा है, उनके अनुसार जहाँ पर शृगारादि रस स्पष्ट रूप से दिखाये गये हो वही रसवद् अलङ्कार का विषय है।[२] इस प्रकार भामह ने अंगागिभाव की सर्वथा उपेक्षा कर रस को ही रसवद् अलकार नाम दिया है। भामह ने रसवदादि अलङ्कारों का कोई लक्षण न देकर, उदाहरण मात्र द्वारा ही उनका विवेचन किया है।

लक्षण सहित इन अलङ्कारो का निरूपण करने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य दण्डी को ही है। दण्डी के मतानुसार प्रियतर आख्यान प्रेयोऽलकार है, रसपेशल कथन ही रसवद् अलङ्कार है। रूढ़ाहकार ऊर्जस्वि अलङ्कार है[३] तथा किसी कार्य को करने के लिए उद्यत व्यक्ति को यदि दैववशात् उस कार्य को सिद्ध करने वाले अन्य साधन मिल जाये तो ऐसे स्थलो मे समाहित अलङ्कार होता है।[४]

भामह और दण्डी ने जिसे 'समाहित' कहा, उसे ही अर्वाचीन आचार्यो ने 'समाधि' नाम से अभिहित किया।

दण्डी की रसवद् परिभाषा तो केवल सकेत मात्र है, उदाहरण से ही उनके अभिमत का पता चलता है, जो रसवद् नही रस है। दण्डी यहाँ भामह के ही विचारो से अनुप्रेरित है।

उद्‌भट ने किंचित मौलिकता के साथ भामह का अनुगमन करते हुए अधिक व्यवस्थित लक्षण दिया। उनकी दृष्टि से रस रूप अलङ्कार से युक्त काव्य को 'रसवत्' कहेगे, रत्यादि भावो के सूचक अनुभावों से ग्रथित काव्य को 'प्रेयस्वत्' कहेगे[५] अनौचित्येन प्रवृत भाव या रस से युक्त बन्ध को 'ऊर्जस्वि कहते है,[६] रस, भाव तथा उसके आभास के प्रशय को 'समाहित' कहते है।[७] उद्‌भट का 'समाहित' विचार अपने पूर्ववर्ती भामह और दण्डी से एकदम भिन्न है।

---

१. स्वस्याङ्गित्वे रसाद्या स्युर्न तद् रसवदादय·।
यत्रैते तु गुणीभूतास्तत्र तानपि मन्महे॥ अ० महो० ३ । ६५ ।

२. रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसं यथा।
देवी समागमाद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता॥ काव्यालकार ३ । ६ ।

३. प्रेय. प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्ज़स्वि रूढ़ाहंकार युक्तोत्कर्ष च तत्त्रयम्॥ काव्यादर्श २ । २७५ ।

४ किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुन ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहु समाहितम्॥ काव्यादर्श। २ । २९८ ।

५. रत्यादिकानां भावनामनुभावादिसूचनैः। काव्यलंकार सार सग्रह ४ । २
यत्काव्य बध्यते सद्‌भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥
रसवद्दर्शितस्पष्टशृगारादिरसोदयम्। का० सा० स० ४ । ३ ।

६. अनौचित्यप्रवृत्ताना कामक्रोधादिकारणात्।
भावाना च रसाना च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥ का० सा० सं० ४ । ५ ।

७. रसाभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिशून्यरूप यत्तत्समाहितम्॥ का० सा० सं० ४ । ७ ।

प्राचीन आलङ्कारिको का रसादि अलङ्कारो का निरूपण ध्वनिकार से पृथक् है। रसवद् अलकार का सही स्वरूप तब सामने आया जब ध्वनि और रस का युक्तियुक्त विवेचन प्रस्तुत किया जाने लगा। अतः ध्वनिवादी की दृष्टि मे रसो की अलङ्कारता तभी मानी जा सकती है जब वे रसध्वनि अथवा किसी भी प्रधान वाक्यार्थ के अङ्ग के रूप से बन कर उस प्रधानवाक्यार्थ के उत्कर्षाधायक बने। इस लिये ध्वनिकार ने रसभावादि की भी गुणता मान कर उसकी अलङ्कारता स्वीकार की। इस प्रकार रसादि की गुणीभूतता को स्वीकार कर रसध्वनि तथा रसादि अलङ्कारो की उचित मर्यादाओ का निर्धारण कर अपना मौलिक मत सहृदयो के समक्ष प्रस्तुत किया।[१] भामहादि पूर्ववर्ती आलङ्कारिको को काव्य मे जो भी चारुत्व हेतु प्रतीत हुआ, उसे अलङ्कार नाम से अभिहित किया गया किन्तु ध्वनिकार की रसध्वनि मे तो अलङ्कार्यता होने के कारण चारुहेतुता अर्थात् अलङ्कारता नही हो सकती है। इस प्रकार ध्वनिकार के मतानुसार रस के गुणीभूत होने पर रसवद् अलङ्कार, भाव की गुणीभूत होने पर प्रेयोऽलंकार, रसाभास या भावाभास के गुणीभूत होने पर ऊर्जस्वि अलङ्कार, भावशान्ति के गुणीभूत होने पर समाहित अलङ्कार होगा।

आचार्य रुय्यक यद्यपि ध्वनिकारोत्तरवर्ती आचार्य है तथापि उन्होने रसादि अलङ्कार के विषय मे भामहादि प्राचीन आलङ्कारिको से ही अनुप्राणित हो केवल रसभावादि के निबन्धन को ही रसवत्प्रेयस् आदि अलङ्कार कहा है।[२] आचार्य रुय्यक ने ध्वनिवादियो के मत को भी उद्धृत कर, उदाहरण द्वारा उनके मत का पोषण किया है। तात्पर्य यह कि—ध्वनिकार से प्राचीन आचार्य ऐसे रसादिक को उदात्तालंकार का विषय मानते थे और प्रधान रसादिक मे रसवदादि अलङ्कार। क्योकि उनके सिद्धान्त मे काव्य के शोभाधायक, सभी वस्तुओं का गुणो और अलङ्कारों के अतिरिक्त कोई स्थान ही नही था। परन्तु जब आनन्दवर्धनाचार्य ने रसादिक को अलङ्कार नही किन्तु अलंकार्य सिद्ध कर दिया तब अङ्गभूत रसादिक रसवदादि हो गया।

अतः इन अलङ्कारो पर विचार करके सिद्धान्त रूप से रुय्यक कहते है कि जिस दर्शन मे वाक्यार्थीभूत प्रधान रूप मे आये हुये रसादिक रसवदादि अलङ्कार हैं, उनके यहाँ अङ्गभूत रसादि के विषय में रसवदादि अलङ्कार हैं और वाक्यार्थीभूत रसादिक तो रसादिध्वनि मे चले जाते हैं, वहाँ उदात्तालंकार का विषय नही बचता क्योंकि वह (हमारी दृष्टि में) रसवदादि से व्याप्त है।[३]

इस प्रकार आचार्य रुय्यक ने ध्वनिकार के मत का अनुसरण करते हुये भी वर्तमान रसवदादि अलङ्कारो की अलङ्कारो मे स्थापना की।

आचार्य सूरि ने रसवदादि अलङ्कारो को सिद्धान्त रूप मे स्वीकार नही किया है, यतः कुछ लोगों ने

---

१. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांग तु रसादय·।
काव्ये तस्मिन्नलकारो रसादिरिति में मति। ध्व० २। ५।

२ 'रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेनरसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि'। अ०स० पृ० २३२।

३ तत्र तस्मिन्दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकारा तत्राङ्गभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालङ्कारः।
यन्मते त्वङ्गभूते रसादिविषये रसवदाद्यलकारा, अन्यस्य रसादिध्वनिना व्यङ्ग्यत्वात्, तत्रोदात्तालंकारस्य विषयो नावशिष्यते, तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात्। अ०स० पृ० २३३।

प्रतिपादन किया है, अतः उन्होने भी रसवदादि का उल्लेख कर दिया है।[१] सम्भवतः रुय्यक से ही प्रभावित हो आचार्य सूरि ने रसवदादि अलङ्कारो का निरूपण किया तथा उदाहरण भी अलङ्कार सर्वस्व के ही दिये।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य सूरि ने ध्वन्यालोककार के मत का अनुसरण करते हुये भी रुय्यकादि के अनुसार रसवदादि अलङ्कारो का उल्लेख किया, यद्यपि उन्हे सिद्धान्त रूप से मान्य नही है।

आचार्य आनन्दवर्धन और मम्मटाचार्य ने प्राचीन आलङ्कारिको के मत का निराकरण किया। रसवादी आचार्यअलङ्कारवादियो की इस धारणा से किसी भी स्थिति मे सहमत नही है कि अंगीभूत रसादि को अलङ्कारो के अन्तर्गत माना जाये उनके मत मे रसादि अलङ्कार्य है न कि अलकार। अलङ्कार का कार्य है अलकार्य का चमत्कारोत्पादन यदि रसादि को ही अलकार मान लिया जाये तो फिर वह किसके चारुत्व को बढ़ाते हैं, भला कोई अपना चारुत्व हेतु हो सकता है।[२] अतः अलङ्कार तो अलकार्य से सदा भिन्न रहेगा।[३] आचार्य सूरि ने भी ध्वनि के प्रसङ्ग मे अलङ्कारवादी आचार्यो के मत का निराकरण किया है।[४]

आचार्य मम्मट ने रसवद् अलङ्कारो का विवेचन गुणीभूतव्यग्य पर विचार-विमर्श के मध्य किया है।[५]

संसृष्टि, सङ्कर

जब शब्दालकार और अर्थालंकार परस्पर मिले रहते हो तो वहॉ मिश्रालकार की स्थिति होती है। अलंकारों का मेल दो प्रकार से सम्भव है—संयोग रूप से, समवाय रूप से। संयोगरूप से तिल तण्डुल की भॉति संबंध होता है, जिस प्रकार तिल और चावल को आसानी से एक दूसरे से अलग किया जा सकता है उसी प्रकार तिलतण्डुल-न्याय से मिले हुये अलकारो को भी अलग किया जा सकता है। अलंकारो का दूसरा मिश्रण समवाय सम्बन्ध से क्षीरनीर-न्याय की भॉति होता है। जल और दूध की भॉति मिले हुये अलंकारो को पृथक् नही किया जा सकता, ये परस्पर सापेक्ष होते है।

तिलतण्डुल-न्याय से मिले हुये निरपेक्ष अलंकारो को 'संसृष्टि' एवं नीरक्षीर-न्याय से मिले, परस्पर सापेक्ष अलकारो को 'सङ्कर' कहते है।

संसृष्टि—ससृष्टि का अर्थ है संयोग या मेल। मेल से यहॉ अभिप्राय अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति से है। जहॉ तिलतण्डुल के अनुरूप दो या दो से अधिक शब्दालकार अथवा अर्थालकार स्वतंत्र रूप से मिले हों वहॉ संसृष्टि होती है। इसके तीन भेद है—शब्दालकार ससृष्टि, अर्थालंकार संसृष्टि और शब्दार्थालंकार संसृष्टि। अलंकार महोदधिकार ने भी संसृष्टि के विषय मे कहा कि जहॉ तिल-तण्डुल-न्याय से सम्पृक्त परस्पर निरपेक्ष या

---

१. अलंकार-महोदधि ८। ८५, ८६।

२. यत्र च रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम्।
अलङ्कारो हि चारुत्वहेतु प्रसिद्धि·। न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः। ध्व० २, ५।

३. भिन्नो रसाद्यलंकारादलकार्यतया स्थित·॥ का० प्र० ४। २६।

४ शब्दार्थसौन्दर्य तनोः काव्यस्यात्मा ध्वनिर्मत.।
तेनालङ्कार्य एवाय नालङ्कारत्वमर्हति॥ अ० म० ३। ६४।

५ प्रधानतया यत्रस्थितो रसादिस्तत्रालंकार्य—अन्यत्र तु प्रधाने
वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यग्ये रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि समाहितादयोऽलङ्कारा·। (का० प्र० ४। २६ वृत्ति)।

स्वतत्ररूप से अनेक अलकारो की एकत्र स्थिति हो, वहाँ ससृष्टि अलकार होता है।[१] जिस प्रकार सुवर्ण एव मणि की मिश्रित माला। एक विशेष ससृष्टि अलकार का उल्लेख सर्वप्रथम भामह के 'काव्यालकार' मे है, तत्पश्चात् सभी आचार्यो ने इसका निरूपण किया।

भामह के अनुसार अनेक अलकारो के योग से ससृष्टि अलकार बनता है जिस प्रकार अनेक रत्नो से मिलकर माला बनती है।[२]

दण्डी ने ससृष्टि के दो भेदो का निरूपण किया—गौण एव प्रधान। इसके अनुसार नानालकारो की एकत्र स्थिति मे ससृष्टि अलकार होता है।[३] उद्‌भट ससृष्टि अलकार वहाँ मानते है जहाँ दो या अनेक अलंकारो की निरपेक्ष रूप से एकत्र स्थिति हो।[४] उन्होने कई नवीन तथ्यो का विश्लेषण किया। जैसे—अलंकारो की निरपेक्ष स्थिति, उनकी एकत्र स्थिति तथा दो या बहुत अलकारो का एक ही आश्रय मे होना।

मम्मट ने उद्‌भट का अनुसरण करते हुये भी अपने विवेचन को अधिक पूर्ण एव परिष्कृत बनाया। इन्होने परस्पर निरपेक्ष अनेक अलकारो की एकत्र स्थिति मे ससृष्टि अलकार माना एव इसके तीन भेदो की कल्पना की।[५]

रूय्यक ने मम्मट का अनुसरण करते हुये भी, तिलतण्डुल-न्याय का निर्देश कर इसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया। इनके अनुसार तिलतण्डुल-न्याय से मिले हुये अलंकारो को संसृष्टि कहते है।[६]

परवर्ती आचार्यो ने रुय्यक के विचारो को मान्यता दी और ससृष्टि का स्वरूप व्यवस्थित हो गया।

शब्दालंकार संसृष्टि—जहाँ स्वतत्ररूप से कई शब्दालङ्कारो की एकत्र स्थिति है वहाँ शब्दालंकार संसृष्टि होती है।—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभ्रतशोभया।
वलितया विदधे कुलमेखलाकुलकुलोऽलकलोलदृशाऽन्यया॥

यहाँ अनुप्रास और यमक की संसृष्टि है।

अर्थालंकार संसृष्टि—

पिनष्टीव तरङ्गाग्रैरुदधिः फेनचन्दनम्
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः॥

यहाँ पर 'फेनचन्दनम्' और दिगङ्गना मे रूपकद्वय तथा 'पिनष्टीव', 'लिम्पतीव' मे उत्प्रेक्षाद्वय होने से

---

१. त एते यत्र सम्पृक्तास्तिल-तन्दुलवन्मिथ।
स्वातन्त्र्येणावतिष्ठन्ते ससृष्टि. साऽभिधीयिते॥ अलकार महोदधि ८। ८७।

२. वराविभूषा ससृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगत।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा॥ काव्यालकार ३। ४९।

३ नानालकारससृष्टिः ससृष्टिस्तु निगद्यते।
अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता॥
इत्यालंकारससृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गति.॥ काव्यादर्श २। ३५९, ३६०।

४. अलंकृतीना बह्वीना द्वयोर्वापि समाश्रय.।
एकत्र निरपेक्षाणा मिथः ससृष्टिरुच्यते॥ काव्यालकार सारसग्रह ६। ५।

५. सेष्टा संसृष्टिरेतेषा भेदेन यदिह स्थिति॥ काव्य प्रकाश १०/१३९।

६. एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्व ससृष्टिः। अलकार सर्वस्व, पृ० २४१।

अर्थालकारो की संसृष्टि है। इसी प्रकार जहाँ शब्दालकारो और अर्थालकारो की स्वतत्र रूप से स्थिति हो वहाँ शब्दार्थालकार ससष्टि होती है।

सङ्कर

सङ्कर शब्द का अर्थ है मिला हुआ। इसमे अनेक अलङ्कार इस प्रकार मिले हुये रहते हैं कि उनको पृथक् नही किया जा सकता। इसमे मिले हुये सभी अलकार परस्पर सापेक्ष रहते है, वे दूध और पानी की तरह परस्पर मिले रहते है। जिस प्रकार दूध और पानी को अलग नही किया जा सकता उसी प्रकार यहाँ अलङ्कारो का पृथक्करण असम्भव होता है। इस प्राकर नीर-क्षीर न्याय से परस्पर मिल हुये अलकारो को सङ्कर कहते हैं।

दो या अधिक अलङ्कारो की परस्परसापेक्ष भाव से स्थिति तीन प्रकार से सम्भव होती है—अतः इसके तीन भेद हो सकते है—अगांगिभावसङ्कर, सन्देहसकर, एकपदप्रतिपाद्यसङ्कर। जहाँ दो या अधिक अलङ्कारो की इतरानपेक्षभाव से स्वरूप ही निष्पन्न नही होता तथा उनका परस्पर अनुग्राह्यानुग्राहक भाव होता है, वहाँ अङ्गाङ्गिभावसङ्कर है। जहाँ पर यह निश्चय कर पाना असभव हो कि कौन-सा अलंकार है वहाँ सदेह संकर की स्थिति होती है। जहाँ एक पदरूप आश्रय मे विभिन्न रूप के विविध अलकार अनुप्रविष्ट हों वहां एक पदप्रतिपाद्यसकट की स्थिति होती है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने आचार्य रुय्यक के मत का अनुमोदन करते हुये कहा कि जहाँ समवायरूप से नीर-क्षीर न्याय से परस्पर मिश्रित अलकारो की स्थिति हो वहाँ सङ्कर अलकार होता है।[१] तथा इसके पूर्व स्वीकृत तीन भेदो का भी उल्लेख किया।

अलंकार महोदधिकार का सङ्कर विवेचन अलकार सर्वस्व के संकर निरूपण का ही मण्डन है।

इस अलंकार का सर्वप्रथम निरूपण आचार्य उद्भट ने किया। उन्होंने इसकी परिभाषा न देकर इसके चार भेदो का ही वर्णन किया जिससे इसके स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है।[२]

भोज ने इसकी गणना स्वतत्र अलकारो के अन्तर्गत नही की।

अर्वाचीन आचार्यो के लिये आधारभूत मम्मट की परिभाषा से इस अलकार का स्वरूप स्थिर हो गया। मम्मट ने इसके तीन भेदो का निरूपण करते हुये, भिन्न-भिन्न अलकारो की अग-अगीभाव से स्थिति को सकर कहा।[३]

रूय्यक ने नीर-क्षीर की भाँति परस्पर मिले हुये अलंकारो को सकर कहा तथा मम्मट द्वारा स्वीकृत तीनो

---

१. स्वीकृत्य समवायाख्य सम्बन्ध क्षीर-नीरवत्।
ससृज्यन्ते पुनर्यस्मिन् केऽप्यमी सैष सङ्कर॥
तेषामङ्गाङ्गिभावेन सशयानुमेन वा।
एकस्मिन् वाचके वाऽनुप्रवेशेन स च त्रिधा॥ अलंकार महोदधि। ८। ८८, ८९।

२. काव्यालकारसार संग्रह। ५। ११। १२, १३।

३. अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गङ्गित्वा तु संकर। काव्यप्रकाश १०/१४०

भेदो का सोदाहरण वर्णन किया।[1] सकर अलंकार के तीसरे भेद के विषय मे आचार्य मम्मट और रुय्यक का विचार भिन्न-भिन्न है, मगर आचार्य सूरि ने दोनो के ही मत को स्वीकार कर, अपने ग्रन्थ मे सोदाहरण उनका वर्णन किया।

काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'एकवाचाकानुप्रवेश' सकर शब्दालकार और अर्थालकार का सङ्कर हुआ करता है।[2] यथा—

स्पष्टोल्लसत् किरणकेसरसूर्यबिम्बं-विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम्।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच॥

यहॉ रूपक और अनुप्रास दोनो के एक ही आश्रय मे स्थित होने से एकानुप्रवेश सङ्कर हुआ।

मगर मम्मट की यह मान्यता रुय्यक को मान्य नही। अलकार सर्वस्वकार ने 'एकवाचकानुप्रवेशरूप सङ्कर' मे शब्दालंकार और अर्थालकार की सकीर्णता स्वीकार की है।[3] उदाहरणार्थ—

'मुरारिर्निर्गता नूनं नरकप्रतिपन्थिनी।
तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति॥

यहॉ पर 'एकानुप्रवेशसङ्कर' का वैचित्र्य स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

महोदधिकार ने दोनो ही मान्यताओ को स्वीकार कर इन्ही उदाहरणो के साथ, इनका विवेचन अपने ग्रन्थ मे किया है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा प्रतिपादित अलकारो पर प्रमुख रूप से मम्मट का प्रभूत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, परन्तु कुछ अलंकारो पर रुय्यक और भोज का भी विशेष प्रभाव है यथा परिणाम, उल्लेख, विचित्र, विकल्प और रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि और समाहित अलकारो का ग्रहण अलकार सर्वस्व से किया है, इनकी परिभाषाएँ तो साम्य रखती ही है, उदाहरण भी रुय्यकादि से ही उद्धृत है।

अर्थापत्ति अलकार को सर्वप्रथम भोज ने स्वीकार किया, परन्तु यहॉ पर भी रुय्यक का ही अनुसरण किया गया है।

इतना तो निश्चित ही है। कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने किसी नवीन अलकार की उद्भावना नही की तथा मम्मट और रुय्यक के आधार पर ही अलकारो का स्वरूप-निर्धारण किया।

आचार्य मम्मट की प्रवृत्ति अलकार-स्वरूप के निर्धारण मे सक्षेपीकरण की रही है और आचार्य सूरि की

---

१. नीर-क्षीरन्यायेन तु सङ्कर। मिश्रत्व इत्येव। अनुत्कटभेदत्व च सकर। तच्च मिश्रत्वभङ्गाङ्गिभावेनसशयेन एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत् सकरत्रिभेदमुत्थापयति। अलकार सर्वस्व पृ० २४८

२. स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालकृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च।
अभिन्ने एव पदे स्फुटतया यदुभावपि शब्दार्थालकारो व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्य परः सङ्करः। काव्यप्रकाश

३ तृतीयस्तुप्रकारका एकवाचकानुप्रवेशलक्षण.। यत्रैकस्मिन् वाचकेऽनेकालंकारानुप्रवेश, न च सदेहः। अलं० सर्व०

विस्तार करने की। अभिप्राय यह है कि आचार्य मम्मट अति सक्षिप्त सूत्र मे ही अपनी बात को पूरी तरह से प्रस्तुत करने मे समर्थ रहे है, वही आचार्य सूरि उन्ही तथ्यो को थोड़ा सरलीकृत करते हुये सम्पूर्ण वाक्य मे कहते है। वस्तुत: अलकार-विषयक मान्यताओ के निर्धारण मे दोनो मे पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है।

मम्मट के अलकार निरूपण पर पूर्वाचार्यो का, विशेष रूप से रुद्रट का प्रभाव होते हुये भी, सर्वथा मौलिक विचारधाराओ और नवीन तथ्यो के दर्शन सहजता से होते है जबकि आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि, अलकार निरूपण के विषय मे, भोज, मम्मट और रुय्यक के ऋणी है। मम्मट की कल्पना-शैली अधिक उर्वर कही जा सकती है। मम्मट का सम्पूर्ण ग्रन्थ ही भारतीय काव्यचिन्तन का प्रकाशस्तम्भ है अत· उसके प्रकाश के सम्पर्क मे आये बिना आचार्य सूरि अपना ग्रन्थ कैसे पूर्ण कर सकते है। काव्यप्रकाश अपनी प्रौढ़ता, मौलिक चिन्तन-पद्धति तथा भारतीय काव्यचिन्तन के मूलभूत सिद्धान्त के रूप मे विद्वज्जनो के द्वारा शताब्दियो से समादरणीय रहा है। तो फिर आचार्य सूरि उसके प्रभाव से कैसे वचित रह सकते थे।

अलङ्कार दोष समीक्षा

इन अलकारो के कुछ दोष भी हो सकते है। अलकार महोदधिकार शब्दालकारो और अर्थालंकार का निरूपण करने के पश्चात् कतिपय अलंकार दोषो का भी वर्णन आचार्य मम्मट के अनुसार ही करते है।[१]

आचार्य मम्मट ने भी अलकारो के विवेचन के बाद अलकार दोषो का वर्णन किया।

विद्वानो का ऐसा मत है कि अलकार दोष प्रकरण को काव्यप्रकाशकार ने मुख्यत· वामन के मत का खण्डन करने के लिये प्रारम्भ किया। वामन ने अपने 'काव्यालकारसूत्र' मे अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारो के अनेक दोष दिखलाये है। इस विषय मे मम्मट का सिद्धान्तमत यह है कि जिन दोषो की गणना सप्तमउल्लास मे की जा चुकी है उनसे भिन्न अलंकार के अन्य दोष नही हो सकते। अलकार मे जो दोष होते हैं उनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषो मे ही हो जाता है।[२]

काव्यप्रकाशकार उन दोषो की सत्ता तो मानते है फिर भी उनका मत है कि उनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषप्रकरण मे ही हो जाने से, उनका अलग प्रतिपादन करने की आवश्यकता नही। अत: इस ग्रन्थ मे उनका प्रतिपादन न होने से ग्रन्थ मे अपूर्णता दोष नहीं समझना चाहिये। यही ग्रन्थकार का भी आशय है। आगे उदाहरणों द्वारा इसी बात को स्पष्ट किया है। यहॉ पर आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मटाचार्य के विचारो से पूर्णतया प्रभावित हैं।

अनुप्रास दोष

अलंकार दोपो के अन्तर्गत सर्वप्रथम अनुप्रास दोषो का वर्णन किया गया। अनुप्रास के प्रसिद्ध्यभाव,

---

१. लक्षिता इत्यलङ्कारा. काव्यसौन्दर्यहेतव।
दोषास्तेषामिदानी तु काश्चिदप्यभिदध्महे। अ० म० ८/९०

२. एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन॥
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिता॥ का० प्र० १०/१४२

वैफल्य और वृत्ति विरोध नामक तीन दोषो का वर्णन किया।[१] मम्मट ने इन तीन दोषो को क्रमशः प्रसिद्धिविरुद्ध अपुष्टार्थात्व और प्रतिकूलवर्णता नामक दोषो के अतिरिक्त और कुछ नही माना, क्योकि ये भी स्वरूपतः उनसे अलग नही है।[२]

प्रसिद्ध्य भाव—

"चक्री चक्रारपंक्तिं हरिरपि च हरीन् धूर्जटिर्धूर्ध्वजान्ता-
नक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः।
रंहः सङ्घः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात्स्यन्दनोवः॥

यहाँ स्तुतिकर्ता और स्तुतिकर्म मे से प्रत्येक की नियत स्तुति का वर्णन अनुप्रास के अनुरोध से ही किया गया है। इस प्रकार की नियत स्तुति पुराण या इतिहास आदि में प्रसिद्ध नही है अतः यह 'अनुप्रास दोष', 'प्रसिद्धि विरुद्ध' दोष ही है।

वैफल्य दोष—

"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातिताराम्बुच्छटा
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्ष विहतस्नानाह्निकाऽह्नाम वः।
भिद्यादुद्यदुदारदु (द) र्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम
द्रा (द्रो) हो द्रेकमयो ममेन्दु (होर्मिमेदु) रमदा मन्दाकिनी मन्दताम्"॥

यहाँ जो वाच्यार्थ है उसमें विचार करने पर कुछ भी चारुता प्रतीत नहीं होती है। इसलिये अनुप्रास का वैफल्य नामक अपुप्रास दोष अनुष्टार्थता ही है। ऐसा मम्मट का मानना है।

अभिप्राय यह है कि अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी परम्परया अर्थ और रस के उपकारक होते हैं किन्तु प्रस्तुत पद मे अनुप्रास अलकार केवल शब्द-सौन्दर्य को ही बढ़ाता है। वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ आदि का कोई उपकार नही करता है। अतएव अर्थ का परिपोषक न होने के कारण अनुप्रास-वैफल्य नामक अलङ्कार दोष है। जो कि 'अपुष्टार्थता' नामक दोष से भिन्न नही है।

वृत्ति विरोध—

"अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णयाकण्ठं कलकण्ठि ! माम्।
कम्बुकण्ठ्याः। क्षणे कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर"॥

यह शृंगारविषयक पद्य है। यहाँ माधुर्यव्यञ्जक वर्णो वाली उपनागरिका वृत्ति होनी चाहिये थी परन्तु कवि ने ओजगुण व्यञ्जक कठोर वर्ण वाली परुषावृत्ति का आश्रय लिया है। अतः यहाँ वृत्तिविरोध नामक अनुप्रासदोष

---

१. प्रसिद्ध्यभावो वैफल्य तथा वृत्तिविरुद्धता।
एतेऽनुप्रासमाश्रित्य दोषाः सङ्कीर्तितास्त्रयः॥ अ० म० ८/९१

२. अनुप्रासस्य (१) प्रसिद्ध्यभावो (२) वैफल्य (३) वृत्तिविरोध इति ये त्रयो दोषा ते प्रसिद्धिविरुद्धताम् अपुष्टार्थत्वं प्रतिकूलवर्णता च। का०प्र० पृ० ५६८।

है। आचार्य मम्मट का कथन है कि शृगार रस के प्रतिकूल वर्णो का प्रयोग किया गया है, अत यहाँ प्रतिकूलवर्णता नामक दोष ही है तथा वृत्ति विरोध नामक अनुप्रास दोष इससे भिन्न नही है।

अनुप्रास दोष के पश्चात् यमक-दोष का निरूपण किया।[१] मम्मट ने इसे अप्रयुक्तत्वदोष ही माना।[२] उदाहरणार्थ—

भुजङ्गमस्येव मणि: सदम्भा ग्राहावकीर्णेव नदी सदम्भा: ।
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तो: कर्षन्ति चेत: प्रमुखै: सदम्भा ।।

यहाँ तीन चरणो मे यमक रखा गया है, किन्तु एक, दो या चार चरणो मे यमक रखना ही कविसम्प्रदाय सिद्ध है, तीन चरणो मे नही अत: यहाँ दोष है जिसे मम्मट ने अप्रयुक्तत्व दोष के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है।

यमक दोष के निरूपण के अनन्तर उपमा दोषो का सविस्तार वर्णन अलकार महोदधिकार ने किया।[३]

उपमा मे उपमान की जाति या प्रमाण-विषयक न्यूनता या अधिकतारूप उपमादोष तथा साधारण धर्म-विषयक न्यूनता और अधिकता रूप उपमा दोष।[४]

(१) **उपमान की जातिगत न्यूनता**—चण्डालैरिव युष्माभि साहस परमकृतम्।

'चण्डालो के समान तुम लोगो ने बड़ा साहस किया।' यहाँ चण्डालरूप उपमान की जातिगत न्यूनता के कारण उपमेय की निन्दा प्रतीत हो रही है।

(२) **उपमान की प्रमाणगतन्यूनता**—'वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरय चकास्ति।

यह सूर्य अग्नि की चिनगारी के समान चमकता है।

'यहाँ सहस्ररश्मियो वाले भगवान भास्कर का उपमान स्फुलिग है वह परिमाण मे न्यून है अत: उपमेय की निन्दा प्रतीत होती है।

इसी प्रकार उपमान की जातिगत और प्रमाणगत अधिकता रूप दोषो का सोदाहरण विवेचन किया।

मम्मट ने इन दोषो का अन्तर्भाव अनुचितार्थता नामक काव्यदोषो के अन्तर्गत ही किया है।

साधारणधर्म की न्यूनता और अधिकता रूप उपमा दोषो का भी सोदाहरण वर्णन आचार्य सूरि ने किया जिन्हे मम्मट ने 'हीनपदत्व' और 'अधिकपदत्व' दोष से भिन्न नही माना।

अलङ्कार-महोदधिकार ने उपमान की जातिगत, प्रमाणगत और साधारण धर्मगत न्यूनता और अधिकता रूप उपमा दोषो के पश्चात् उपमान और उपमेय का भिन्नलिगत्व और भिन्नवचनत्वदोष रूप उपमादोषो का सोदाहरण

---

१ पादत्रयगतत्वेन यमक न प्रयुज्यते। अ०म० ८।९२।

२. यमकस्य पादत्रयगत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोष। का०प्र० पृ० ५६९।

३ अथेदमुपमादोषजातं किमपि कथ्यते। अ०म० ८।९२।

४ जातिप्रमाणयोर्न्यूनाधिकत्वमुपमानगम्।
धर्माश्रितोऽधिकन्यूनभावोऽप्यस्या न सम्मत·। अ०म० ८।९३।

वर्णन किया।'[१]

प्राचीन आलङ्कारिको ने भिन्नलिगत्व और 'भिन्नवचनत्व' नामक उपमा के 'दोषद्वय' का वर्णन किया है। अभिप्राय यह है कि जहॉ उपमान एव उपमेय दोनो भिन्न-भिन्न लिङ्गो या वचनो मे होते है तथा साधारण धर्म वाचक पद किसी एक के लिग या वचन का अनुसरण करता है, वहॉ उसका केवल एक के साथ अन्वय हो सकता है, दोनो के साथ नही, क्योकि सामनलिङ्ग वचन वाले शब्दो का ही विशेष्य-विशेषण भाव से अन्वय हुआ करता है, कोई वस्तु साधारण धर्म से विशिष्ट उपमान या उपमेयरूपता को प्राप्त होती है। अत साधारण धर्म का उपमान या उपमेय दोनो के साथ अन्वय न होने के कारण उपमा कैसे बन सकेगी ? यदि साधारण धर्म का एक अर्थात् उपमान या उपमेय मे साक्षात् अन्वय हो जाने से तथा दूसरे के साथ प्रतीयमान सम्बन्ध होने से उपमा निर्वाह माना जाये तो उचित नही, क्योकि इस प्रकार अविलम्बेन उपमा-प्रतीति न होगी। इस प्रकार भिन्नलिङ्गता और भिन्नवचनता को भोजराज ने उपमा दोष माना है, भोजराज से ही प्रभावित हो आचार्य सूरि ने भी इन्हे उपमा दोष स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट की मान्यता है कि इन दोषो का 'भग्नप्रक्रम' नामक दोष मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। काव्यप्रकाशकार का इस विषय मे यह मत है कि जहॉ उपमान-उपमेय के लिगभेद अथवा वचनभेद के कारण साधारण धर्म मे भी लिङ्ग या वचनभेद रूप अन्तर आ जाता है, वही वे दोषाधायक होते हैं और इस दशा मे भी उनको अलग दोष न मानकर 'भग्न प्रक्रम' दोष के अन्तर्गत ही मानना चाहिए।[२]

कही लिङ्ग एवं वचन मे भेद होने पर भी साधारण धर्म के वाचक पद के स्वरूप मे परिवर्तन नही होता है वहॉ साधारण धर्मवाचक पद का उपमान और उपमेय दोनो के साथ अन्वय हो सकता है अत: यहॉ लिङ्ग या वचन भेद रूप दोष नही माना जायेगा। यथा—

तद्वेषः सदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव॥

यहॉ 'तद्वेष:' यह उपमेयवाचक एक वचनान्त तथा विभ्रमाः उपमानवाचक पद बहुवचनान्त है। 'असदृशः', 'मधुरताभृतः' और 'दधते' ये तीनो साधारण धर्म के वाचक है, इन तीनो पदो के एकवचन तथा बहुवचन दोनों मे ही एक से रूप बनते है, अत. इनका अन्वय दोनो के साथ हो सकता है। अत. उपमान-उपमेय मे वचनभेद होने पर भी साधारण भेद वाचक पदो के स्वरूप मे कोई परिवर्तन न होने से यहॉ कोई दोष नही आता है।

इनके अतिरिक्त उपमा मे असादृश्य तथा असम्भव को भी उपमा दोष माना जाता है।[३] यथा—

---

१ दूषयत्युपमा भेदो लिङ्गस्य वचनस्य च।
यदि साधारण धर्ममन्यरूपं करोत्ययम्॥ अलकार-महोदधि ८। ९४।

२ लिङ्गवचनभेदोऽपिउपमानोपमेययो साधारण चेत् धर्ममन्यरूपं कुर्यात्तदा एकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगते सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्व वा प्रतीयमानेन धर्मेण प्रतीयते इति प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम्। का० प्र० पृ० ५७२।

३ भजतोऽस्यामत्सादृश्यासम्भवावपि नेष्टताम्। अलंकार-महोदधि ८। ९५।

"ग्रथ्नामि काव्य शशिनं विततार्थरश्मिम्।"

इसमे काव्य का चन्द्रमा के साथ और अर्थो का रश्मियो के साथ सादृश्य काव्य-शास्त्र आदि मे अन्यत्र कही नही मिलता है, अत. यहॉ पर उपमा दोष माना जायगा।

आचार्य मम्मट ने उपमा मे असादृश्य और असम्भवत्व दोषो को भी पूर्वोक्त 'अनुचितार्थता' दोष मे अन्तर्भाव किया है।[१]

उपमा मे असम्भवत्व रूप दोष है। यथा—

"निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात्"॥

यहॉ भी जलती हुई पानी की धाराये सूर्य-मण्डल से गिरती हुई सम्भव नही है, अत· उपमानरूप मे वर्णित यह अर्थ उपमा मे असम्भव दोष रूप है।

इसके पश्चात् आचार्य सूरि ने काल-भेद, पुरुष-भेद, विध्यादि-भेद को उपमा दोषो के अन्तर्गत ही माना है।[२] जिन्हे काव्यप्रकाशकार ने 'भग्नप्रक्रमता' दोषो मे ही अन्तर्भूत कर दिया है।[३]

उपमा दोषो के अनन्तर उत्प्रेक्षादोषो का निरूपण किया गया है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार मे 'ध्रुव', 'इव' आदि शब्द ही उत्प्रेक्षण को प्रकट करने मे समर्थ है, न कि 'यथा' शब्द भी क्योकि केवल 'यथा' साधर्म्य के प्रतिपादन करने में समर्थ है और उस साधर्म्य की उत्प्रेक्षा मे विवक्षा नही होती है इस प्रकार सम्भावना को प्रकट करने मे 'यथा' शब्द समर्थ नही है।[४]

इसको मम्मट ने 'अवाचकत्व' दोष के अन्तर्गत ही माना है। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार मे उत्प्रेक्षित अर्थ भी वास्तविक रूप से हीन होने के कारण आकाश-कुसुम आदि के समान असत् जैसा ही होता है।

उसके समर्थन के लिए जो कही अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का आश्रय लिया जाता है, वह आकाश में बनाये चित्र के समान असगत है। इस प्रकार इस 'निर्विषयत्व' दोष को मम्मट ने अनुचितार्थत्व-दोष माना है।[५]

अब आगे समासोक्ति दोषो की विवेचना की गयी है। सदृश विशेषणो के आधार पर ही समासोक्ति अलङ्कार अनुक्त उपमान विशेष को प्रकट कर देता है। इसलिये यहॉ उपमान विशेष का अलग से ग्रहण करने

---

१. असादृश्यासम्भवावप्युपमायानुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः। काव्यप्रकाश पृ० ५७८।

२. शक्य. कालादिभेदस्तु परिहर्तुं न कैश्चन। अ०म० ८। ९५।

३. कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः। का०प्र० पृ० ५७४।

४. नोत्प्रेक्षां क्षमते वक्तुं यथाशब्द इवादिवत्।
ताम् समर्थयितु नार्थान्तरन्यासोऽपि युज्यते॥ अलकार-महोदधि ८। ९६।

५. उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरूपाख्यप्रख्य तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादान तत् अलेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तसमीचीनमिति निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थतैव दोषः। का०प्र० ५८०।

मे कोई प्रयोजन न होने से समासोक्ति दोष है।[१] उदाहरणार्थ—

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया॥

भाव यह है कि यहाँ शिलष्ट विशेषणो के सामर्थ्य से ही ग्रीष्म-दिवस-शोभा की प्रतिनायिका के रूप मे प्रतीति हो सकती है अतः 'दयितेव' यह पद व्यर्थ है और प्राचीन आलङ्कारिको के मतानुसार इस समासोक्ति मे 'अनुपादेयत्व' दोष है। काव्यप्रकाशकार्य की स्थापना है कि इसका 'अपुष्टार्थत्व' नामक दोष मे अन्तर्भाव हो जाता है।[२]

अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार मे भी साधारण विशेषणो के द्वारा ही अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो जाती है। वहाँ प्रस्तुत का शब्द द्वारा उपादान करने पर 'अनुपादयेत्व-दोष' हो जाता है। उदाहरणार्थ—

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्येवायुरिवाविशस्तृणमपिधत्ते मणीनां धुरम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥

यहाँ पर अप्रस्तुत जो विशेषणयुक्त 'सामान्य' है। विवेकशून्य प्रभु की प्रतीति हो जाती है, अतः उसका पुनः शब्द के द्वारा कथन अनुचित है।

इस प्रकार अलङ्कार-महोदधिकार ने पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य अलंकार दोषों का विवेचन किया यद्यपि इनका विवेचन मम्मट पर ही आधारित है पर इन्होने मम्मट के समान कही भी उल्लेख नही किया है कि इन अलंकार दोषो का अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषों के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए। अतः इस प्रकरण में आचार्य सूरि-भोज आदि के ही ज्यादा निकट हैं।

□□□

---

१. तुल्यैर्विशेषणैरेव प्रतीतपथचुम्बिनः।
प्रयोगश्चोपमानस्य समासो (क्तौ) न साम्प्रतम्॥ अ० म० ८। ९७।

२. साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमपि उपमान विशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्व यत् तत् अपुष्ठार्थत्वं पुनरुक्त वा दोषः। का० प्र० ५८०।

सहायक ग्रन्थ सूची तथा संक्षिप्त संकेत

(हिन्दी) अभिनव भारती : (अ० भा०) अभिनव गुप्त, भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर, प्र०—हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्व० १९७३

अभिधावृत्तिमातृका : (अ० वृ० मा०) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९१६

अग्निपुराण : (कलकत्ता)

अमरकोष : सपा०—प० हरगोविन्द शास्त्री, प्रका० चौखम्बा सस्कृत सीरिज़ आफिस, वाराणसी, १९७०

अलंकार महोदधि (अ० महौ०) नरेन्द्रप्रभसूरि कृत प्रका०-गायकवाड-ओरियन्टल सीरीज़ १९४२

अलंकार मीमांसा : डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, मोती लाल बनारसी दास, १९६५

अलंकार सर्वस्व : (अ० स०) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३९

अलंकार शास्त्र की परम्परा : डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', चौखम्बा प्रकाशन, १९७०

अलंकारानुशील : डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा' प्र० संस्कृत सिरीज़ आफिस, वाराणसी १९६७

अलंकारों का ऐतिहासिक विकास : भरत से पद्माकर तक : डॉ० राजवंश सहाय हीरा

अलंकारो का क्रमिक विकास : पं० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी, १९६७

अलंकार रत्नाकर : शोभाकर कृत

आनन्दवर्धन : डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, प्रका० मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७२

काव्यप्रकाश (का०प्र०) मम्मट, व्या० झलकीकार वामन भट्ट, प्रका० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०१

काव्य प्रकाश : मम्मट व्या० आचार्य विश्वेश्वर, प्रका० ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०

काव्यादर्श : दण्डि विरचित (चौ० सं० सि०)

काव्यादर्श : दण्डि विरचित, अनु० व्रज रत्नदास, प्र० श्री कमलमणि ग्रन्थमाला कार्यालय, बुलानाला, काशी, १९८८।

काव्यमीमांसा, राजशेखर विरचित (गायकवाड ओरियण्टल सिरीज़)

काव्यानुशासन (काव्यानु०) हेमचन्द्र विरचित, स—महामहोपाध्याय प० शिवदत्त शर्मा, काशी नाथ पाण्डुरंग, प्रका० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

काव्यानुशासन : हेमचन्द्र विरचित, महावीर जैन विद्यालय १९३८

काव्यानुशासन : वाग्भट विरचित (काव्यमाला १९१५)

काव्यालंकार : भामहकृत, भाष्यकार—देवेन्द्र नाथ शर्मा, प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६२

काव्यालंकार सार सग्रह · भावदेवसूरि कृत अलकार महोदधि ग्रन्थ के अन्त मे प्रकाशित।

काव्यालंकार : रुद्रट विरचित, (काव्यमाला (१९२८)

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (का० सू० वृ०) वामन कृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

(हिन्दी) काव्यालंकारसूत्रवृत्ति · वामन, व्या० आ० विश्वेश्वर, स०—डॉ० नगेन्द्र, प्र० आत्म राम एण्ड सस दिल्ली—६ १९६५

जिनरत्नकोश : हरिदामोदर वेलणकर, प्र०—भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट पूना, १९४४ ई०

जैनाचार्यों का अलंकार शास्त्र मे योगदान : लेखक डॉ० के० के० जैन, प्र० : पार्श्व नाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी—५ १९६९

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग—५ : प० अम्बालाल प्रे० शाह, प्रका० पी० एन० विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी—५ १९६९

जैन साहित्य का बृहद् इति० भाग—६ : डॉ० गुलाब चन्द्र चौधरी, प्र० पी० एन० वि० शोध सस्थान वाराणसी—५ १९७३

जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, प्र०—यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी, बम्बई, १९५६

जैन ग्रन्थावलि : प्रका० श्री जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स, बम्बई

जैन धर्म का मौलिक इति० भाग—२ आ० श्री हस्तीमल जी महाराजा, प्र० जैन इतिहास समिति जयपुर।

जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास : मोहन लाल दलीचन्द्र देसाई, प्रका०—श्री जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स, बम्बई, १९३३

दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन : लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद १९६८

(हिन्दी) ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन कृत, लोचन टीका सहित, प्रथम उद्योत, व्या० डॉ० राम सागर त्रिपाठी, प्र०—मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी १९६३

ध्वन्यालोक (ध्व०) लोचन सहित (चौ० स० सि०) १९४०

(हिन्दी) ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, प्र०—गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५२

ध्वन्यालोक : प्रथम, द्वितीय भाग : के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता।

ध्वनि सिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यतायें, डॉ० सुरेश चन्द पाण्डेय, प्रका० वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद १९७२

भारतीय साहित्य शास्त्र—जी० टी० देशपाण्डे, प्रका० पापुलर बुक डिपो, बम्बई—१९६०

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त : डॉ० सुरेश अग्रवाल, प्रका० अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली

भारतीय साहित्य शास्त्र कोश : डॉ० राजवश सहाय 'हीरा'—प्रका० बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना १९७३

बाल प्रिया (बा० प्रि०) लोचन टीका (चौ० सं० सि०)

महाकाव्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और सस्कृत साहित्य में उनकी देन : डॉ० भोगीलाल साँडेसरा,

प्रकाशक—दलसुख मालवणिया, वाराणसी १९५९

रसतरगिणी ; भानुदत्त विरचित, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई

रस सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, प्र० नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली—द्वितीय सस्करण १९३९

रस गगाधर . काव्यमाला (र० गं०)

शब्द व्यापार विचार . मम्मट कृत (काव्यमाला)

सस्कृत आलोलना, आ० बलदेव उपाध्याय।

सस्कृत शास्त्रो का इतिहास : आ० बलदेव उपाध्याय प्र० शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६९

संस्कृत साहित्य का इतिहास · ए० बी० कीथ, अनु० मगलदेवशास्त्री, प्र० मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी १९६०

सरस्वती कण्ठाभरण—भोज कृत व्या० डॉ० कामेश्वर नाथ मित्र प्र०—चौखम्बा आरियण्टालिया, वाराणसी, १९७६

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ विरचित व्या० डॉ० सत्यव्रत सिह, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

सस्कृत हिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे, प्रका० मो० ला० बनारसीदास, वाराणसी १९६६

English

Abhinavagupta—An Historical and Phılosophical Study, by Dr. K.C. Pandey (C.S.S. 11 Ed. 1963)

History of Sanskrıt Poetics by S.K. De. (11 Ed. 1960)

Hıstory of Indian Lıterature by Wınternitz)

History of Sanskrit Poetıcs by P.V. Kana (Motı Lal B. 1961)

A History of Sanskrıt Lıterature by A. B. Keith

Number of Rasas by Dr. V. Raghvan (Adyar Library)

□□□